प्रकाशक :
श्रीवल्लभपीठ
३/४ अंबेकृपा सो.
झवेर रोड, मुलुन्ड (वे)
बम्बई - ४०० ०८०.

प्र. स. : वि. स. २०५२
प्रति - १०००

मुद्रक : आसमान प्रिन्टर्स
रामनाराण नारकर मार्ग,
बिल्डींग नं. १२८ के सामने,
पंतनगर, घाटकोपर- (पूर्व),
मुंबई - ४०० ०७५.
फोन. : ५१२ ३० ८८

श्रीमद्विठ्ठलेशप्रभुचरणप्रणीताः

सर्वमूलग्रन्थाः

सहजस्मितवदनं रतिपतिमानहरं ।
जानकीवल्लभं सदा श्रीगोपीनाथमाश्रये ॥
यत्कीर्त्यधावल्याचयैस्त्रिलोकी विभाति रात्रिन्दिनमेव शश्वत् ।
दोषास्वसर्वासु कियत्प्रकाशीचन्द्रः कलंकी तुलयेत्कथंतत् ॥

श्रीगुरूचरणकमलेभ्यो नमः ॥

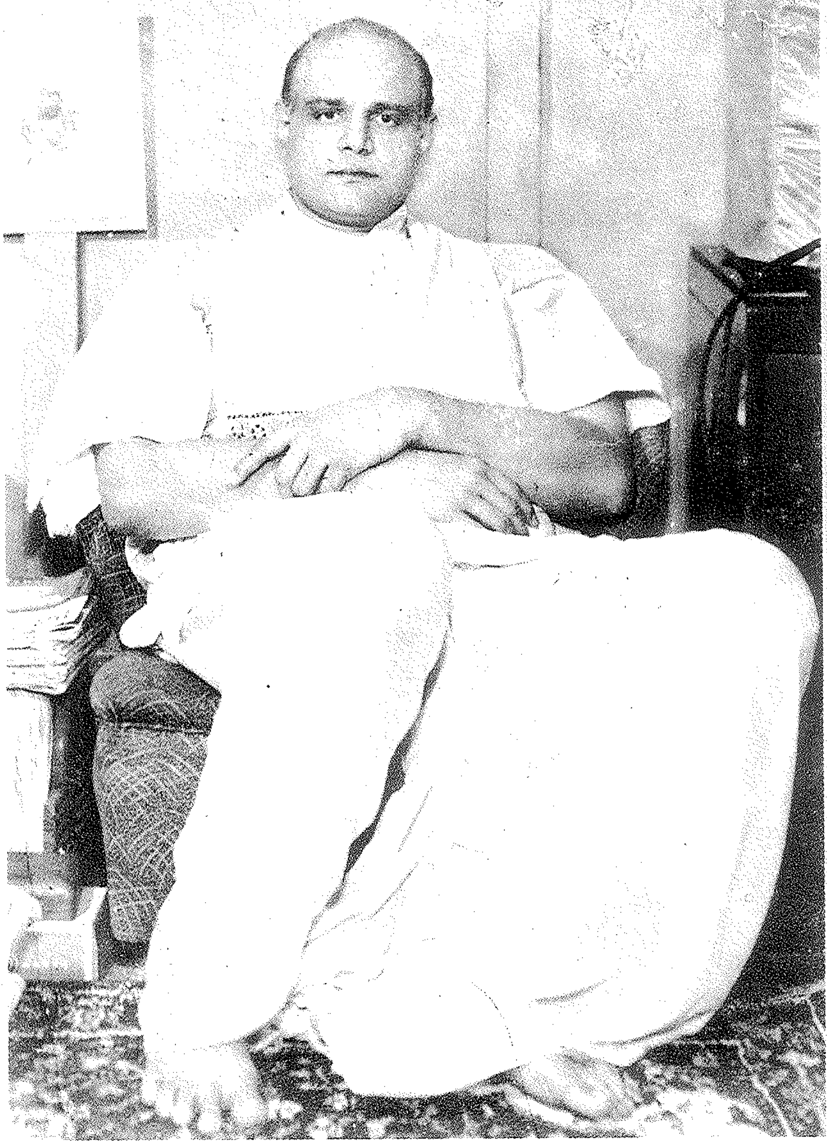

नि. ली. प्रातः स्मरणीय कलानिधि गोस्वामीकुलभूषण
१००८ श्री गोपीनाथजी महाराजचरणाः
(प्रा. वि. स. १९७२ पवित्राद्वादशी)

मदनमोहनं स्वामिनीप्रियं भुवनसुन्दरं शोभयाऽद्भुतम् ।
रसिकवल्लभं गोपिकापतिं हृदि सदा भजे भावुकैर्नुतम् ॥

॥ विजयते श्री मदनमोहन प्रभुः ॥

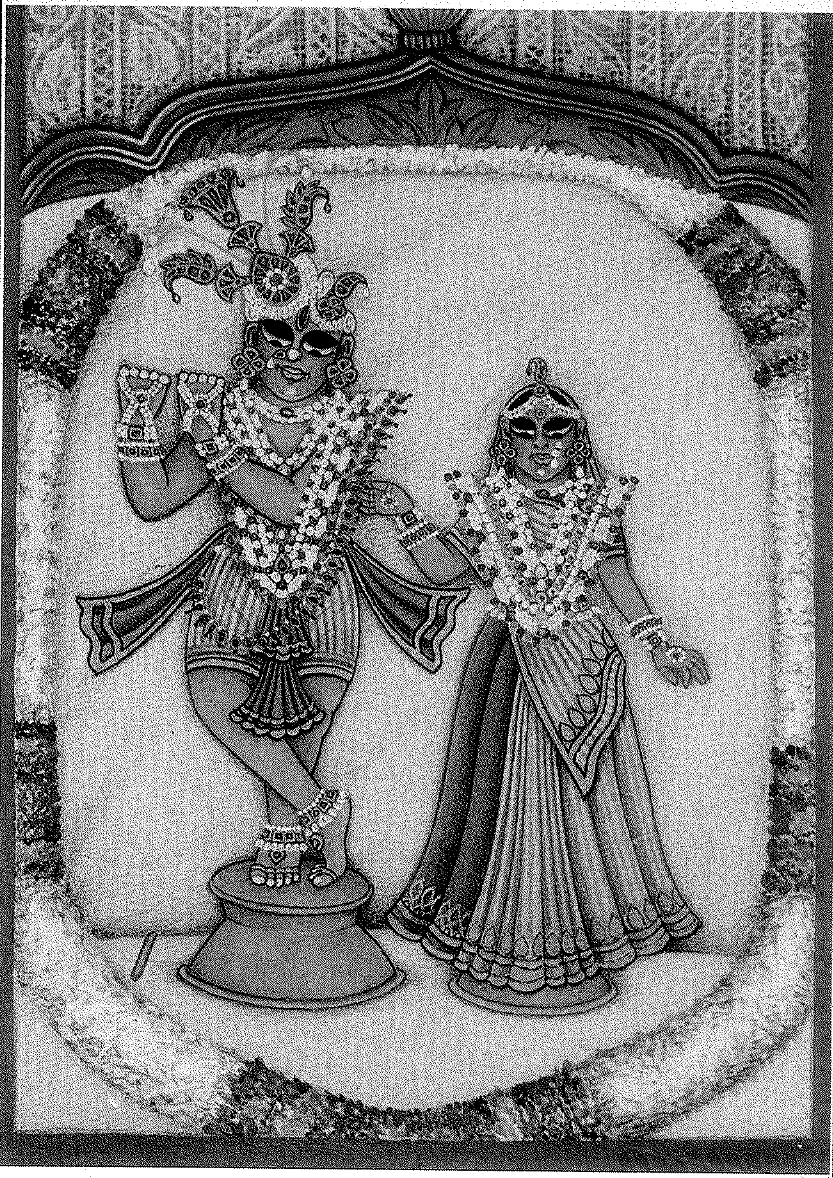

ग्रन्थानां सूचिक्रमः ।

	विषयः	पृष्ठसङ्ख्या
१.	प्रकाशकीय ।	१
२.	आशीर्वचन ।	६
३.	तत्र मंगलाचरणम् ।	७
४.	अथ श्रीसर्वोत्रमस्तोत्रम् ।	८
५.	श्रीवल्लभाष्टकम् ।	११
६.	अथ स्फुरत्कुष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् ।	१३
७.	अथ मंगलारार्तिकार्या ।	१४
८.	अथ पर्यंकः (पालना) (विज्ञप्तिः)	१५
९.	द्वियीयपर्यंक (पालनो) ।	१६
१०.	अथ राजभोगारार्तिकार्या ।	१७
११.	अथ संध्यारार्तिकार्या ।	१७
१२.	अथ शयनारार्तिकार्या ।	१८
१३.	अथ यमुनाष्टपदी ।	१९
१४.	अथ भुजंगप्रयाताष्टकम् ।	२०
१५.	अथ राधाप्रार्थनाचतुःश्लोकी ।	२२
१६.	अथ श्रीगोकुलाष्टकम् ।	२३
१७.	अथ अष्टाक्षरनिरूपणम् ।	२४
१८.	अथ ललितत्रिभंगस्तोत्रम् ।	२५
१९.	ज्येष्ठभ्रातृभ्यः पत्रम् ।	३१
२०.	अत आत्मसुतेभ्यः पत्रम् ।	३२
२१.	अथ विज्ञप्तिः ।	३३
२२.	अथ व्रजचर्याष्टपदी ।	३५
२३.	अथ श्रीस्वामिनीप्रार्थना ।	३६
२४.	अथ श्रीस्वामिन्यष्टकम् ।	३७
२५.	अथ श्रीस्वामिनीस्तोत्रम् ।	३८
२६.	अथ स्वप्नदर्शनम् ।	४०
२७.	अथ प्रबोधः ।	४४
२८.	अथ गुप्तरसः ।	४७
२९.	अथ रक्षास्मरणम् ।	५०
३०.	अथाद्या (वृत) चतुःश्लोकी ।	५१
३१.	अथ द्वितीया चतुःश्लोकी ।	५२
३२.	अथ विज्ञप्तयः ।	५५
३३.	तत्र प्रथमा विज्ञप्ति ।	५६
३४.	अथ द्वितीया विज्ञप्ति ।	५८
३५.	अथ तृतीया विज्ञप्तिः ।	६१
३६.	अथ चतुर्थी विज्ञप्तिः ।	६३
३७.	अथ पंचमी विज्ञप्तिः ।	६६
३८.	अथ षष्ठी विज्ञप्तिः ।	६९
३९.	अथ सप्तमी विज्ञप्तिः ।	७२
४०.	अथाष्टमी विज्ञप्तिः ।	७५
४१.	अथ नवमी विज्ञप्तिः ।	७८
४२.	श्रीवृत्रासुरचतुःश्लोकीविवृतिः ।	८२
४३.	श्रीगीतातात्पर्यम् ।	९१
४४.	न्यासादेशविवरणम्ः ।	९६
४५.	श्रृङ्गाररसमण्डनम् ।	१०४
४६.	भक्तिहेतुनिर्णयः	१७९
४७.	भक्तिहंसः	१८८
४८.	श्रीगायायत्रीव्याख्या ।	२०३
४९.	श्रीमद्विद्वन्मण्डनम् ।	२०७
५०.	रामनवमी निर्णयः ।	२८९
५१.	जन्माष्टमी निर्णयः	२९०
५२.	वंशावली-मधुसूदनभट्टकृता ।	२९५
५३.	अथ श्रीविठ्ठलेश्वरस्य जन्मपत्रिका ।	२९६

समाप्तः सूचीक्रमः ।

॥ श्री हरिः ॥

॥ विजयते श्रीमदनमोहन प्रभुः ॥

प्रकाशकीय

श्रीमदाचार्यचरणों के अनुग्रह से प.पू. पितृचरणो के 'स्वर्णवर्ष प्राकट्य महोत्सव' पर श्रीमद्विट्ठलनाथ गुसाईजी की 'सर्वमूलग्रन्थाः' पुस्तक प्रकाशित हो रही है ।

सर्वमूलग्रन्थाः में सर्वशब्द संङ्कुचितवृत्ति है ।

श्रीमद्विट्ठलनाथजी गुसांईजी के इस समय उपलब्ध हुए ग्रन्थों का ही संकलन इस पुस्तक में हुआ है ।

इनसे अतिरिक्त भी अनेक ग्रन्थ प्रभुचरणों द्वारा विरचित हुए हैं ऐसी हमारी हढ मान्यता है ।

यह सभी को विदीत है कि श्रीमदाचार्यचरण महाप्रभु द्वारा विरचित भी अनेक ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नहीं हो रहे है । जैसे की स्तुति ग्रन्थों में 'श्रीजगन्नाथ प्रसाद स्तुति', प्रकरण ग्रन्थो में 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा' का अंतिम अंश, भाष्यग्रन्थों में जैमिनी सूत्रों पर पूर्वमींमासा कारिकाएँ एवं सम्पूर्णपूर्वमीमांसा भाष्य, वाद ग्रन्थों में पत्रावलम्बन का कतिपय अंश, श्रीमद्भागवत पर सूक्ष्म टीका एवं सुबोधिनी का अधिकांश भाग आज प्राप्त नहीं ।

कदाचित् इन ग्रन्थों के निर्माण की कण्ठतो प्रतिज्ञा श्रीमदाचार्यचरणों के अन्य ग्रन्थों में मिलती है अतैव हम इन्हे प्रमाणित कर सकते है । किन्तु आपके ज्येष्ठ पुत्र श्रीमद्गोपीनाथजी द्वारा भी अनेक प्रौढ ग्रन्थों का निर्माण हुआ था ऐसा परम्परा से श्रृत होने पर भी आज प्राप्त साधनदीपीका के अतिरिक्त एकाध छोडकर किसी ग्रन्थ का कहीं भी उल्लेरव तक प्राप्त नहीं ।

उन उल्लेरवों का तक लोप हो गया है । सुना तो यहाँ तक है कि ब्रज के किसी कुंड मे से आपश्री के अनेक ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं जो कि अब संग्रहालयों की पेटीकाओं में बंद कर दिये गये हैं ।

विद्यागुप्तधनं स्मृतम् !

प्रभुचरण श्रीगुसांईजी के भी अनेक ऐसे अनुप्लब्ध ग्रन्थ अवश्य होंगे । उन ग्रन्थो की अनुप्लब्धी के अनेक कारण हो सकते है । किन्तु यहाँ हमारा प्रयोजन इतना ही है कि जो ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं, और बिखरे हुए हैं और जो चिरकाल से प्रकाशित न होने के कारण पठन पाठन से लुप्त होते जा रहे हैं उन सभी ग्रन्थो को उनके मूल रूप में एकसाथ प्रकाशीत करवा कर उन्ही की रक्षा कर अभ्यास में प्रवृत्त हुआ जाय

'यो ध्रुवाणि परित्यज्य........ इति न्यायात् ।

मूल ग्रन्थो का भी सूक्ष्मान्वेषण, पाठ, पारायण एवं अध्ययन के लिये अपना महत्व है । साथ ही यदि सभी मूल ग्रन्थ अविच्छिन्न प्रवाह के रूप से एक पुस्तक में उपलब्ध हों तो आनन्द द्विगुणित हो जाता है । इन्ही उद्देश्यों से केवल मूल ग्रन्थों के प्रकाशन की परम्परा अन्य सम्प्रदायों में भी रही है ।

श्रीमद्विठ्ठलनाथजी के प्रायः सभी मूल ग्रन्थों पर क्वचित एक क्वचित् अनेक टीकाएं तत् पश्चात् के आचार्य एंव शिष्यों द्वारा रची गई हैं । टीकाकारों में प्रधान नाम है श्रीगोकुलनाथजी, श्रीरघुनाथजी, श्रीहरिरायजी, श्रीपुरूषोत्तमजी, श्रीगोकुलोत्सवजी, श्रीगिरधरजी इत्यादि । श्रीमद्विद्वन्मण्डन पर सबसे अधिक टीकाएँ लिरवी गई हैं जिनमें श्री पुरूषोत्तम् जी की सुवर्णसूत्रम और श्रीगिरधरजी की श्रीहरितोषिणि मुख्य हैं । श्रीसर्वोत्तमस्तोत्र एंवश्रीवल्लभाष्टक पर भी श्रीगोकलनाथजी की, श्रीसप्तश्लोकी पर श्रीहरिरायजी की

भक्तिहेतुनिर्णयएवं भक्तिहंस पर श्रीरघुनाथजी की, और श्रृंगाररसमण्डनम् पर श्रीगोकुलोत्सवजी की टीकायें मुख्य हैं ।

इनमें से कुछ प्रकाशित हुई हैं कुछ प्राचीन प्रकाशन हैं एवं कुछ अप्रकाशित हैं । भविष्य में इन टीका ग्रन्थों के प्रकाशन का भी सौभाग्य प्रभु हमें अवश्य प्रदान करेंगे । दशदिगन्तविजयी श्रीमत्पुरूषोत्तमार्चचरणों के भी ऐसे अनेक वादग्रन्थ है जो कि पुनः नवीन रूपसे प्रकाशित करने की हमारी योजना है । श्रीपुरूषोत्त्माचार्यचरणों के षोडशग्रन्थों की सभी टीकाओं के गुर्जरानुवाद का कार्य भी सम्प्रति चल रहा है आशा है वे भी शीघ्र ही प्रकाशित होंगे ।

प्रकाशित मूल ग्रन्थो के अलावा श्रीविठ्ठलनाथजी गुसांर्सजी के कई टीका ग्रन्थ भी हैं । श्रीमन्महाप्रभु द्वारा विरचित ग्रन्थों के अन्तर्गत श्रीयमुनाष्टक, सिध्दातंमुक्तावली पर विवृत्ति नवरत्न पर प्रकाश प्रेमामृत पर विवरण एवं मधुराष्टक पर विवृति हैं ।

अणुभाष्य का सार्धचतुर्थाध्याय भी आपने पूर्ण किया है ।

एवं सुबोधिनी पर श्रीमती टिप्पणी भी आपही की कृति है ये सभी टीकाग्रन्थ आधुनिक समय मे सुचारू रूप से प्रकाशित हो गये हैं ।

श्रीमदाचार्यचरण निजग्रन्थों में आज्ञा करते हैं
'चेतस्तत्प्रवणं सेवा तद्सिध्यै तनुवित्तजा' (सि. मु.)
'स्मरणं भजनं चापि' (चतुःश्लोकी)
'सेवायां वा कथायांवा' (भक्ति वर्धिनी)

सेवा दो प्रकार की बताई गई है । स्वरूप सेवा एंव नामसेवा संयोग में स्वरूप सेवा एवं विप्रयोग में अथवा अनवसर में नाम सेवा का निरूपण किया गया है । ये दोनों ही तब सेवा कही जाती है जब दोनी ही अवस्थाओ में चित्तकृष्णप्रवण बना

रहे । अनवसर में निरन्तर प्रभु नाम, लीला, परिकर इत्यादि का श्रवण कीर्तन एवं स्मरण बना रहना चाहिये । ये नाम सेवा श्रीमद्भागवत जो कि प्रभु का नामस्वरूप है और अनवतारदशा में सर्वोध्दारक है उसके चिन्तन से सिध्द होती है । और श्रीमद्भागवत् जो कि सर्वशास्त्रों का सार एवं निर्णायक है अपना पूर्ण अर्थ तभी प्रकाशित करता है जब हम अग्नि श्रीमहाप्रभु, श्रीविठ्ठलनाथजी एवं अन्य स्वीय आचार्यचरणों के ग्रन्थो का निरन्तर अभ्यास करें । अपने मन को निरन्तर इन ग्रन्थों मे प्रकट किये गये भावों में लगायें एवं अपने तन और धन को निरन्तर इन ग्रन्थों के संरक्षण, प्रकाशन एवं प्रचार में लगायें

श्रीमद्विठ्ठलनाथ प्रभुचरणों के इन ग्रन्थों से उनके स्वरूप का अद्भुत् साक्षात्कार होता है ।

पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान श्रीकुष्ण की तरह आपकी सर्व लीलाओं में पूर्णता है । आप एक श्रेष्ठ पुत्र भी हैं पिता एव अनुज भी हैं । श्रेष्ठ गुरू भी हैं, और शिष्य भी । श्रेष्ठ भक्त भी हैं पूर्णपुरूषोत्तम भी । श्रेष्ठ सरवा भी हैं और असुरवादीयों के शत्रु भी ।

श्री सर्वोत्तमस्तोत्र, वल्लभाष्टक एव सप्तश्लोकी मे अपने पितृचरण एवं मूल गुरू श्रीमन्महाप्रभु के प्रति पुत्र एवं शिष्य के उत्कट भाव, ज्येष्ठ भ्राता को लिखे हुए पत्रों में अनुज की अटूट श्रध्दा, निजबालकों को लिखे हुए पत्रों में सेवामार्ग एव भगवदाश्रय का सन्मार्ग दिखाते हुए स्नेही पिता और निज सेवको को भगवत्सेवा में उन्मुरव और तत्पर रखने का आग्रह करते हुए उपदेष्टा का साक्षात्कार होता है ।

नव विज्ञप्तियों में विप्रयोग की तीव्र वेदना से व्याकुल एवं श्रृङ्गाररसमण्डन में मधुर कृष्ण मिलन के अपार आनंद का अनुभव करती हुई अन्तरङ्ग सरवी, एवं भक्तिहेतुनिर्णय एवं भक्तिहंस में भगवदनुग्रह भक्तिमार्ग एवं कृष्णप्राप्ति का श्रेयमार्ग दिरवाते हुए गुरूवर और विद्वन्मण्डन मे वेदों के घने वनोपवनो में घुसे हुए असुरवंचकों को भयभीत कर रवदेड देने वाली हरि की गर्जना सुनते ही बनती है ।

अन्त मे इस सुन्दर पुस्तक के प्रकाशन पर श्रीवल्लभपीठ को जिन भगवदीय वैष्णवों का सहयोग प्राप्त हुआ है उन सभी का हम अत्यन्त आदरपूर्वक स्मरण करते हैं ।

सुज्ञजनों से प्रकाशन में रही त्रुटियों की क्षमा मांगकर यह पुष्प पितृचरणों के करकमलों में समर्पित करते हैं ।

गो. रघुनाथ
श्रीवल्लभाब्द ५१८
शरदपूर्णिमा

॥ श्री हरि ॥
॥ विजयते श्री बालकृष्णः प्रभुः ॥
॥ विजयते श्री मदनमोहनः प्रभुः ॥

आशीर्वचन

आज ये प्रकाशन, जामे श्री प्रभुचरण गुसाईंजी को नामात्मक स्वरूप विद्यमान है मेरे हाथ में है। यह कार्य अदूभूत भयो है श्री गुसाईंजी विरचित ग्रन्थन को संकलन एक साथ पुस्तक के रूप में प्रथम बार भयो है। हमारे साथ एक अलोकिक घटना घटी और वाको साम्य हमारे तात श्री नि. ली. प्रातः स्मरणिय कला साहित्य सागर प. पू. गोस्वामी आचार्यवर्य श्री जीवनजी महाराज के साथ हुई घटना सं् है। तृतीय श्रीवल्लभाख्यान की व्रजभाषा टीका में आप आज्ञा करें हैं के जब यह तृतीय आख्यान की टीका सम्पूर्ण भई तब ही पाडुंरंग श्री विठ्ठलनाथजी के दर्शन को लाभ प्राप्त भयो ठीक वैसे ही हमारे श्रीवल्लभपीठ में अध्यन अध्यापन में जैसे ही नवमाख्यान पूर्ण भयो और वाही दिन श्रीप्रभुचरण के ग्रन्थन को संकलन मेरे हाथ में आयो वास्तव में छपाइ बहोत ही सुन्दर भई है और या कार्य के लिये शत् शत् आशिर्वाद मै चि. रघुनाथ बावा को दऊँगो क्यों के वाकी लगन, उमंग और उत्साह सूं यह कार्य सम्पन्न भयो है। याके साथ वो वैष्णववर्ग भी आशिर्वाद के योग्य हैं जिनने अपनो सम्पूर्ण सहयोग प्रदान कर या कार्य कूं पूर्णता प्रदान की जैसे प्रभुन ने उँगली पे श्रीगिरिराज उठायो और व्रजवासीन ने भी अपनी अपनी लकडी लगाई और प्रभुन की भक्तवत्सलता ने उन्ही कूं श्रेय दियो वैसे ही सारो कार्य तो चि. बावा को है परन्तु स्वयं वाने या कार्य को श्रेय अपने निजवर्ग कूं देनो चाहयो है और सही भी है हमारे श्री वल्लभपीठ परिवार में यही एकता की भावना, समर्पण की भावना, दासत्व को विचार सतत सबन के हृदय में रहे है और उन सबन सूं एसे ही सुन्दर कार्य करवातो रहे है। मै हृदय पूर्वक उन सबन कूं आशिर्वाद दऊँगो और चांहूगो के प्रभु श्रीमदनमोहनलाल हमेंशा मेरे यह श्री वल्लभपीठ परिवार में सेवा भावना बनायें रखें।

शास्त्रमवगत्य मनोवाग्देहैः कृष्ण सेव्यः । इतिशम् ।

गो. रमेशकुमार
श्री वल्लभपीठ

॥ श्री ॥

तत्र मंगलाचरणम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

चिंतासंतानहंतारो यत्पादांबुजरेणवः ।
स्वीयानां तान्निजाचार्यान्प्रणमामि मुहुर्मुहु : ॥ १ ॥
यदनुग्रहतो जंतुः सर्वदुःखातिगो भवेत् ।
तमहं सर्वदा वंदे श्रीमद्वल्लभनंदनम् ॥ २ ॥
यदुक्तं तातचरणैः श्रीकृष्णः शरणं मम ।
अत एवास्ति नैश्चित्यमैहिके पारलौकिके ॥ ३ ॥
मम चित्तस्य विश्वासः श्रीगोपीजनवल्लभे ।
यदा तदा कृतार्थोऽहं शोचनीयो न कर्हिचित् ॥ ४ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितं मंगलाचरणं समाप्तम् ।

अथ श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

प्राकृतधर्मानाश्रयमप्राकृतनिखिलधर्मरूपमिति ।
निगमप्रतिपाद्यं यत्तच्छुद्धं साकृति स्तौमि ॥ १ ॥
कलिकालतमश्छन्नदृष्टित्वाद्विदुषामपि ।
संप्रत्यविषयस्तस्य माहात्म्यं समभूद्भूवि ॥ २ ॥
दयया निजमाहात्म्यम् करिष्यत् प्रकटं हरिः ।
वाण्या यदा तदा स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार हि ॥ ३ ॥
तदुक्तंमपि दुर्बोधं सुबोधं स्याद्यथा तथा ।
तन्नामाष्टोत्तरशतं प्रवक्ष्याम्यखिलाघहृत् ॥ ४ ॥
ऋषिरग्निकुमारस्तु नाम्नां छंदो जगत्यसौ ।
श्रीकृष्णाऽस्यम् देवता च बीजं कारुणिकःप्रभुः ॥ ५ ॥
विनियोगो भक्तियोगः प्रतिबंधविनाशने ।
कृष्णाधरामृतास्वादसिध्दिरत्र न संशयः ॥ ६ ॥
आनंदः परमानंदः श्रीकृष्णास्यः कृपानिधिः ।
दैवोद्धारप्रयत्नात्मा स्मृतिमात्रार्तिनाशनः ॥ ७ ॥
श्रीभागवतगूढार्थप्रकाशनपरायणः ।
साकारब्रह्मवादैकस्थापको वेदपारगः ॥ ८ ॥
मायावादनिराकर्ता सर्ववादिनिरासकृत् ।
भक्तिमार्गाब्जमार्तंडः स्त्रीशूद्राद्युद्धृतिक्षमः ॥ ९ ॥
अंगीकृत्यैव गोपीशवल्लभीकृतमानवः ।
अंगीकृतौ समर्यादो महाकारूणिको विभुः ॥ १० ॥
अदेयदानदक्षश्च महोदारचरित्रवान् ।
प्राकृतानुकृतिव्याजमोहितासुरमानुषः ॥ ११ ॥

वैश्वानरो वल्लभाख्यः सद्रूपो हितकृत्सताम् ।
जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृन्निखिलेष्टदः ॥ १२ ॥
सर्वलक्षणसंपन्नः श्रीकृष्णज्ञानदो गुरूः ।
स्वानंदतुंदिलः पद्मदलायतविलोचनः ॥ १३ ॥
कृपादृग्वृष्टिसंहृष्टदासदासीप्रियः पतिः ॥
रोषदृक्पातसंप्लुष्टभक्तद्विट् भक्तसेवितः ॥ १४ ॥
सुरवसेव्यो दुराराध्यो दुर्लभांघ्रिसरोरूहः ॥
उग्रप्रतापो वाक्सी (शी) धुःपूरिताशेषसेवकः ॥ १५ ॥
श्रीभागवतपीयूषसमुद्रमथनक्षमः ॥
तत्सारभूतरासस्त्रीभावपूरितविग्रहः ॥ १६ ॥
सान्निध्यमात्रदत्तश्रीकृष्णप्रेमा विमुक्तिदः ॥
रासलीलैकतात्पर्यः कृपयैतत्कथाप्रदः ॥ १७ ॥
विरहानुभवैकार्थसर्वत्यागोपदेशकः ॥
भक्त्याचारोपदेष्टा च कर्ममार्गप्रवर्तकः ॥ १८ ॥
यागादौ भक्तिमार्गैकसाधनत्वोपदेशकः ॥
पूर्णानन्दः पूर्णकामो वाक्पतिर्विबुधेश्वरः ॥ १९ ॥
कृष्णनामसहस्त्रस्य वक्ता भक्तिपरायणः ॥
भक्त्याचारोपदेशार्थनानावाक्यनिरूपकः ॥ २० ॥
स्वार्थोज्झिताखिलप्राणप्रियस्तादृशचेष्टितः ॥
स्वदासार्थकृताशेषसाधनः सर्वशक्तिधृक् ॥ २१ ॥
भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत्पिता ॥
स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्यः स्मयापहः ॥ २२ ॥
पतिव्रतापतिः पारलौकिकैहिकदानकृत् ॥
निगूढहृदयोऽनन्यभक्तेषु ज्ञापिताशयः ॥ २३ ॥
उपासनादिमार्गातिमुग्धमोहनिवारकः ॥

भक्तिमार्गे सर्वमार्गवैलक्षण्यानुभूतिकृत् ॥ २४ ॥
पृथक्शरणमार्गोपदेष्टा श्रीकृष्णहार्दवित् ॥
प्रतिक्षणनिकुंजस्थलीलारससुपूरितः ॥ २५ ॥
तत्कथाक्षिप्तचित्तस्तद्विस्मृतान्यो व्रजप्रियः ॥
प्रियव्रजस्थितिः पुष्टिलीलाकर्ता रहः प्रियः ॥ २६ ॥
भक्तेच्छापूरकः सर्वाज्ञातलीलोऽतिमोहनः ॥
सर्वासक्तो भक्तमात्रासक्तः पतितपावनः ॥ २७ ॥
स्वयशोगानसंहृष्टहृदयांभोजविष्टरः ॥
यशः पीयूषलहरीप्लावितान्यरसः परः ॥ २८ ॥
लीलामृतरसार्द्रार्द्रीकृताखिलशरीरभृत् ॥
गोवर्धनस्थित्युत्साहस्तल्लीलाप्रेमपूरितः ॥ २९ ॥
यज्ञभोक्ता यज्ञकर्ता चतुर्वर्गविशारदः ॥
सत्यप्रतिज्ञस्त्रिगुणातीतो नयविशारदः ॥ ३० ॥
स्वकीर्तिवर्धनस्तत्त्व सूत्रभाष्यप्रदर्शकः ॥
मायावादाख्यतूलाग्निर्ब्रह्मवादनिरूपकः ॥ ३१ ॥
अप्राकृताऽखिलाकल्पभूषितः सहजस्मितः ॥
त्रिलोकीभूषणं भूमि भाग्यं सहजसुंदरः ॥ ३२ ॥
अशेषभक्तसंप्रार्थ्यचरणाब्जरजोधनः ॥
इत्यानंदनिधेः प्रोक्तं नाम्नामष्टोत्तरं शतम् ॥ ३३ ॥
श्रद्धाविशुद्धबुद्धिर्यः पठत्यनुदिनं जनः ॥
स तदेकमनाः सिद्धिमुक्तां प्राप्नोत्यसंशयम् ॥ ३४ ॥
तदप्राप्तौ वृथा मोक्षस्तदाप्तौ तद्गतार्थता ॥
अतः सर्वोत्तमं स्तोत्रं जप्यं कृष्णरसार्थिभिः ॥ ३५ ॥

इति श्रीमदग्निकुमारप्रोक्तं सर्वोत्तमस्तोत्रं संपूर्णम् ।

श्रीवल्लभाष्टकम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीमद्वृंदावनेंदुप्रकटितरसिकानंदसंदोहरूप
स्फूर्जद्रासादिलीलाऽमृतजलधिभरा-
क्रांतसर्वोऽपि शश्वत् ॥
तस्यैवात्मानुभावप्रकटनहृदयस्याज्ञयाप्रादुरासीद्
भूमौ यः सन्मनुष्याकृतिरतिकरूण-
स्तं प्रपद्ये हुताशम् ॥ १ ॥
नाविर्भूयाद्भवांश्चेदधिधरणितलं भूतनाथोदितासन्
मार्गाध्वांतांधतुल्या निगमपथगतौ
देवसर्गेऽपि जाताः ॥
घोषाधीशं तदेमे कथमपि मनुजाः प्राप्नुयुर्नैव दैवी
सृष्टिर्व्यर्था च भूयान्निजफलरहिता,
देव वैश्वानरैषा ॥ २ ॥
न ह्यन्यो वागधीशाच्छ्रुति-
गणवचसां भावमाज्ञातुमीष्टे
यस्मात्साध्वी स्वभावं प्रकटयति वधूरग्रतः पत्युरेव ।
तस्माच्छ्रीवल्लभाख्यत्वदुदितवचनादन्यथा रूपयंति,
भ्रांता ये ते निसर्ग
त्रिदशरिपुतया केव[१]लांधंतमोगाः ॥ ३ ॥
प्रादुर्भूतेन भूमौ व्रजपतिचरणांभोजसेवाख्यवर्त्म
प्राकट्यं यत्कृतं ते तदुत निजकृते श्रीहुताशेति मन्ये ।
यस्मादस्मिंस्थितो य[२]त्किमपि कथमपि क्वाप्युपाहर्तु-

---

१. केवलं नित्यदुखाः २. यः किमपि.

मिच्छत् यद्वा तद्गोपिकेशः
स्ववदनकमले चारूहासे करोति ॥ ४ ॥
उष्णत्वैकस्वभावोऽप्यतिशिशिरवचाः पुंजपीयूषवृष्टी-
रार्तेष्वत्युग्रमोहासुरनृषु युगपत् तापमप्यत्र कुर्वन् ।
स्वस्मिन्कृष्णास्यतां त्वं प्रकटयसि च नो
भूतदेवत्वमेतद्
यस्मादानंददं श्रीव्रजजननिचये नाशकं चासुराग्नेः ॥ ५ ॥
आम्नायोक्तं यदंभोभवनमनलतस्तच्च सत्यं विभो यत्
सर्गादौ भूतरूपाद् भवदनलतः पुष्करं भूतरूपम् ।
आनंदैकस्वरूपात्त्वदधिभु यदभूत्कृष्णसेवारसाब्धि-
श्चानंदैकस्वरूपस्तदखिलमुचितं
हेतुसाम्यं हि कार्ये ॥ ६ ॥
स्वामिञ्छ्रीवल्लभाग्ने क्षणमपि भवतः सन्निधाने कृपातः
प्राणप्रेष्ठव्रजाधीश्वरवदनदिदृक्षार्तितापो जनेषु ।
यत्प्रादुर्भावमाप्नोत्युचिततरमिदं यत्तु पश्चादपीत्थं
दृष्टेऽप्यस्मिन्मुरवैंदौ प्रचुरतरमुदेत्येव
तच्चित्रमेतत् ॥ ७ ॥
अज्ञानाद्यंधकारप्रशमनपटुताख्यापनाय त्रिलोक्या-
मग्नित्वं वर्णितं ते कविभिरपि सदा
वस्तुतः कृष्ण एव ।
प्रादुर्भूतो भवानित्यनुभवनिगमाद्युक्तमानैरवेत्य
त्वां श्रीश्रीवल्लभे मे निखिलबुधजना
गोकुलेशं भजंते ॥ ८ ॥

इति श्रीमद्विठ्ठलदीक्षितविरचितं श्रीवल्लभाष्टकं संपूर्णम् ।

अथ स्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

स्फुरत्कृष्णप्रेमामृतरसभरेणातिभरिता
विहारान्कुर्वाणा व्रजपतिविहाराब्धिषु सदा ।
प्रिया गोपीभर्तुः स्फुरतु सततं वल्लभ इति
प्रथावत्यस्माकं हृदि सुभगमूर्तिः सकरूणा ॥ १ ॥
श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांशुभूषिता मूर्तिः ।
श्रीवल्लभाभिधानस्तनोतु निजदा[1]स्यसौभाग्यम् ॥ २ ॥
मायावादतमो निरस्य मधुभित्सेवाख्यवर्त्माद्भुतं
श्रीमद्गोकुलनाथसंगमसुधासंप्रापकं तत्क्षणात् ॥
दुष्प्रापं प्रकटीचकार करूणारा[2]गादिसंमोहनः
स श्रीवल्लभभानुरूल्लसति यः श्रीबल्लवीशांतरः ॥ ३ ॥
क्वचित्पांडित्यं चेन्न निगमगतिःसापि यदि न
क्रिया सा सापि स्याद्यदि न हरिमार्गे परिचयः ।
यदि स्यात्सोऽपि श्रीव्रजपतिरतिर्नेति निखिलै-
र्गुणैरन्यः को वा विलसति विना वल्लभवरम् ॥ ४ ॥
मायावादिकरींद्रदर्पदलनेनास्यैंदुराजोद्गतश्रीमद्भाग-
वताख्यदुर्लभसुधावर्षेण वेदोक्तिभिः ॥
राधावल्लभसेवया तदुदितप्रेम्णोपदेशैरपि ।
श्रीमद्वल्लभनामधेयसदृशो भावी न भूतोऽस्त्यपि ॥ ५ ॥
यदंघ्रिनखमंडलप्रसृतवारिपीयूषयुग्वरांगहृदयैः कलि
स्तृणमिवेह तुच्छीकृतः ॥
व्रजाधिपतिरिंदिराप्रभृतिमृग्यपादांबुजः
क्षणेन परितोषितस्तदनुगत्वमेवास्तु मे ॥ ६ ॥
अघौघतमसावृतं कलिभुजंगमासादितं

---

[1] दास. [2] रागाति.

जगद्विषयसागरे पतितमस्वधर्मे रतम् ॥
यदीक्षणसुधानिधिः समुदितोऽनुकंपामृताद-
मृत्युमकरोत्क्षणादरणमस्तु मे तत्पदम् ॥ ७ ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचिता सप्तश्लोकी (स्फु०) संपूर्णा ॥

अस्य ग्रंथस्य श्लोकानामन्योऽपि पाठक्रमो दृश्यते ।
तथापि श्रीहरिरायचरणकृतटीकानुसारी क्रमोऽत्र गृहीतः ॥

मंगलारार्तिकार्या ।

अथ मंगलारार्तिकार्या ।

राग रामकली, (चर्चरी)

श्रीकृष्णाय नमः ।

मंगलं मंगलं व्रजभुवि मंगलं,
मंगलमिह श्रीनंदयशोदा नामसुकीर्तनमेतद्
रूचिरोत्संग सुलालितपालितरूपम् ॥ १ ॥ ध्रु०॥
श्रीश्रीकृष्ण इति श्रुतिसारं
नाम स्वार्तजनाशयतापापहमिति मंगलरावम् ।
व्रजसुंदरीवयस्यसुरभीवृंद
मृगीगणनिरूपमभावा (वं) मंगलसिंधुचया (यम्) ॥ २ ॥
मंगलमीषत्स्मितयुतवीक्षण
भाषणमुन्नतनासापुटगतमुक्ताफलचलनम् ।
कोमलचलदङ्गुलिदलसंगत,
वेणुनिनादविमोहितवृंदावनभुविजाता (तम्) ॥ ३ ॥
मंगलमखिलं गोपीशितुरति
मंथरगतिविभ्रममोहितरासस्थितगानम् ।
त्वं जय सततं गोवर्धनधर पालय निजदासान् ॥ ४ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचिता मंगलारार्तिकार्या समाप्ता ।

अथ पर्यंकः (पालना) (विज्ञप्तिः) ।

राग रामकली (छंद चर्चरी)

श्रीकृष्णाय नमः ।

प्रेंरवपर्यंकशयन चिरविरहतापहरमति
रूचिरमीक्षणं प्रकटय प्रेमायन ॥ ध्रु० ॥
तनुतरद्विजपंक्तिमतिललितानि
हसितानि तव वीक्ष्य गायकीनाम् ।
यदवधि परमेतदाशया
समभवज्जीवितं तावकीनाम् ॥ १ ॥
तोकता वपुषि तव राजते दृशि
तु मदमानिनीमानहरणम् ।
अग्रिमे वयसि किमु भाविकामेऽपि
निजगोपिकाभावकरणम् ॥ २ ॥
व्रजयुवतिहृद्यकनकाचलानारोढुमुत्सुकं
तव चरणयुगलम् ।
तत्तु मुहुरून्नमनकाभ्यासमिव नाथ
सपदि कुरूते मृदुलमृदुलम् ॥ ३ ॥
अधिगोरोचनातिलकमलकोद्ग्रथित-
विविधमणिमुक्ताफलविरचितम् ।
भूषणं राजते मुग्धतामृत-
भरस्यंदि वदनेंदुरसितम् ॥ ४ ॥
भ्रूतटे मातृरचितांजनबिंदुरतिशयित-
शोभया दृग्दोषमपनयन् ।
स्मरधनुषि मधु पिबन्नलिराज

इव राजते प्रणयिसुखमुपनयन् ॥ ५ ॥
वचनरचनोदारहाससहज-
स्मितामृतचयैरार्तिभरमपनयन् ।
पालय सदास्मानस्मदीय-
श्रीविठ्ठले निजदास्यमुपनयन् ॥ ६ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचिता विज्ञप्तिः समाप्ता ।

अथ द्वियीयपर्यंकः (पालनो) ।

लालयति दोलिकामंचशयनम् ॥ ध्रु० ॥
तिलकगोरोचनं भालमुक्ताफलं
कुटिलकुन्तलमुखं चकितनयनम् ॥ १ ॥
चरणसंचालनं मोदभरगायनं
प्रतिबिंबदर्शने मृदुलहासम् ॥
बाललीलापरं मधुरनूपुरधरं,
भाषणे स्फुरितनासाविकासम् ॥ २ ॥
अंगुष्ठचोषकं गूढरसपोषकं,
स्वल्पसंतोषकं कृष्णचंद्रम् ॥
गोपिकाजनमनोमोदसंपादनं,
तदभिलषिताकृतौ विगततंद्रम् ॥ ३ ॥

=======

अथ राजभोगारार्तिकार्या ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

व्रजराजविराजितघोषवरे वरणीयमनोहररूपधरे ।
धरणीरमणीरमणैकपरै परमार्तिहरस्मितविभ्रमके ॥ १ ॥
मकराकृतिकुंडलशोभिमुखे मुखरीकृतनूपुरहृद्यगतौ ।
गतिसंगतभूतलतापहरे हरशक्रविमोहनगानपरे ॥ २ ॥
परमप्रियगोपवधूहृदये दयया दिनतापहरे सुहृदाम् ।
हृदयस्थितगोकुलवासिजने
जनहृद्यविहारपरे सततम् ॥ ३ ॥
ततवेणुनिनादविनोदपरे परचित्तहरस्मितमात्रकथे ।
कथनीयगुणाकरपादयुगे युगलेयुगले सुदृशां सुरतौ ।
रतिरस्तु मम व्रजराजसुते । (२)

इति श्रीमद्विठ्ठलेश्वरविरचिता राजभोगारार्तिकार्या समाप्ता ।

अथ संध्यारार्तिकार्या ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

हरिभक्तिसुधोदधिवृध्दिकरे, करवर्णितकृष्णकथाग्ररसे ।
रसिकागमवागमृतोक्तिपरे परमादरणीयतमाब्जपदे ॥ १ ॥
पदवंदितपावनपापजने, जननीजठरागमतापहरे ।
हरनीतविदारणनाम कथे कथनीयगुणाकरदासवरे ॥ २ ॥
वरवारणमानहरागमने, रमणीयमहोदधिरासरसे ।
रसपट्टदृगंचलशोभिमुखे, मुखरीकृतवेणुनिनादरते ॥ ३ ॥
रतिनाथविमोहनवेषधरे, धरणीधरधारणभारभरे ।

भरतागमशिक्षितलास्यकरे, करकृष्टगिरींद्रपदाब्जरते ।
रतिरस्तु सदा वल्लभतनये ॥ ४ ॥

इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचिता संध्यारार्तिकार्या समाप्ता ।

अथ शयनारार्तिकार्या ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

शरणागतभीतिनिवृत्तिपरं
परपक्षतमोनिकरांशुनिधिम् ।
निधिसेवितपादसरोजयुगं
युगधर्मनिवर्तितकालकरम् ॥ १ ॥
करजोल्लिरिवतप्रमदौघकुचं
कुचकुंकुमलिप्तविशालहृदम् ।
हृदयस्थितगोकुलवासजनं
जनसंचितपुण्यचयैकफलम् ॥ २ ॥
फलदानपरातिसमर्थभुजं
भुजदंडगृहीतकुचाग्रमणिम् ।
मणिशोभितहस्तधृताद्रिवरं
वरगोपवधूचयसंवलितम् ॥ ३ ॥
वलितप्रमदायुतरासकरं करपद्मयुगाहितवेणुवरम् ।
वरभक्तिशिरः स्थितपद्मकरंकरमर्दितयादवयूथरिपुम् ॥ ४ ॥
रिपुयूथभुजंगमदर्पहरं हरपूजितरम्यसरोजपदम् ।
पदपद्मयुगार्चनदत्तपदं पदपद्मनरवस्थितभक्तिरसम् ॥ ५ ॥
रसपूरितगोपवधूशरणं शरणागतघोषजनाभयदम् ।

भयदौघशिरोहरखड्गधरं
धरणीकृतपुण्यचयैकफलम् ॥ ६ ॥
फलेहेतुविमर्दितदुष्टखलं खरमुक्तिदपादसरोजवरम् ।
वरबर्हिशिखंडकयुक्तकचं कचकोशनिवेशितपुष्पचयं
घोषाधिपतिं कमलाधिपतिं वंदे तमहं मथुराधीशम् ।

इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचिता शयनारार्तिकार्या समाप्ता ।

अथ यमुनाष्टपदी ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

नमोदेवियमुनेनमोदेवियमुनेहरकृष्णमिलनांतरायम् ।
निजनाथमार्गदायिनि कुमा[1]रीकामपू[2]रिके कुरू भक्तिरायम् ॥१॥
(ध्रुवपदम्) ॥ मधुपकुलकलितकमलावलीव्यपदेशधारित श्रीकृष्णयु[3]तभक्तहृदये । सततमतिशयितहरिभावनाजाततत्सारूप्यगतिहृदये ॥ १ ॥ निजकूलभवविविधतरूकुसुमयुतनीरशोभया विलसदलिवृंदे ॥ स्मारयसि [4]गोपीवृंदपूजितसरसमीशवपुरानंकंदे ॥ २ ॥ उपरि[5]वलदमलकलारूणद्युतिरेणुपरि[6]मलितजलभरेणामुना ॥ व्रजयुवतिकुचकुंभकुंकुमारूणमुरः स्मारयसि मारपितुरधुना ॥ ३ ॥ अधिरजनि हरिविहृतिमीक्षितुं कुवलयाभिधसुभगनयनान्युशति तनुषे ॥ नयनयुगमल्पमिति बहुतराणि च तानि रसिकतानिधितया कुरूषे ॥ ४ ॥ रजनिजागरजनितरागरंजितनयनपंकजैरहनि हरिमीक्षसे ॥ मकरंदभरमिषेणानंदपूरिता सततमिह हर्षाश्रु मुंचसे ॥ ५ ॥ तटगतानेकशुकसारि-

---

१. कुमारि. २. पूरक. ३. निज. ४. गोपिका. ५. चल. ६. मिलित.

कामुनिगणस्तुतविविधगुणसी (शी) धुसागरे ॥ संगता सततमिह
भक्तजनतापहृति राजसे रासरससागरे ॥ ६ ॥ रतिभरश्रमजलोदि-
तकमलपरिमलव्रजयुवतिजनविहृतिमोदे ॥ ताटंकच[1]लनसुनिरस्त-
संगीतयुतमदमुदितमधुपकृतविनोदे ॥ ७ ॥ निजव्रजजनावनात्तगो-
वर्धने राधिकाहृदयगतहृद्यकरकमले ॥ रतिमतिशयितरसविट्ठल-
स्याशु कुरूवेणुनिनदाह्वानासरले ॥ ८ ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचिता यमुनाष्टपदी समाप्ता ।

======

श्लोकौ-व्रजपरिवृढवल्लभे कदा
त्वच्चरणसरोरूहमीक्षणास्पदं मे ।
तव तटगतवालुकाः कदाहं
सकलनिजांगगता मुदा करिष्ये ॥ १ ॥
वृंदावने चारूबृहद्वने मन्मनोरथं पूरय सूरसूते ।
दृग्गोचरः कृष्णविहार एव
स्थितिस्त्वदीये तट एव भूयात् ॥ २ ॥

अथ भुंजगप्रयाताष्टकम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सुधाधामनैजाधराधारवेणुंकराग्रैरूदग्रैरतिव्यग्रशीलैः ।
सदा पूरयंश्चारयन्गोवरूथान्पुरः प्रादुरास्तां ममाभीरवीरः ॥१॥
यशोदायशोदानदक्षांबुजाक्ष प्रतीपप्रमाद प्रहाणप्रवीण ॥
निजापांगसंगोद्भवानंगगोपांगनापांगनृत्यांगणीभूतदेह ॥ २ ॥
सदाराधिकाराधिका साधकार्थप्रतापप्रसाद प्रभो कुष्णदेव ॥

---

[1] चालन.

अनंगीकृतानंगासे[1]व्यंतरंगप्रविष्टप्रता[2]पाघहन्मे प्रसीद ॥ ३ ॥
रमाकांत शांत प्रतीपांत मेंतः स्थिरीभूतापादांबुजसत्वं भवाशु॥
सदा कृष्णकृष्णेति नाम त्वदीयं विभो गृण्हतो हे यशोदाकिशो-
र ॥४॥ स्फुरद्रंगभूमिष्ठमंचोपविष्टोच्छलच्छत्रुपक्षे भयं चानिनी-
षो ॥ अलिव्रातजुष्टोत्तमस्त्रग्धर श्रीमनोमंदिर त्वं हरे मे प्रसीद॥५॥
स्मरस्मेर कस्मात्त्वमस्मास्वतो न स्मरस्यंबुजस्मेरनेत्रानुकंपिन् ॥
स्मितोद्भावितानंगगोपांगनांगोल्लसत्स्वांगसत्संगलंभेश पाहि ॥६॥
रमारामरामामनोहारिवेषोद्धतक्षोणिपालौघपापक्षयेश ॥ दरोत्फु-
ल्लपंकेरूहस्मेरहास प्रपन्नार्तिहन्नंदसूनो प्रसीद ॥ ७ ॥
कुरंगीदृशामंगसंगेन शश्वन्निजानंददानंदकं दातिकाल ॥
कलिंदोद्भवोद्भूतपंकेरूहाक्ष स्वभक्तानुरक्ताक्तपाद प्रसीद ॥ ८ ॥
भुजंगप्रयाताष्टकेनानुयातो भुजंगेशयानं हरिं संस्तवीति ॥ रतिस्तस्य
कृष्णे भवत्याशु नित्या किमन्यैः फलैः फल्गुभिः सेवकस्य ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचितं भुजंगप्रयाताष्टकं संपूर्णम् ।

---

[1] संसेव्यरंग । [2] प्रतीपा ।

अथ राधाप्रार्थनाचतुःश्लोकी ।

श्री कृष्णाय नमः ।

कृपयति यदि राधा बाधिताशेषबाधा, किमपरमवशिष्टं पुष्टिमर्यादयोर्मे ॥ यदि वदति च किंचित् स्मेरहासोदित-श्रीर्द्विजवरमणिपंकत्या मुक्तिशुकत्या तदा किम् ॥ १ ॥ श्यामसुंदर शिखंडशेखर स्मेरहास्यमुरलीमनोहर ॥ राधिकारसिक मां कृपानिधे स्वप्रियाचरणकिंक[1] री कुरू ॥ २ ॥ प्राणनाथ वृषभानुनंदिनीश्री-मुखाब्जरसलोलषट्पद ॥ राधिका पदतले कृतस्थितिस्त्वां भजामि रसिकेंद्रशेखर ॥ ३ ॥ संविधाय दशने तृणं विभो प्रार्थये व्रजमहेंन्द्रनंदन ॥ अस्तु मोहन तवातिवल्लभा जन्मजन्मनि मदीश्वरी प्रिया ॥ ४ ॥ इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचिता राधाप्रार्थनाचतुः श्लोकी संपूर्णा ।

---

[1] किंकर

अथ श्रीगोकुलाष्टकम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीमद्गोकुलसर्वस्वं   श्रीमद्गोकुलमंडनम् ॥
श्रीमद्गोकुलदृक्तारा   श्रीमद्गोकुलजीवनम् ॥ १ ॥

श्रीमद्गोकुलमात्रेशः   श्रीमद्गोकुलपालक : ॥
श्रीमद्गोकुललीलाब्धिः   श्रीमद्गोकुलसंश्रयः ॥ २ ॥

श्रीमद्गोकुलजीवात्मा   श्रीमद्गोकुलमानसम् ॥
श्रीमद्गोकुलदुःखहृनः   श्रीमद्गोकुलवीक्षितः ॥ ३ ॥

श्रीमद्गोकुलसौंदर्यं   श्रीमद्गोकुलसत्फलम् ॥
श्रीमद्गोकुलगोप्राणः   श्रीमद्गोकुलकामदः ॥ ४ ॥

श्रीमद्गोकुलराकेशः   श्रीमद्गोकुलतारकः ॥
श्रीमद्गोकुलपद्मालिः   श्रीमद्गोकुलसंस्तुतः ॥ ६ ॥

श्रीमद्गोकुलसंगीतः   श्रीमद्गोकुललास्यकृत् ।
श्रीमद्गोकुलभावात्मा   श्रीमद्गोकुलपोषकः ॥ ६ ॥

श्रीमद्गोकुलहृत्स्थानः   श्रीमद्गोकुलसंवृतः ।
श्रीमद्गोकुलदृक्पुष्टः   श्रीमद्गोकुलमोदितः ॥ ७ ॥

श्रीमद्गोकुलभोग्यश्रीः   श्रीमद्गोकुललालितः ।
श्रीमद्गोकुलगोपीशः   श्रीमद्गोकुलसर्वकृत् ॥ ८ ॥

इमानि श्रीगोकुलेशनामानि वदने मम ।
वसंतु संततं चैव लीलाश्च हृदये सदा ॥ ९ ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचितं गोकुलाष्टाकं संपूर्णम् ।

अथ अष्टाक्षरनिरूपणम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीकृष्णकृष्णकृष्णेति कृष्णनाम सदा जपेत् ।
आनंदः परमानंदो वैकुंठं तस्य निश्चितम् ॥ १ ॥
सदास्मरेत्तु यः कृष्णं यमस्तस्य करोति किम् ।
भस्मीभवंति तस्याशु महापातकराशयः ॥ २ ॥
यः स्मरेत्तु सदा मंत्रं श्रीकुष्णः शरणं मम ।
अष्टाक्षरं जपेन्नित्यं यमो दृष्ट्वा हि शंकते ॥ ३ ॥
श्रीमंत्रार्थाः प्रकाश्यंते जीवानां कार्यसाधनाः ।
जीवानां हितकार्यार्थं गुरूश्रीविट्ठलेश्वरैः ॥ ४ ॥
श्रीमुखात्कथ्यते सम्यक् सदष्टाक्षरतत्त्वतः ।
विवृतिर्हृदये यस्य सोयं श्रीवल्लभो भवेत् ॥ ५ ॥
श्रीः श्रीसौभाग्यसंप्राप्तिः धनवान्राजवल्लभः ।
कृशब्दः शोषयेत्पापं ष्णशब्दस्तापसंहतिम् ॥ ६ ॥
शशब्दो निर्दहेद्योनिं रशब्दो ज्ञानमाप्नुयात् ।
णशब्देन सदा कृष्णे दृढा भक्तिः सदा भवेत् ॥ ७ ॥
मशब्देन गुरौ प्रीतिः कृष्णरत्नोपदेशके ।
मशब्दे हरिसायुज्यमन्ययोनिं न गच्छति ॥ ८ ॥
इति श्रीकृष्णमंत्रार्थं यो जपेद्विट्ठले रतिम् ।
भक्तिं वैराग्यमाप्नोति भुक्तिमुक्ती करे स्थिते ॥ ९ ॥
सर्वरोगोपशमनं सर्वपापोपनाशनम् ।
ऋद्धिः सिद्धिर्गृहे शीघ्रं वसते सर्वदा स्थिरा ॥ १० ॥
आनंदं परमानंदं सायुज्यं हरिवल्लभम् ।

यः पठेच्छ्रीकृष्णमंत्रं सर्वज्वरविनाशनम् ॥ ११ ॥
भूतप्रेतपिशाचादिव्याघ्रचौरादिसंकटे ।
शत्रवो मित्रतां यांति सर्प दृष्ट्वेव मूषकाः ॥ १२ ॥
कुक्रियाः सर्वरिष्टानि कुग्रहाः सर्वनाशनाः ।
आनंदमूर्तिः कृष्णोऽस्य हृदये वसते सदा ॥ १३ ॥
तस्य कुत्रापि नो दुःखं सुखं सर्वत्र सर्वदा ।
अहोरात्रं जपेन्नित्यं गुरूणां मंत्रमुत्तमम् ॥ १४ ॥
तं हि दृष्ट्वा त्रयो लोका पूतास्युः किमु मानवाः ।
मध्ये च सर्वमंत्राणां मंत्रराजोत्तमोत्तमः ॥ १५ ॥
इदमेव परैकांतभक्तिमान् यः सदा स्मरेत् ।
ऋद्धिः सिद्धिर्गृहे सत्यं कृष्णतात्पर्यसुंदरम् ॥ १६ ॥
भक्तानां हितकार्यार्थं ज्ञातव्यं स्वजनोत्तमैः ।
वेदवाक्ये महावाक्यं पुराणे भारते तथा ॥ १७ ॥
श्रीमद्वल्लभवाक्यार्थं श्रीकुष्णः शरणं मम ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचितमष्टाक्षरनिरूपणं समाप्तम् ।

अथ ललितत्रिभंगस्तोत्रम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

नमः पितृपदांभोजरेणुभ्यो यन्निवेदनात् ।
अस्मत्कुलं निष्कलंकं श्रीकुष्णेनात्मसात्कृतम् ॥ १ ॥
वामजान्वतकलितातिवक्रेतरजानुकम् ।
एतत्संप्राप्तसौभाग्यं विचित्रमणिभूषणम् ॥ २ ॥
नखचंद्रमहः क्षिप्तभक्तसंतापसंततिम् ।
विचित्रभावसंतानविचित्रीकृतमानसम् ॥ ३ ॥

दक्षिणपदतलपद्मं वामप्रपदस्य वामतः प्रकटम् ।
सौंदर्यं किमपितरां प्रकटयति प्रेमवल्लभम् ॥ ४ ॥
विकसितशारदकमलोदरमदहरणेऽपि तत्र पद्माकम् ।
वहता निरवधि रसता निवेद्यते स्वीयभक्तेषु ॥ ५ ॥
भक्तार्तिहरणे काचिन्मर्यादा नैव मन्यते ।
इति ज्ञापयितुं वज्ररेखां धारयति स्फुटम् ॥ ६ ॥
अनुग्रहानिलो यत्र तत्सांमुख्यं भजन् त्यजन् ।
अन्याशां राजते भक्तपदमेवमिति ध्वजम् ॥ ७ ॥
धारयन् ज्ञापयत्येष त्यक्तभक्तान्यदिक्प्रभुः ।
अत एच हि संसेव्यो निर्दोषगुणविग्रहः ॥ ८ ॥
युग्मम् - एतत्पदपंकजमधुमत्तस्यायं निसर्गएवाभूत् ।
नेतरभावं भजते यदंकुशो नित्यमेवास्ति ॥ ९ ॥
कदाचिद्विविधा लीलाः कर्तुं भक्तैः सह प्रभुः ।
एवं भूतो वादयति वेणुमिष्टं करोति च ॥ १० ॥
प्रपदोपरिसंचारिचारूपीतांबरावृतम् ।
गुंजद्भ्रमद्भ्रमरयुग्वनमालातिसुंदरम् ॥ ११ ॥
विविधरूपसुचारूसुगंधयुङ्मृदुलपुष्पचयैरतिसुंदरम् ।
ग्रथितमध्यमदेशमतिप्रियं करयुगेन
हृदि स्त्रजि कामये ॥ १२ ॥
ग्रीवोरःस्थलकटितटकांचीजानुप्रपदयोः सततम् ।
विहरंती वनमाला सक्तासीदलिकुलैर्मत्तैः ॥ १३ ॥
गंभीरनाभिविलसत्कांचीदामलसन्मणीन् ।
स्वरूचा रोचयन्नन्यानप्याकल्पान्बभौ प्रभुः ॥ १४ ॥
त्रिगुणानिलसंचारचलत्प्रांतातिसुंदरम् ।

उत्तरीयं बिभ्रदंसे शुशुभेऽतितरां हरिः ॥ १५ ॥
विविधमहामणिखचितैः परितो मुक्ताफलावलिग्रथितैः
वलयांगदकंकणचयसकलांगुलिभूषणै रेजे ॥ १६ ॥
कट्या कुटिलया कांची भुवनत्रयमोहिनी ।
तनोति सुषमां नाभ्या सह साम्येऽपि दुर्लभाम् ॥ १७ ॥
रसभरभरितं पात्रं नामितमन्यत्र तं रसं कर्तुम् ।
एकत आनतमुन्नतमेकत इह दृश्यते सर्वैः ॥ १८ ॥
कटिगतभावरसानां व्रजांगनाहृत्सु पूरणे सापि ।
अभवत्तथैव हृष्टा दृष्टा परमुपपद्यते कांच्या ॥ १९ ॥
वेणुरवानुगया नवनवचापल्यं समाप्तवत्योच्चैः ।
व्रजतरूणीमानसधनसंपन्नयाऽभूज्जगज्जडवत् ॥ २० ॥
नयनांबुजसौंदर्यं मनसां वाचामगोचरं सत्यम् ।
व्रजसुंदरीनयनमनोऽनुभवैकगतं परं हृद्यम् ॥ २१ ॥
तत्रापि भावगर्भं तरलतरं प्रियतमामुखांभोजे ।
स्थगितं भवदरूणतरप्रांतं प्राकट्यतोऽनुरागमिव ॥ २२ ॥
विचित्रवेणुतानाब्धितरंगांदोलितांचलम् ।
स्थिरं वा तरलं वेति नैवाभूदवधारितम् ॥ २३ ॥
स्मितामृतभरेणात्मभक्तहृत्प्राणपोषकम् ।
तत्रैव लयहेतुर्वा तेषामिति न वेद्म्यहम् ॥ २४ ॥
भ्रूचापसंधितः कर्णावध्याकृष्टः प्रियाहृदि ।
विद्धः प्राणानाजहार स्वस्मिन्नस्मिन् दया न हि ॥ २५ ॥
स्मितकौटिल्यचापल्यारूणिमामृतसिंधुषु ।
[1]मग्नाः कथंचिज्जीवंति भक्तास्तत्तत्स्वभावतः ॥ २६ ॥

---

[1] १. मग्ना जीवति तत्पोषातरे पुष्टास्तदाश्रयाः

शृंगाररससर्वस्वं भक्तभावामृतावृतम् ।
अनुरागचयं ताराश्वैत्यापांगैर्बिभर्त्यसौ ॥ २७ ॥
सालिकुलं कमलकुलं जितं निजाकारमात्रतो जगति ।
प्रकटातिगूढरसभरजितोऽभवत्कुसुमशरकोटिः ॥ २७ ॥
सालिकुलं कमलकुलं जितंनिजाकारमात्रतो जगति ।
प्रकटातिगूढरसभरजितोऽभवत्कुसुमशरकोटिः ॥ २८ ॥
स्निग्धता मुग्धता वापि चातुरी सहजापि वा ।
नैव वर्णयितुं शक्यांऽनुभवंतीभिरप्यहो ॥ २९ ॥
मन्ये गोकुलतरूणीनवनवभावाः स्वराससंजाताः ।
रतिरससुधाब्धिपतितप्लवे
प्लवंतेऽतिसर्गमधुरतराः ॥ ३० ॥
समुंखप्रेक्षणेऽपांगप्रेक्षणं च यथा रसः ।
तथारूणाभी रेखाभिर्ज्ञापयत्यंबुजेक्षणः ॥ ३१ ॥
विरलारूणरेखाभिः सितगर्भस्य नेत्रयोः ॥
आविर्भवति या शोभतां न वक्तुं क्षमा रमा ॥ ३२ ॥
पक्ष्माणि तरूणीभावा नानेतुं नयनाब्जयोः ॥
करांगुलीचयाभानि भासंते परित[1]ः प्रभोः ॥ ३३ ॥
अतिसारस्यतो नेत्रे स रसः परितोऽभवत् ॥
रसाङ्कुराः पक्ष्मरूपा भासंते सुषमास्पदाः ॥ ३४ ॥
आदायादाय भक्तानां भावानतिमनोहरान् ॥
निमेषमिषतः स्वांतसंचयं कुरूते मुदा ॥ ३५ ॥
स्वतः सामर्थ्यमप्येतत्रिलोकीमोहने बत ॥
स्मितं सहायं संप्राप्य यत्करोति न वेद्मि तत् ॥ ३६ ॥

---

१. भवतः

रसपूरैः प्लावयति स्वजनविवेकत्रपाधृतिस्त्वथवा ॥
तानेव तद्रसाब्धिषु मग्नान्कुरूते तदैवैतत् ॥ ३७ ॥
एतत्कार्यस्य भवने प्रतिबंधेऽपि चेश्वरः ॥
न शक्तो प्रतिबद्धो यत्ततस्वभावस्वभावतः ॥ ३८ ॥
तत्रापि चेत् सहायोऽभूदुदा[1]रो वेणुनिःस्वनः ॥
त्रिभंगस्य त्रिजगति न जाने कीदृशी दशा ॥ ३९ ॥
तिष्ठत्वन्यकथैतादृक्स्वरूपं प्रतिबिंबितम् ॥
क्वचित् पश्येत्स्वयं नाथः कां दशां नु भजेत्तदा ॥ ४० ॥
प्रायो न दर्शनापेक्षा यत्स्वयं तद्रसात्मकम् ॥
प्रियाहृदयनेत्रेषु निरूद्धोऽस्ति सुनायकः ॥ ४१ ॥
एतत्संदर्शने तु स्यात् प्रमदाभाव एव हि ॥
तत्तापशामकोऽप्येष कृष्ण एवास्ति नापरः ॥ ४२ ॥
अथवा तद्रसात्मा तद्दर्शनेनाऽतिपोषितः ॥
भवति स्वप्रियावृंदवृतोऽयं गजराडिव ॥ ४३ ॥
कदाचिदथवा प्रेष्ठो वियोगार्त्या तदात्मकः ॥
तासामाविर्भवद्भावैरेव तां शामयत्यपि ॥ ४४ ॥
दृष्ट्यापि रसरूपत्वं मयि जानंतु मामकाः ॥
तदर्थमाविष्कुरूते त्रिभंगं भक्तलोचनम् ॥ ४५ ॥
रसात्मकं स्फुटं स्वस्मिन् भक्तैर्नैवानुभूयते ॥
तदर्थमाविष्कुरूते त्रिभंगं भक्तलोचनम् ॥ ४६ ॥
पुष्टिभक्तिं स्थिरीकृत्य मर्यादा च तदाश्रिताम् ॥
कृत्वा वृदावनक्षोणीमयथापूर्वसंस्थितिम् ॥ ४७ ॥
हृदयंभक्तहृदये स्थिरं लोकान्निजान् परान् ॥

---

१. कलवेणुस्वनस्तदा

पुष्टिदिश्येव सुमुखान् कृत्वा संराजते प्रभुः ॥ ४८ ॥
युग्मम्-उदूबुद्धशृंगाररसस्वरूपो भूषणान्यपि ॥
तादृगेवाखिलांगेषु बिभ्रत्संराजते प्रभुः ॥ ४९ ॥
मत्याद्यगम्यं यद्रूपमल्पकेन मया कथम् ॥
तन्निरूपयिंतु शक्यं तदीयत्वाद्भवेदपि ॥ ५० ॥
तथापि श्रीगोकुलेऽस्मिन्नाविर्भूतो विराजते ॥
अनन्यभक्तैरनिशं पीयते तत्सुधासवः ॥ ५१ ॥
स मत्प्रभुः सदाऽहं तु तत्पादाब्जरजोऽस्मि वै ॥
तत्प्रभावाद्यथाशक्ति वर्णयाम्यविचारयन् ॥ ५२ ॥
अहं च तत्पादपद्मरेणुरस्मीती मत्प्रभुः ॥
स चास्तीति यथाशक्ति वर्णयाम्यविचारयन् ॥ ५३ ॥
स्वतो मल्लोचनमनोवृत्तिर्वृंदावनप्रभुः ॥
बृहद्वनप्रियः शश्वच्छिशिरीकुरुतात्स्वतः ॥ ५४ ॥
अहं तदीय इत्येषा तद्वार्ता रूचिता परम् ॥
तेन प्रसन्नो भवतु दासे श्रीविठ्ठलप्रभुः ॥ ५५ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वर विरचितं ललितत्रिभंगस्तोत्रं संपूर्णम् ।

ज्येष्ठभ्रातृभ्यः पत्रम्

स्वस्ति श्रीमज्जयेष्ठभ्रातृचरणकमलेषु यवीयसो विठ्ठलस्य प्रणामकोटिनिवेदकोयं पत्रदूतः । शमिह, भावत्कमाशासे । अहं भगवदाज्ञया रासोत्सवपर्यन्तं श्रीगोवर्धनधरणचरणारविन्दनिकटे स्थितोऽस्मि । हरिद्वारं प्रत्याज्ञा न जातेति न गतम् । अत्र ममास्वास्थ्यं बहु जातमासीत् । उपवासदशकं कृतम् । अधुना भगवत्कृपया च नैरूज्यं जातमस्ति । कापि चिन्ता न कार्या । अक्काअम्माअत्ताचरणेषु नतयः । अक्का यथा दुःखं न करोति ममास्वास्थ्यं श्रुत्वा तादृक् कर्तव्यम् । भवतापि कापि चिन्ता न कार्या मम, भगवति सर्वत्र । यादवेन्द्रपुरीषु ब्रह्मानन्देषु दीक्षितेषु हरिहरनागनाथचूडादिषु नमस्काराः । विष्णुदासादिष्वाशिषः । अत्रत्यवैष्णवानां नतयः ।

=========

अथ आत्मसुतेभ्यः पत्रम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

स्वस्ति श्रीविठ्ठलदीक्षितानां गिरिधरस्य च-गोविंदबालकृष्णश्रीवल्लभरघुनाथयदुनाथ घनश्यामेषु, गिरिधरस्य च भवतां पुत्रेष्वाशिषः, शमिह, भावत्कं भद्रमाशास्महे, टोडाग्रामपर्यंतं श्रीगोकुलनाथेनकुशलं नीताः स्मः, अत्रैव दोलोत्सवश्च कारितः, गिरिधरविषयिण्यस्मद्विषयिणी च काऽपि चिंता न कार्या, श्रीगवर्धनेश एवावितास्ति, उभयत्रापि सेवा सम्यक्कार्या, कारणीया च, स्वस्वदेहरक्षाः सर्वैः प्रकारैः कार्या, सेवकाः स्वस्वमर्यादायां च रक्षणीयाः, बालकानां रक्षा सर्वैः प्रकारैः कार्या, यद्द्रव्यमागमिष्यति तन्मध्ये तत्कालानुरूपव्ययोपयोगि यावद्भवति तावत्स्थापयित्वा शेषेणावश्यमृणशोधनं कार्यम् व्ययश्च सावधानतया करणीयः, निशि यामिकाः सावधानाः स्थापनीयाः, इतः प्रेषितोऽश्वो गोविंदभट्टेभ्यो दत्तोऽस्तु, अस्माभिस्तं विक्रीय तद्द्रव्यं तैर्ग्राह्यं, पत्रं मुहुः प्रेषणीयं, तत्रत्यः सर्वोंपि वृत्तांतो लेखनीयः, गिरिधरापत्यानां विशेषतः कुशलं लेख्यं, चिंता कापि न कार्या, श्रीगोवर्धननाथोऽस्मत्कुलपतिरस्मद्धितमेव करिष्यति, किमधिकम् । चैत्रवदि ४ गोविंदभट्टेषु गणेशभट्टेषु चाशिषः।। पदकृद्गोविंददासेषु भगवत्स्मरणं वाच्यम्, अनादिषु कृष्णदासादिष्वाशिषो वाच्याः ॥ वासुदेवभट्टैः स्वगृहे गंतव्यं पुरोहितगृहात्, वेंकटप्रभृतिषु कृष्णरायादिष्वाशिषः इति ॥ १ ॥

इति वि० पत्रम् ।

अथ विज्ञप्तिः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

यद्दैन्यं त्वत्कृपाहेतुर्न तदस्ति ममाण्वपि ।
तां कृपां कुरू राधेश यया तद्दैन्यमाप्नुयाम् ॥ १ ॥
सर्वेषां जीवितं लोके दृष्टं सर्वार्थसाधकम् ।
ग्लान्येकफलकं जातमधुना मम जीवितम् ॥ २ ॥
कर्तुं पुनरथाकर्तुमन्यथाकर्तुमीश्वरे ।
सामर्थ्यं यन्मया दृष्टं त्वय्येवातो न संशयः ॥ ३ ॥
तं न पश्यामि यस्याग्रे वार्तां स्वस्य मनोगताम् ।
उकत्वा तदुत्तरं लब्ध्वा मनो विश्रमये क्षणम् ॥ ४ ॥
अतीव नीचा मत्प्राणा मूर्खा अति गतत्रपाः ।
स्वस्थित्ययोग्यकालेऽपि यतस्तिष्ठंति सांप्रतम् ॥ ५ ॥
शास्त्रं नियामकं तावद्यावत्पूर्णा कृपा नते ।
कृपया ते सुपूर्णस्य नैव कोऽपि नियामकः ॥ ६ ॥
सुभगा एव जानंति प्रियासौभाग्यजं सुखम् ।
तद्धीनायास्तदीयेति प्रसिद्धिः शरणं सखि ॥ ७ ॥
प्रियसंगमराहित्याद्व्यर्थाः सर्वे मनोरथाः ।
निरपत्रपतासिद्ध्यै जीवामि सखि सांप्रतम् ॥ ८ ॥
न लब्धस्तादृशः कोऽपि यस्याग्रे स्वमनोगताम् ।
वार्तामुकत्वा स्वमात्मानं क्षणं विश्रामयाम्यहम् ॥ ९ ॥
श्रीमुखालोकनेंतःस्थप्रियस्य च बहिर्गतौ ।
पक्ष्मापकारोपकारौ निर्णेतुं नैव शक्नुमः ॥ १० ॥
अद्य श्वो वा परश्वो वा कदाचित्कृपयिष्यति ।
नाथ इत्याशया सर्वं गतं जन्म करोमि किम् ॥ ११ ॥
तथापि तत्कृपाकांक्षां मनो मे निरपत्रपम् ।

कं वा हेतुं सुनिश्चित्य करोतीति न वेद्म्यहम् ॥ १२ ॥
स्वभावतः सदा मेघः सर्वेषां जीवनप्रदः ।
जाने तस्यैव दौर्भाग्यं सोऽपि यं समुपेक्षते ॥ १३ ॥
त्वदीयत्वमपि ज्ञात्वा मयि कालादयः प्रभो ।
प्रभवंति ततो मन्ये त्वत्कृपाशून्यतां मयि ॥ १४ ॥
एतेषामहमेवास्मि सर्वस्वमतिसुंदरः ॥
जानात्यस्माकमज्ञानेऽप्यतः कर्ता स्वतोखिलम् ॥ १५ ॥
विज्ञप्तौ वाऽपराधे वा पाखंडे वा मदुक्तयः ॥
पर्यवस्यंति कुत्रेति न जानेऽहं विमूढधीः ॥ १६ ॥
दुर्भगाऽसि तथाऽपि त्वं मा त्यज स्वप्रियांतिकम् ॥
कदाचित्कृपया पश्येत्प्रियस्तद्भाग्ययोगतः ॥ १७ ॥
विरहेणाऽतिसप्तां मां स्मरेचेत्प्राणवल्लभः ॥
तदाऽतिद्विगुणं दुःखं सोढूं नैवाऽतिपारये ॥ १८ ॥
राज्ययोग्ये तदाकांक्षा दंडावाप्तयै यथा भवेत् ।
त्वत्सेवायामहं तादृक् तद्वदाप्तो दशामिमाम् ॥ १९ ॥
स्वीयं कृतागसं चेत्त्वं दूरस्थं कुरूषे यदि ।
इतः परोऽधिको दंडस्त्वदीयस्य न विद्यते ॥ २० ॥
वियोगो बाधते तावद्यावद्धृद्येव ते स्थितिः ।
यदा बहिस्तदा नेति विचित्रेयं तव स्थितिः ॥ २१ ॥
भूर्जत्वगिव मद्दोषा निःसरंत्येव सर्वतः ।
तथैवाऽनन्यगतिके त्वत्कृपेति न मे भयम् ॥ २२ ॥
बलिष्ठा अपि मद्दोषास्त्वत्कृपाग्रेऽतिदुर्बलाः ।
तस्या ईश्वरधर्मत्वाद्दोषाणां जीवधर्मतः ॥ २३ ॥
त्वद्वियुक्तस्य जीवस्य तदीयस्यापि नित्यता ।
संगं विना न चैवास्तु विज्ञापनमिदं मम ॥ २४ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरकृता विज्ञप्तिः समाप्ता ॥

अथ व्रजचर्याष्टपदी ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

व्रजानंदकंदं व्रजानंदकंदं घोषपतिभाग्यभुवि जातम् ।
रसिकवरगोपिकापतिरसमाननं तव
जयतु मम दृशि सुजातम् ॥ १ ॥
रूचिरदरहासगलदमलपरिमललुब्धमधुपकलमुखकमलसदनम् ।
अमृतचयगर्वनिर्वासनाधरसीधु
पायय मनोजाग्निशमनम् ॥ २ ॥
स्मितप्रकटितचारूदंतरूचिवदनविधुकौमुदीहृतनिखिलतापे ।
विलसिललिते हृद्यकनककलशद्वये
मारकतमणिरिव दुरापे ॥ ३ ॥
सुभगसुमुखीकंठनिहितनिजबाहुरति-
मत्तगजराज इव रूचिरम् ।
विरहविरहानलं चारूपुष्करचलन -
सीकरैरूरपशमय सुचिरम् ॥ ४ ॥
अरूणतरलापांगसरनिहतकुलवधू
धृतविलोचनसरोजम् ।
मम वदनसुषमासरसि विलसति
सततमलसगतिनिर्गतमनोजम् ॥ ५ ॥
नंदगेहालवालोदितस्त्रीरागसेकसंवृद्धसुरवृक्षम् ।
व्रजवरकुमारिकाबाहुहाटकलतासततमाश्रयतकृतरक्षम् ॥ ६ ॥
व्रजजनश्लाघ्यगुणगोपनातिशयरूचिरालापलीलम् ।
तादृगीक्षणजनितकुसुमशरभाव

भरयुवतिषु प्रकटतरनिटिलम् ॥ ७ ॥
रूचिरकौमारचापल्यजवव्रीडया
बल्लवीहृदयगृहगुप्तम् ।
प्रकटय निजनखरसंचयैः कुसुमशरमिह
जयसित्हतभाववितम् ॥ ८ ॥
घोषसीमंतिनीविद्धद्विरदवेणुकलनिनदगर्जितस्त्वमिहसततम् ।
वचनकरूणाकूतदृष्टदृष्टीरंग
नवजलदमय कुरू सुहसितम् ॥ ९ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचिता व्रजचर्याष्टपदी संपूर्णा ।

अथ श्रीस्वामिनीप्रार्थना ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीराधे प्रियतमदृक्संगमसंजातहासदृक्सलिलैः ।
भवदीयैः स्नानं मे भूयात्सततं न पाथोभिः ॥ १ ॥
भूयान्मेऽभ्यवहारस्तावकतांबूलचर्वितेनैव ।
पानं करूणाकूतस्मितावलोकामृतेनैव ॥ २ ॥
त्रिषवणमिह भवदंघ्रिप्रणतिः संध्या प्रकृष्टदैन्येन ।
जापस्तुतापक्लेशैर्विगाढभावेन कीर्तनं नाम्नाम् ॥ ३ ॥
अस्तंगच्छत्सूर्यांशुशुक्षणौ दिवसदुःखहोमोऽस्तु ।
त्वत्पृष्टप्रियवार्ताकथनं मे व्रह्मयज्ञोऽस्तु ॥ ४ ॥
भवतीनां प्रियसंगमसंजातमनोमहोत्सवेणक्षतः ।
तर्पणमिह सर्वेंद्रियतृप्तिर्भवतान्मनोरथाप्त्या मे ॥ ५ ॥
इत्थं जीवनमस्तु क्षणमपि भवदंघ्रिविप्रयोगे तु ।
मरणं भवतादेवं भावे शरणं त्वमेव भव ॥ ६ ॥

इति श्रीविठ्ठलेशविरचिता श्रीस्वामिनीप्रार्थना समाप्ता ।

अथ श्रीस्वामिन्यष्टकम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

रहस्य श्रीराधेत्यखिलनिगमानामिव धनं
निगूढं मद्वाणी जपतु सततं जातु न परम् ।
प्रदोषे दृङ्मोषे पुलिनगमनायाति मधुरं
चलत्तस्याश्चंचच्चरणयुगमास्तां मनसि मे ॥ १ ॥
अमंदप्रेमार्द्रप्रियकरतलं कुंकुममिषत्
कुचद्वंद्वे वक्षस्यपि च दधती चारू सततम् ।
कृपां कुर्याद्राधा मयि रूचिरहेमाद्रिशिखरो-
दितप्रावृण्मेघस्मरहरहरी चूचुकमिषात् ॥ २ ॥
निमंत्र्य प्रातर्या निजहृदयनाथं निरूपमा
समाकार्यैकाकिन्यतिघनवनादात्मभवने ।
विधायान्नं स्वादु स्वयमतिमुदा भोजयति सा
मयि प्रीता राधा भवतु हरिसंगार्पितमनाः ॥ ३ ॥
निधाय श्यामांसे निजभुजलतामिंदुवदनं
कटाक्षैः पश्यंती कुवलयदलाक्षी मधुपतेः ।
मुदा गायंती या मधुर मुरलीजातनिनदा-
नुसारं तारं सा फलतु मम राधावदनयोः ॥ ४ ॥
अमंदप्रेमार्द्रात्किसलयमयात्केलिशयना-
दुषस्युत्थायाब्जारूणतरकपोलातिरूचिरा ।
गृहं यांती श्रांतिस्थगितगतिरास्यांबुजगतं
घनीभूतं राधा रसमनुदिनं मे वितरतु ॥ ५ ॥
प्रियेणाक्ष्णा संसूचितनवनिकुंजेषु विविध-

प्रसूनैर्निर्मायातिशयरूचिरं केलिशयनम् ।
दिवाप्येषा गुंजन्मधुपमुखरे धीरपवना-
श्रितेक्रीडंती मे निजचरणदास्यं वितरतु ॥ ६ ॥
कदंबारूढं या निजपतिमजानंत्यहनि तत्
तले कुर्वंती स्वप्रियतमसखीभिः सह कथाम् ।
अकस्मादुद्वीक्ष्य स्फुटतरलहारोरसमति
स्मितस्मेरव्रीडाननमुदितदृक् सा मम गतिः ॥ ७ ॥
न मे भूयान्मोक्षो न पुनरमराधीशसदनं
न योगो न ज्ञानं न विषयसुखं दुःखकदनम् ।
त्वदुच्छिष्टं भोज्यं तव पदजलं पेयमपि तद्
रजो मूर्ध्नि स्वामिन्यनुसवनमस्तु प्रतिभवम् ॥ ८ ॥
इति श्रीमद्गोपीजनचरणपंकेरूहयुगा-
नुगत्यानंदांभोनिधिनिभृतवाक्कायमनसा ।
मयेदं प्रादुर्भावितमतिसुखं विठ्ठलपदा-
भिधेयं मय्येव प्रतिफलतु सर्वत्र सततम् ॥ ९ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितं श्रीस्वामिन्यष्टकं समाप्तम् ।

अथ श्रीस्वामिनीस्तोत्रम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

यदैव श्रीराधे रहसि मिलति त्वां यदुपति
स्तदैवाकार्याहं निजचरणदास्ये निगदिता ।
मुदा चंद्रावल्या शशिमुखि कृतार्थास्मि भवती
तथा संपन्ने मां स्मरति यदि संप्रेषणविधौ ॥ १ ॥
कदाचित्कालिंद्यामहनि तरलापांगरूचिरा
समाप्लुत्याकंठं किमपि परिधायाशु वसनम् ।

स्मरेन्मां चेदुत्तारितवसनसंक्षालनविधौ
कृतार्थोहं भूयान्निजचरणदासीति भवती ॥ २ ॥
तमिस्रायामस्रावितचरणमंजीरनिनदा
कथंचित्संप्राप्ता प्रियतमनिकुंजं चरणयोः ।
मुदा तल्पारोहे कमलमुखि संमार्जनविधौ
कृतार्थैवाहं चेत्स्मरति भवती मां सकृदपि ॥ ३ ॥
विविधबंधरतिश्रमसीकराकुलकपोलमुदीक्ष्य हरिं यदि ।
स्मरसि मां व्यजनार्थमपि क्षणं
सुमुखि धन्यतमास्मि तदा ह्यहम् ॥ ४ ॥
यदि स्नानव्याजात्तरणितनयातीरमहनि
प्रयातुं प्राणेशोचितविविधवस्तूनि सुमुखि ।
गृहीत्वा गुप्तानि स्मरसि परिधेयस्ववसनं,
गृहीतुं मां स्वामिन्यहमिह कृतार्थैव हि तदा ॥ ५ ॥
कुतूहलाभिवासितप्रियेण पाणिकर्षणा
दितस्ततोविपाटितां स्वकंचुकीमतिप्रियाम् ।
प्रदातुमुन्नतांगि मां सकृद्यदि स्मरस्यहं,
तदा मुदास्मि राधिके कृतार्थतापदं गता ॥ ६ ॥
चारूप्रसूनमयतल्पगता स्वनाथे
तांबूलचर्वितमुदारमुखांबुजस्थम् ।
दातुं स्थिते निजमुखाब्जगतं प्रदातुं
मां चेत्स्मरस्यनुचरी क्व तदा नमामि ॥ ७ ॥
निकुंजे पुष्पालीरचितशयनात्केलिजनित
श्रमांभःसंक्रांताननकमलशोभाहृतमनाः ।

समुत्थायायांती सहजकृपया केलिदलित
स्रजं दातुं राधे स्मरसि यदि मां त्वं किमपरैः ॥ ८ ॥
यदा चलसि मार्गतः शयनभावशेषे मुदा
पदांबुजमलंकरोष्यमलकुंकुमं त्वं तदा ॥
मुहुः सुमुखि राधिके किमधिकं तु संप्रार्थये
सदा भवतु मे भवच्चरणपंकजारक्तता ॥ ९ ॥
प्रियतमकरपद्मस्पर्शभावेक्षणोद्यद्रस
भरजवरासामंदमोदाकुलानाम् ॥
प्रतिपदतलरूग्भिर्गोपसीमंतिनीना-
मरूणतरहृदंभोजन्मने मे नमोऽस्तु ॥ १० ॥
यावंति पदपद्मानि भवतीनां हरिप्रियाः ॥
तावद्रूपः सदा दास्यं करवाणि तदा तदा ॥ ११ ॥
गेहे निकुंजं निशि संगतायाः
प्रियेण तल्पे विनिवेशितायाः ॥
स्वकेशवृंदैस्तव पादपंकजं संमार्जयिष्यामि
मुदा कदापि ॥ १२ ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचितं श्रीस्वामिनीस्तोत्रं समाप्तम् ।

अथ स्वप्नदर्शनम् ।

श्रीकृणाय नमः ।

कुसुमशरशरप्रांताहितदुःख-
मिवाधुनाच्छस्वरकरकमलनखरं बिभ्रतम् ।
मकरकुण्डलमंडितगंडमंडल
प्रभोद्योतितभुवनत्रयम् ॥ १ ॥

अतिसुभगकिंचिदुच्चचिबुकम्
अधरबिंबविजितबिंबम् ॥ २ ॥
निजवाक्पीयूषसरित् सरस्वतीभि-
रिवानेकरेखाभी रंजिताधरम् ।
कनकसूत्रसूत्रितबृहदतिसुभगामलमुक्ता
फलसंशोभिश्वासदरोन्नतिनतिमन्नासापुटम् ॥ ३ ॥
कुपितकुसुमशरशरयुगेनेव
श्रोत्रकृताग्रिमगतिप्रतिबंधजनितरोषेणेवेषल्लोहितेन ।
त्रिभुवनविजयव्यग्रेणेवातिचपलेन
रससरसिजभ्रमोद्भ्रांतभ्रमरेणेवातिश्याममध्येन
नयनयुगेन दृश्यं रतिपतिशरासनकुटिलभ्रुवम् ॥ ४ ॥
प्रथमं मलयजतिलकं मृगनाभिजं तदंतराले च ।
तन्मध्येऽपि च मुक्ताफलरचितं बिंदुमादधतम् ॥ ५ ॥
अतिवक्ररूचिरचिकुरेरावृतवदनांबुजं सख्यः ।
दरहासविगलितामलपरिमललुब्धैरिव भ्रमरैः ॥ ६ ॥
अलकोद्ग्रथितकुसुमैरावृतवदनांबुजं रात्रौ ।
राकाधीशमिवाखिलनक्षत्रैरावृतं गगने ॥ ७ ॥
पद्मरागप्रतिभटवत्कर्णिकारशोभिकर्णो
परिभागं गुंजापुंजसंवलितबर्हिबर्होद्ग्रथित
विविधमणिजालमुक्ताफलप्रकरसंकीर्ण
कुसुमाकलशिखराहितनीलमण्युपरिस्थितस्थूल
मुक्ताफलसंशोभिमुकुटविराजमानोत्तमांगम् ॥ ८ ॥
विविधकुसुमोद्ग्रथितसुभगमेचककेशपाशं
पवनानीतनिजविविधप्रसूनप्रकर-

प्रसारिपरिमललुब्धमधुकर
निकराकुलवनमालाधरम् ॥
त्रिभंगसंदर्शितदक्षिणचरणतलं
करकमलकलितललितवंशीकलरवेण
विद्रावितमुनिगणसमाधि
निखिलवृंदाविपिनंसमाधिस्थ
मानसीकृताशेषपक्षिगणं
चित्रन्यासीकृतत्रिभूवनं निजमुखामोदभ्रमद्
भ्रमरझांकृत्युपश्रुतिगानं रतिपतिजयपताकामिव
मनोभवसिद्धिमूलमिवतार्तीयपुमर्थ
सिद्धांतरहस्यमिव निखिलनितंबिनी-
मनः समाकर्षण मंत्रविन्महीभूषण
मणिमिव व्रजसौभाग्यमिवमूर्तिमत्
त्रिभुवनसुषमामिव त्रिलोकीनयनजनुःसाफल्यमिव
प्रतिबिंबितविविधनिकुंजकुसुमैरखिलसुर-
पूजितमिव अखिलपुण्यपुंजमिवापश्यम् ॥
ततः प्रेमातिभरमनसा
सहेंद्रियरूपामृताब्धिप्रत्यंगतरङ्गेषु
चिरंनिमग्ननयनमीनयुगलाऽहमासम्
ततस्तत्प्राप्तिमाशंसमानाया निद्रा विद्राविता बभूव ॥
ततः प्रतिक्षणप्रवृद्धप्रचरप्रेम-
प्रोद्यत्पुलकसीत्कारहमित्थं व्यलपम्-
हा हा नाथ शरण्य
हा हा गोपीजनाधार

हा हा वृंदावनभूषण
हा हा सानंदानंदसर्वस्व ॥ ९ ॥
वचंनमरचयदियता कालेन विधिस्तदास्येंदोः ।
अवलोकेऽखिललोकीसुषमास्पदपादपद्मेश ॥ १० ॥
अहह प्रियसंगेन विना कथममहं क्षणं
जीविष्ये, बल्लवीवृंदवल्लभस्य वियोगतः ॥ ११ ॥
प्रथमं भवतोऽदर्शनोद्वेगेनापि दुःखसंतानम् ।
अधुना भवतो दर्शने दुःखं प्राप्तं त्वदप्राप्त्या ॥ १२ ॥
भवतीति किमित्ययं प्रसंगो-
भवदित्थंप्रिय मे मनोरथेऽपि ॥
न हि संभवतिभ्रमादपीश
व्रजगोपीजनजीवनांघ्रिपद्म ॥ १३ ॥
सर्व मधुरिमासीम तावकं गोकुलेश्वर ।
यदि त्वद्विरहो न स्यादक्षमः स्वाश्रयेक्षणे ॥ १४ ॥
एवमुरूधाश्वस्तं विलपंतीमूर्च्छिताऽहमासम् ।
ततश्चिरेण श्रुतिपथगतप्रियवंशी-
निनादैर्मंत्रैरिव विगतमूर्च्छाहमभवम् ।
ततो मामियं दुःखितां सखी तत्रापश्यत् ।
ततो मद्दुःखदुःखिता तामहं प्रोवाच
स कोऽपि सखि सानंदनंदाद्युत्संगलालितः ।
करोति सुषमासीमां मन्मथोन्मथितो हि सः ॥ १५ ॥
तं न पश्यामि कः श्यामसुंदरं दर्शयेत्सखि ।
मुरलीकलनादेन मोहयंतमदो जगत् ॥ १६ ॥
कापि सखी मम संप्रति वरिवर्ति

किमु व्रजाधिपप्राणा ।
या नंदसूनुमुरलीतरलं चेतः समादध्यात् ।। १७ ।।
गताऽऽसमद्याहमये कलिंद-
कन्यातटं तत्रतमालनीलम् ।
त्रिभंगमस्मत्कुलधर्मधैर्य-
भंगंचतुष्पादधनं त्वपश्यम् ।। १८ ।।
किं कुर्मः क्वनु यामः
क्वनु तिष्ठामः किमेतदासीन्नः ।
इतिचिंतासंताना बुद्धेः पारंगता गोप्यः ।। १९ ।।

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितं स्वप्नप्रदर्शनं समाप्तम् ।

अथ प्रबोधः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

जयजय तुहिनकरकरनिकरकुड्मलितकमलावली-
निलीनतया निवृत्तमधुकरनिकरमधुरतरोद्
घोषोद्धतिविहतनिद्र भद्र सुभद्राग्रज ।। १ ।।
जयजय निजमुखकमलामल-
परिमला घ्राणजनितसुखातिशयेनैव
संजातसुखनिद्राविद्रावणभियेव
नयनयुगलखंजरीटोन्मीलनभियेव
झंकाररहितैरलिभिरिवालकशतैः
परिवृतवदनारविंद गोविंद ।। २ ।।
जयजय निशाकरकरविकच
कुवलयकोशनिर्यातदिवाकरकरनिकरकुंचित

कमलावलिकोशस्थितिजनितमधुरमधुपानोन्मोद
मुदितभृंगांगनारवमधुरतरोद्घोषविद्रावितनिद्र
निखिलगोपीजनजनितनिजाधार-
हिंदोलांदोलनचलदमलवलयझणत्कारेण
मधुरतरनिनदवीणागीतादि
भिरून्निद्रनयनखंजरीटयुगल ।। ३ ।।
जयजय ततः किंचिदुन्मीलनोन्नत
भ्रूलतासमशरासनच्युतकुसुमविशिखद्वयेनेव
गोपीजनवदनशरदिंदुविभ्रमसंचरत्खंजनयुगलेनेव
हिंदोलांदोलनचलदमलसुभग
बल्लवीगंडमण्डलस्फुरत्ताटंकमार्तण्ड
भ्रमविकसितकमलद्वयेनेवारूणतरा-
मलराधाधरदीधितिकिर्मीरितदरहसन
प्रकटरदनावलीतुहिनकरप्रतिभटप्रभाजनित
शारदशर्वरीपत्युदयभ्रमविकसित
कुमुदद्वयेन प्रकटितनयनयुगे
नेक्षितनिखिलनितंबिनीवृंद ।। ४ ।।
जयजय निजदृगंतपातसोपानसमारूढ-
मकरकेतुभिर्निजवदनशरदिंदु
संफुल्लातिलोललोचनकुवलयाभिरनल्पाकल्प
भूषिताभिर्निजनितंबबिंबालंकृतसुधाकरकरधवल
विशदसुभगतल्पाभिर्हरिकरकमल-
नखशरसंपातपराजितानंगपृतनाभिरिव
विगलितकंचुकांचलनितंबांबर-

भूषाभिरतिसुभगाविशदजघनकनकासनोपवेशित
प्रियाभिर्निजनखदृगंतविविध
प्रसूनार्चितवल्लभाभिः सुरतविद्याविनोदचतुराभि-
र्भावाधिगमसमये प्रियवियोगशंकयांतर्नयनद्वारं
प्रवेश्य पिहितकपाटाभिरिव
निमीलितनयनाभिः क्रीडित ॥ ५ ॥
जयजय पुनरतिनिर्वृतिविहितनिद्र जागृहि जागृहि ॥ ६ ॥
नयावदेष कुंकुमारूणांशुरिंदिरापते
पुरंदरीयदिङ्मुखंसमेति तावदुत्थितः ।
प्रमार्जयाननांबुजं निजाधरं च सुंदरं
कदंबशोभितांतरस्वतल्पमन्मथोदयम् ॥ ७ ॥
न चेदमी शमीतरूप्रसूनतल्पकंचुकं
नखक्षतं च मेचकाधरं सकुंकुमं मुखम् ।
विलोक्य नागरा जनास्तईदृशीं तव स्थिति
प्रभो सभासु भाषितुं
समुज्झितोक्तयो न हि ॥ ८ ॥
स्फुरत्त्वन्मुखांभोजशोभानिवृत्त
स्वसौंदर्यगर्वाचलः शर्वरीशः ।
ह्रिया मज्जति क्षीरवारांनिधौ
तन्नखालिच्छटाभिश्च तुच्छीकृतोऽयम् ॥ ९ ॥
दिवाकरोऽयमुत्कटस्त्वदंघ्रिपंकजार्हणं
विधातुमागतोंबुजैस्तदर्हणं सभाजय ।
कलिंदजा त्वदाननावलोकनाय दृक्सरो-
जनूंषि संप्रसारयत्यनंगकोटिसुंदर ॥ १० ॥

स्फुरत्सरोजगनिर्गतद्विरेफथूधगायका
यशोवितन्वते दिशां शुभाय दर्शनार्थिनः ।
जगद्विलोचने हरे कुरूष्व सार्थजन्मके
कृपां कुरूष्व विठ्ठले स्वपादपद्मसेवके ॥ ११ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितः प्रबोध समाप्तः ।

अथ गुप्तरसः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

पयोदध्यामिक्षाभिनवघृतगोधूमचणके-
क्षवैरत्युत्कृष्टाविविधरसभोज्यं त्वतिमुदा ।
विधायाधायार्थाचितरूचिरपात्रेषु रहसि
प्रियं प्राप्यांकस्थं किमपि समवोचत्प्रियतमा ॥ १ ॥
अस्मदीयपदार्थानां भोगः कार्यसत्वयैव हि ।
अन्यथा मार्गमर्यादा नङ्क्षत्यंभोजलोचन ॥ २ ॥
इतरोपयोगशंकादवदहनसुतप्तमंतरस्माकम् ।
स्वांगीकृतिनवजलदैः शिशिरय गोपीजनप्राण ॥ ३ ॥
लोकविगीतं नाथ स्फुटमस्माभिस्तथाकृतं तस्मात् ।
बालकलीलाप्रौढ्या त्वयैव संपादनीयः सः ॥ ४ ॥
कार्या व्यावृतिरन्येषां यदास्माभिस्तदा तथा ।
यतनीयं समुद्वेलबाललीलामिवाचर ॥ ५ ॥
रजतमयेऽप्यतिसूक्ष्मे पात्रे नवनीतमतिनवं निहितम् ।
शाणे शिक्ये मुक्तागुच्छवति त्वं गृहाणेदम् ॥ ६ ॥
तन्निकटे त्वस्ति सिता हैमे पात्रे तदग्रिमे शिक्ये ।
सुशृतं पयः सितैलाकर्पूरयुतं च पेयं तत् ॥ ७ ॥

दुग्धमध्ये हैमपात्रं सूक्ष्मं निहितमस्ति मे ।
सुखेन तेन तत्पानं कुरू मत्प्राणवल्लभ ॥ ८ ॥
शृतदुग्धमोदकानि प्रियैतदुपरिस्थकनकमयपात्रे ।
निहितानि संति सुहितान्यस्माकं त्वत्करस्पर्शात् ॥ ९ ॥
सुशृतमाहिषदुग्धघटोऽपि तन्निकटमेव
च शिक्यगतः प्रिय ।
रूचिरमृन्मयपात्रपिधानयुक्तव
मुखांबुजसंगममिच्छति ॥ १० ॥
एकैकं त्वन्मुखांभोजे यथा माति तथा कृतम् ।
तदग्रेऽस्ति नवे शिक्ये कर्कटीबीजमोदकम् ॥ ११ ॥
सितालवंगकर्पूरादिभिरातिक्तमुत्तमम् ।
नवमृन्मयपात्रेऽस्ति दधिशिक्येऽतिचित्रिते ॥ १२ ॥
केवलेनैव दध्ना यदासिक्तं सुशृंत पयः ।
तद्दध्यतिघनं स्वादु शिक्येऽस्ति नवकांचने ॥ १३ ॥
गोधूमचणकपिष्टामिक्षा मिष्टा विनिर्मिता रस्याः ।
ते संत्यर्थाः पीतश्वेतश्यामेषु शिक्येषु ॥ १४ ॥
निगदितशिक्यसमूहांतरतुर्ये पद्मरागमयशिक्ये
तत्र स्तः शिखरिण्यौ नवमृन्मयपात्रयोर्नाथ ॥ १५ ॥
संधितचूतार्द्रकजंबीरफलः सत्करीरादिः ।
अतिरोचकस्तदग्रिमशिक्येऽस्ति नवांबुदश्याम ॥ १६ ॥
उच्चैःस्थितशिक्यानामर्थनैकत्रसाधनानि परम् ।
पीठोलूखलभांडान्यस्माभिः संति निहितानि ॥ १७ ॥
षड्रसमयाः पदार्थाः संयावाश्चातिचित्ररूपांताः ।
योग्यस्थाने निहिता महानसे संति भूयिष्ठाः ॥ १८ ॥

कियदवधि ते पदार्थास्त्वदेकभोग्याः सुवर्णनीया मे ।
त्वं भुंक्ष्वाशु सरामोवयस्यवृंदैः सहागत्य ॥ १९ ॥
एवमेवाखिला नोंतःसदनेषु त्वदाशया ।
संपाद्य निहिताः संति पदार्था भावसुंदर ॥ २० ॥
वत्सविमोकं तोकप्रपीडनाद्यनयवृत्तमिव चात्र ।
संकेतम्स्मदीयं संगोपयितुं त्वया कार्यम् ॥ २१ ॥
अस्माभिरप्युपालंभ इवादेयस्तदर्थकः ।
मातृपादाब्जनिकटे प्रक्ष्यामस्त्वां तदापि च ॥ २२ ॥
अधिकं किं तु वक्तव्यं यथैवास्मन्मनोरथः ।
पूर्णो भवत्ययं नाथ तथा पश्य त्वमातुराः ॥ २३ ॥
यद्यपि लोकविगीतं व्रजेशसूनोस्तवेदृशं करणम् ।
निजजनहृदयांनंदप्रदायकत्यवादतिश्लाध्यम् ॥ २४ ॥
इत्थं स्वीयगृहेऽपि च क्व च
तत्करणेन बाल्यमौग्ध्यं ते ॥
ज्ञात्वा स्नेहातिशयात्सर्वे त्वां लालयिष्यंति ॥ २५ ॥
अस्मदीयमखिलं भवदीयं
तेन तत्र ग्रहतो न परस्य ॥
कस्यचिन्ननु भविष्यति बुद्धि
दोंष इत्यमलवस्तुनिसर्गात् ॥ २६ ॥
न ज्ञास्यत्यन्योऽपि प्रियावयोश्चरणटैणुरेष परम् ।
श्रीविठ्ठलाऽतिगोप्यं सर्वमिदं वेत्ति वृत्तांतम् ॥ २७ ॥
इति प्रियतमावृंदमुखपद्मवचो मधु ॥
रसायनमिवापीय तथैव प्रभुराचरत् ॥ २८ ॥
यदोपालंभमिव ताः कर्तुं मातृपदांतिके ॥

गतास्तदा प्रियतमप्रेक्षणेन विलक्षणाः ॥ २९ ॥
तरंगा इव रागाब्धेरूदिताः प्रिययोर्मिथः ॥
भावा वक्तुमशक्यास्ते विज्ञेयास्त्वत्कृपाबलात् ॥ ३० ॥
अयं मनोरथोऽन्यत्र भविता नैव पूरकः ॥
नान्याच्छ्रीगोकुलाधीशाज्ज्ञात्वाप्यन्यो
न भावितः ॥ ३१ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितो गुप्तरसः समाप्तः ।

अथ रक्षास्मरणम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सदा सर्वात्मभावेन स्मर्तव्यः स्वप्रभुस्त्वया ॥
यादृशास्तादृशा एव महांतस्ते पुनंति नः ॥ १ ॥
पितृपादवचो जातु न विस्मर्तव्यमुत्तमैः ॥
दोषा हरौ न संत्येव तथा भक्ताहिता क्रिया ॥ २ ॥
स्फुरंति चित्तदोषेण मूलं तस्य बहिर्दृशिः ॥
भवत्संगाय भवता वृत्तं गोवर्धनोद्धृतम् ॥ ३ ॥
सर्वं श्रुतं तेन चिंत्तमुपेक्षायां प्रवर्तते ॥
वयं सर्वात्मना सर्वे कृष्णेनैवात्मसात्कृताः ॥ ४ ॥
अतश्चिंतां नैव कुर्मः स एवाखिलकृद्यतः ॥
सततं गोपिकाधीशपदांभोजप्रभावतः ॥ ५ ॥
हृदि कार्यं चितितं यत्तत एव फलिष्यति ॥
निवेदितात्मभिन्नेषु सदौदासीन्यमाचरेत् ॥ ६ ॥
प्रावाहिकास्तेऽपि चेत्स्युरुपेक्षैवोचिता तदा ॥
सिंचत्यभिनवजलदे गिरिशिखरं

संततामृतधाराभिः ॥ ७ ॥
दवदहनादतिभीता चातक्याशावलंबाऽऽस्ते ॥
सरसि कुशेशयमास्वादितुमागच्छंस्ततो मार्गे ॥ ८ ॥
यदि कनककमलपाने नासीत्तोषः किमन्येन ॥
नात्र कुशेशयमानस प्रेयानन्यो यतः
प्रियो मधुप ॥ ९ ॥
तस्मिंस्तुष्टे तोषस्ते दौःस्थ्यं निरूपधि स्नेहात् ॥
यद्यलिरपि निरूपाधित्वेन स्वाभव्यतः
समागच्छेत् ॥ १० ॥
निरवधि तपोऽस्य परमं प्रभवेदेवेति किं वाच्यम् ॥
अंगीकृतजनजनितापराधकूटक्षमाविनोदस्य ॥
अंगीकृतश्च नित्यं वदंतु
कोऽन्योऽस्य साम्यमियात् ॥ ११ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचित्तं रक्षास्मणं समाप्तम् ।

अथाद्या (वृत) चतुःश्लोकी

श्रीकृष्णाय नमः ।

प्रसीदतु सदा रासलीलारसपयोधिषु ॥
निष्कलंककलानाथो भवद्वाचो मदीश्वर ॥ १ ॥
पूर्वमिंद्र प्रति प्राह ततो भकत्याग्रतो हरिम् ॥
दृष्ट्वा तत्प्रार्थयामास पुष्टिर्दृष्टफला यतः ॥ २ ॥
आद्ये तु पुष्टिमार्गीयो धर्मः स्मरणकीर्तने ॥
सेवा चेति त्रयं तेन प्रार्थितः स निरूप्यते ॥ ३ ॥

आत्मनश्चाधिकारित्वमुत्तमं दीनभावतः ॥
प्रार्थनीयं तया तस्य साधनं च तथोच्यते ॥ ४ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचिता (वृत्त) चतुःश्लोकी समाप्ता ।

अथ द्वितीया चतुःश्लोकी ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सदा सर्वात्मभावेन भजनीयो व्रजेश्वरः ॥
करिष्यति स एवास्मदैहिकं पारलौकिकम् ॥ १ ॥
अन्याश्रयो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ॥
स्वकीयेष्वात्मभावश्च कर्तव्यः सर्वथा सदा ॥ २ ॥
सदा सर्वात्मना कृष्णः सेव्यः कालादिदोषनुत् ॥
तद्भक्तेषु च निर्दोषभावेन स्थेयमादरात् ॥ ३ ॥
भगवत्येव सततं स्थापनीयं मनः स्वयम् ॥
कालोऽयं कठिनोऽपि श्रीकृष्णभक्तान्न बाधते ॥ ४ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरोक्ता द्वितीया चतुःश्लोकी समाप्ता ।

==========

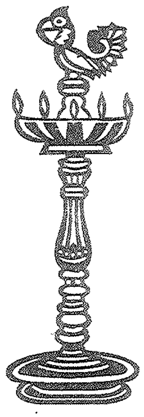

अथ विज्ञप्तयः ।

तत्र प्रथमा विज्ञप्ति ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

कियान्पूर्वं जीवस्तदचितकृतिश्चापि कियती
भवान् यत्सापेक्षो निजचरणदाने बत भवेत् ॥
अतः स्वात्मानं स्वं निरूपममहत्त्वं व्रजपते
समक्ष्यास्मन्नेत्रे शिशिरय निजास्यांबुजरसैः ॥ १ ॥
स्वदोषाञ्जानामि स्वकृतिविहितैः साधनशतै-
रभेद्यांस्त्यक्तुं चापटुतरमना यद्यपि विभो ॥
तथापि श्रीगोपीजनपदपरागांचितशिरा-
स्त्वदीयोऽस्मीति श्रीव्रजनृप न शोचामिमुदितः ॥ २ ॥
धृतं यदर्थे वपुरेतदासी
त्तदिच्छया यद्भविता तदस्तु ॥
प्रभो कृपालो यदि रोचते ते
विज्ञापनीयं न कदापि किंचित् ॥ ३ ॥
यमंतरेण क्षणमप्यशक्यं
यो मन्यमानः स दिनान्यमूनि ।
नयामि तेनापि विना यदित्थं
किमस्ति कापट्यमितोऽधिकं मे ॥ ४ ॥
आसारैः पीडितं स्वं व्रजमवितुमधादाशु गोवर्धनाद्रिं
दावाग्नि दह्यमानं तमपिबदमिताऽसह्यभक्तार्तिभीतिः ।
गोपस्त्रीविप्रयोगानलमुपशमयन्नेति गोष्ठं दिनांते
सोऽपि श्रीगोकुलेशः किमिति
करूणया मामिहोपेक्षते स्वम् ॥ ५ ॥
जानामि मंदभाग्योऽहं यदर्थं गोकुलेश्वरः ।

भक्तक्लेशासहिष्णुत्वस्वभावं कुरूतेऽन्यथा ॥ ६ ॥
आशातृणावलंबेन त्वद्वियोगाधिवारिधिम् ।
अनुग्रहगरिष्ठोऽतितरामिह तराम्यहम् ॥ ७ ॥
अंबुदस्य स्वभावोऽयं समये वारि मुंचति ।
तथापि चातकः खिन्नो रटत्येव न संशयः ॥ ८ ॥
यद्यप्यहमपराधी तथापि तव चरणसेवकोऽस्म्येव ।
एवं सत्येवं मयि करणं नैवोचितं नाथ ॥ ९ ॥
कालकर्माधीनतां यत्करोषि मयि सुंदर ।
तदप्यनुचितं यस्मात्त्वदीयोऽस्म्युररीकृतः ॥ १० ॥
स्वतंत्रत्वेन मर्यादां मनुषे नैव चेत्प्रभो ।
श्रीगोकुलप्रभुरसि तेनैवं दीनतां ब्रुवे ॥ ११ ॥
सर्व साधनशून्योऽहं सर्वसामर्थ्यवान् भवान् ।
श्रीगोकुलप्राणनाथ न त्याज्योऽहं कदापि वै ॥ १२ ॥
यत्करिष्यसि तन्नाथ स्वत एव करिष्यसि ।
अतो मुहुः किं वदामि श्रीगोपीजनवल्लभ ॥ १३ ॥
एकोऽपि रेणुर्व्रजभूषणाढ्याः
पातुं क्षमः सर्वत एव सर्वम् ।
अशेषतत्पादसरोजरेणु
सनाथसर्वस्य कुतोऽस्ति मे भीः ॥ १४ ॥
घुणकीटवदेव योंतरंतश्चरति प्राणभृतामशेषसारम् ।
अपगच्छति नाप्युपायलक्षैर्व्रजनाथ
प्रणयः स किं सुखाय ॥ १५ ॥
त्वन्नामोच्चारणेऽप्यस्ति न जीवेष्वधिकारिता ।
अलौकिकत्वात्त्वन्नाम्नस्त्वद्वाचोऽलौकिकत्वतः ॥ १६ ॥

एवं सत्यपि जानामि त्वन्नामादिप्रभाववित् ।
उद्यदेव स्वयोग्यां तां कुर्वदेव हि राजते ॥ १७ ॥
त्वदंगीकृतयो जीवेष्वधिकारा यतः प्रभो ।
अतस्ते न विचारार्हाः कृपां कुरू कृपानिधे ॥ १८ ॥
साधिता भवतु साधितार्थता
बाधिताथ विहिताधिकारिता ॥
क्वापिकापि गतिरूत्सुकास्म्यहं
राधिकाचरणदासिका परम् ॥ १९ ॥
मदीयोऽयमिति ज्ञात्वा न कस्मै त्वं प्रसीदसि ।
यादृशस्तादृशो वाहं तव चेत्किं विलंबसे ॥ २० ॥
आचार्यचरणैरूक्तं दैन्यं त्वत्तोषसाधनम् ।
स्वल्पं बहुतरं वापि तदस्तीति प्रसीद मे ॥ २१ ॥
प्रभुस्त्वमेव मे नाथ यत्करोषि वरं हि तत् ।
तथाप्यधीरतामेव मानसं मेऽवलंबते ॥ २२ ॥
यदि प्रसन्न एवासि त्वदीयोऽहं न चान्यथा ।
न चेदहं तथैवास्मि स्मर स्वानुग्रहं मयि ॥ २३ ॥
यादृशी मे कृतिर्नाथ तस्याः फलमिदं कियत् ॥
यादृशस्त्वं प्रभुः किं तु तादृगेव विधीयताम् ॥ २४ ॥
अपि मे सापराधस्य शिक्षितस्याप्यजानतः ॥
हा नाथ पालनीयस्य किमुपेक्षोचिता तव ॥ २५ ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरकृता प्रथमा विज्ञप्तिः समाप्ता ॥ १ ॥

=========

अथ द्वितीया विज्ञप्तिः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

यदि तुष्टोऽसि रूष्टो वा त्वमेव शरणं मम ।
मारणे वारणे वापि दासीनां नः प्रभुर्गतिः ॥ १ ॥
त्वद्वियोगे य आद्यो मच्छ्वासो निरगमद्बहिः ।
तेनैव सह चेत्प्राणा न ययुस्तर्हि किं ब्रुवे ॥ २ ॥
निरपत्रपतां चान्यां किं ब्रुवे योऽहमीदृशः ।
संगमाशां करोम्येवं विचाराद्यनपायिनीम् ॥ ३ ॥
एवं सति त्वदीयस्य त्वमेव शरणं मम ।
गोकुलेश किमप्यस्तु त्वं मा मा त्यज किं परैः ॥ ४ ॥
त्वद्वियुक्तस्य जीवस्य नित्यता मास्तु कस्यचित् ।
किं तु तत्क्षण एवास्य नाश एव व्रजेश्वर ॥ ५ ॥
तोषसाधनराहित्यं यद्यप्यस्ति मयि प्रभो ।
तथापि सहजैश्वंर्य त्वय्यस्तीत्यहमक्लमः ॥ ६ ॥
यद्यपि त्वत्कृपायोग्यं पात्रं नास्ति तथापि तु ॥
त्वमर्हसि कृपां कंर्तुं पितरं वीक्ष्य मे प्रभो ॥ ७ ॥
महत्यल्पेऽथवार्थे या पराश्रयकृतिर्मम ॥
निसर्गदोषात्तन्नाशोऽपीह कार्यस्त्वयैव हि ॥ ८ ॥
सर्वज्ञे त्वय्यज्ञतरः किं वच्मि व्रजपालक ॥
सर्वथाहं त्वदीयोऽस्मि सान्वयः सपरिग्रहः ॥ ९ ॥
सर्वथा स्वीयतां राधाप्रिय ज्ञात्वा सदा मयि ॥
यत्करिष्यसि तत्सर्वं साध्वेवेति मतिर्मम ॥ १० ॥

कस्याग्रे कथयाम्यालि मनोदुःखस्य संततिम् ॥
व्रजाधीशवियोगाब्धिमग्नः कोऽपि न दृश्यते ॥ ११ ॥
यद्दैन्यं तोषहेतुस्ते आचार्यैः प्रकटीकृतम् ॥
विना साधनसंपत्तिं तेन मेऽस्ति स्थिरं मनः ॥ १२ ॥
त्वद्दर्शनादृते नूनं दिनानीमानि हृत्पते ॥
वृथा यांति त्वदीयस्य नाथ त्वं दर्शयांतिकम् ॥ १३ ॥
मयि यद्यपि नैवास्ति त्वत्प्रसादनकारणम् ॥
तथापि स्वीकृतं दैन्यं मत्वा कार्या कृपानिशम् ॥ १४ ॥
त्वद्विप्रयोगदहनज्वरितासवो मे
यत्संस्थिताः कथमपीदमतीव चित्रम् ॥
भो जीवितेश मम यांति कथं दिनानि
शून्यानि ते स्मितमुखाब्जविलोकनेन ॥ १५ ॥
अपि जीवितनाथ मन्मनो
लुलितंत्वद्वदनं समीक्षितुम् ॥
व्यथते सततं समुत्सुकं
नय मां त्वत्पदपंकजांतिकम् ॥ १६ ॥
ईदृशः कोऽपराधोऽस्ति हृदयेश न वेद्म्यहम् ॥
येनांतराय एतावाञ्छ्रीमुखालोकने मम ॥ १७ ॥
सर्वात्मना दुरापत्वं ज्ञात्वाप्याशां करोमि यत् ॥
भ्रांतोऽस्म्यहं न वेतीश न जाने करवाणि किम् ॥ १८ ॥
श्रुतिर्यत्प्राह गोपीश साधनप्राप्यतां त्वयि ॥
तन्मे न खेदहेतुर्यत्साधनं नास्तिमेऽण्वपि ॥ १९ ॥
त्वदीयत्वं त्वदीयत्वं त्वदीयत्वं यदस्ति मे ॥
तदेव फलमित्यात्मशास्त्रतः प्रमिनोम्यहम् ॥ २० ॥

तथापि मन्नेत्रवपुःप्रभृतीनां व्रजाधिप ॥
साक्षात्त्वय्युपभोगं मे मनः कामयतेतराम् ॥ २१ ॥
त्वदंतरंगभक्तांघ्रिपद्मदास्यं व्रजेश्वर ॥
त्वदीयतायाः फलमित्यहं मन्ये न चेतरत् ॥ २२ ॥
यदुक्तं तातचरणैः श्रीकृष्णः शरणं मम ॥
तत एवास्ति नैश्चिंत्यमैहिके पारलौकिके ॥ २३ ॥
इति वस्तुस्थितौ सत्यामपि त्वद्वदनांबुजम् ॥
द्रष्टुं कामयते चेतः सस्मितेक्षण मोहनम् ॥ २४ ॥
नान्यास्ति कामना देहस्थितिरेतादृशी मम ॥
नोचिता तावकीनस्य विज्ञप्तिरियमेव मे ॥ २५ ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरकृता द्वितीया विज्ञप्तिः समाप्ता ॥ २ ॥

==========

अथ तृतीया विज्ञप्तिः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

यद्दैन्यं त्वत्कृपाहेतुर्न तदस्ति ममाण्वपि ।
तां कृपां कुरू राधेश यया ते दैन्यमाप्नुयाम् ॥ १ ॥
सर्वेषां जीवनं लोके दृष्टं सर्वार्थसाधकम् ॥
ग्लान्येकफलकं जातमधुना मम जीवितम् ॥ २ ॥
कर्तुं पुनर्यथाकर्तुमन्यथा कर्तुमीश्वरे ॥
सामर्थ्यं यन्मया दृष्टं त्वय्येवातो न संशयः ॥ ३ ॥
तं न पश्यामि यस्याग्रे वार्तां स्वस्य मनोगताम् ॥
उकत्वा तदुत्तरं लब्ध्वा मनो विश्रामये क्षणम् ॥ ४ ॥
अतीव नीचा मत्प्राणा मूर्ख अपि गतत्रपाः ॥
स्वस्थित्ययोग्यकालेऽपि यतस्तिष्ठंति सांप्रतम् ॥ ५ ॥
शास्त्रं नियामकं तावद्यावत्पूर्णा कृपा नु ते ।
कृपया ते न पूर्णस्य नैव कोऽपि नियामकः ॥ ६ ॥
सुभगा एव जानंति सौभाग्यजं सुखम् ।
तद्धीनायास्तदीयेति प्रसिद्धिः शरणं सखि ॥ ७ ॥
प्रियसंगमराहित्याद्व्यर्थाः सर्वे मनोरथाः ।
निरपत्रपतासिद्ध्यै जीवामि सखि सांप्रतम् ॥ ८ ॥
न लब्धस्तादृशः कोऽपि यस्याग्रे स्वमनोगताम् ।
वार्तामुक्त्वा स्वमात्मानं क्षणं विश्रामयाम्यहम् ॥ ९ ॥
अद्य श्वो वा परश्वो वा कदाचित्कृपयिष्यति ।
नाथ इत्याशया सर्वं गतं जन्म करोमि किम् ॥ १० ॥

तथापि त्वत्कृपाकांक्षां मनो मे निरपत्रपम् ।
कं वा हेतुं सुनिश्चित्य करोतीति न वेद्म्यहम् ॥ ११ ॥
स्वभावतः सदा मेघः सर्वेषां जीवनप्रदः ।
जाने तस्यैव दौर्भाग्यं सोऽपि यत्तमुपेक्षते ॥ १२ ॥
त्वदीयत्वमपि ज्ञात्वा मयि कालादयः प्रभो ।
प्रभवंति ततो मन्ये त्वत्कृपाशून्यतामपि ॥ १३ ॥
विज्ञप्तौ वाऽपराधे वा पाखंडे वा मदुक्तयः ।
पर्यवस्यंति कुत्रेति न जानेऽहं विमूढधीः ॥ १४ ॥
राज्यायोग्ये तदाकांक्षा दंडावाप्तयै यथा भवेत् ।
त्वत्सेवायामहं तादृक् तदवाप दशामिमाम् ॥ १५ ॥
स्वीयं कृतागसं चेत्त्वं दूरस्थं कुरूषे यदि ।
इतः परोऽधिको दंडस्त्वदीयस्य न विद्यते ॥ १६ ॥
वियोगो बाधते तावद्यावद्धृद्येव ते स्थितिः ।
यदा बहिस्तदा नेति विचित्रेयं स्थितिस्तव ॥ १७ ॥
भूर्जत्वगिव मद्दोषा निस्सरंत्येव सर्वतः ।
तथैवानन्यगतिके त्वत्क्षमेति न मे भयम् ॥ १८ ॥
बलिष्टा अपि मद्दोषास्त्वत्क्षमाग्रेऽति दुर्बलाः ।
तस्या ईश्वरधर्मत्वाद्दोषाणां जीवधर्मतः ॥ १९ ॥
मत्प्राणानां स्वतो लज्जा नैवास्ति परतोऽपि च ।
प्राप्याप्यवस्थां नो यांति इहामुत्र च गर्हिताम् ॥ २० ॥
त्वद्दर्शनविहीनस्य त्वदायत्तस्य तु जीवितम् ।
व्यर्थमेव यथा नाथ दुर्भगाया नवं वयः ॥ २१ ॥
गतः स कालो यत्रासीत्सुदुर्लभकृपामयि ।

इदानीमीदृशः कालो यत्त्वं दृग्गोचरोऽपि न ॥ २२ ॥
त्वदीयानां सुखं दुःखं न लोकसदृशं भवेत् ॥
त्वत्सेवायां सुखं सर्वं नो चेत्तस्य विपर्ययः ॥ २३ ॥
मत्वा स्वकीयतां नाथ रोषेण कृपया तव ॥
ताडनं लालनं चैव परमानंददं मम ॥ २४ ॥
त्वद्वियुक्तस्य जीवस्य त्वदीयस्यापि नित्यता ॥
संगं विना न चैवास्तु विज्ञापनमिदं मम ॥ २५ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरकृता तृतीया विज्ञप्तिः समाप्ताः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थी विज्ञप्ति : ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

या दृग्भाग्यं पुरा मेऽभूत्तन्महत्त्वं न वेद्म्यहम् ॥
येनासीत्त्वत्कृपा पूर्णा सुदुर्लभतरा मयि ॥ १ ॥
मा जीवतात्त्वदीयो यस्तव सेवाविवर्जितः ॥
सत्या विज्ञप्तिरेषा मे नाथ त्वं मनुषे यदि ॥ २ ॥
स्वस्थित्ययोगं मत्वापि मच्छरीरं ममासवः ॥
यन्न त्यजंति तेनाहं मन्ये तान्निरपत्रपान् ॥ ३ ॥
त्वत्कृपातः पुरा नाथ मया कालादयः प्रभो ॥
तुच्छीकृताः सांप्रतं मां बाधंते त्वत्कृपां विना ॥ ४ ॥
त्वत्सेवायामयोग्यस्य त्वदीयस्य मम प्रभो ॥
इत्येव हि परा काष्ठा अभाग्यस्येति मे मति ॥ ५ ॥
इत्थं जीवनमस्तुक्षणमपि भवदंध्रिविप्रयोगे तु ॥
मरणं भवतादेवं भावे शरणं त्वमेवाशु ॥ ६ ॥
गतान्यपि बहुन्यहान्यहह यांति यास्यंत्यपि

त्रिभंगललिताकृतिप्रियतमांगसंगं विना ।
न कोऽपि मम स क्षणो भवति यत्र भाग्योदयः
कदा नु निजजीवनंदृशि निवेशयिष्याम्यहम् ॥ ७ ॥
इयदवधि कदापि गोकुलेशः ।
स्वजनकृते समकारि नो विलंबम् ।
परमिह सुतरामुपेक्षितोऽहं
कथमिति खिद्यति मानसं मुहुर्मे ॥ ८ ॥
बहुधैव ममापराधवृंद
स्तदपि त्वं न विमुंचसि स्वकीयान् ।
अत एव न कापि कापि चिंता
भवति प्राणपते ममेदृशस्य ॥ ९ ॥
हृदयं विरहं तवेच्छतीदं
न दृशौ मे व्रजनाथ किं करोमि ।
न हि कोऽपि परस्परं विरोधे
त्यजति स्वार्थमतिप्रबोधितोऽपि ॥ १० ॥
हा नाथ जीविताधीश राजीवदललोचन ।
यथोचितं विधेहीति प्रार्थनं तावकस्य मे ॥ ११ ॥
अजनि रजनिःप्रादुर्भूतं तमो विजना दिश-
स्त्वमसि चतुरा चाहं संगाभिलाषवती चिरात्
तदपि तु यदप्राप्तिः प्रेष्ठस्य मे सुविचारितं
प्रियसखि परीरंभारंभे विधेरविधेयता ॥ १२ ॥
त्वत्तो नान्यां प्रपश्यामि राधाबाधाविरोधिनी ।
तत्त्वं यथैव मत्प्राणो मिलत्येव तथा कुरू ॥ १३ ॥
त्वदीयमधुसूक्तिभिर्व्रजजनेशसंगाशया

मनोजशरपीडिताः कथमपि स्थिता मेऽसवः ।
अतः परमये यदि प्रियतमांगसंगो भवेत्
तदैव मम जीवितं विरहितादशाहृत्करम् ॥ १४ ॥
किं ब्रुवाणि सखि प्रेष्ठविरहानलदाहिता ।
यज्जीवामि तदेवात्र निरपत्रपतास्पदम् ॥ १५ ॥
सख्येतल्लिखनीयं त्वयातियत्नेनराधिकानाथ ।
कृपयिष्यत्यथवा मन्मनोरथेनैव जन्मनिर्वाहः ॥ १६ ॥
व्रजेश त्वद्वियोगाग्निदाहो ह्यप्रिय एव मे ।
त्वत्संगमवियोगे यद्बाधते नान्यथा क्वचित् ॥ १७ ॥
बलीयसी जीवनाशा गोपीशविरहेऽस्ति हि ।
सांप्रतं मे त्वमस्येका यदार्तशरणा सखि ॥ १८ ॥
त्वद्भावो नाथ सर्वेषां मुक्त्यादिफलकः स्मृतः ।
विरहाधिफलो जातः स एव व्रजनाथ मे ॥ १९ ॥
त्वत्प्रियापादरेणूनां संचयो हृदये न चेत् ।
भवद्वियोगदावाग्निस्तदा किं ज्वालयेन्न माम् ॥ २० ॥
त्वद्वियोगेऽपि मे प्राणास्तिष्ठेयुरिति नोचितम् ।
परं तत्संभवं दुःखं तैर्विना नैव संति ते ॥ २१ ॥
संतोषो जायते प्राणप्रिय त्वल्लेखदर्शनात् ।
सर्वेषां मे तथा जाते हा कष्टमिति किं वद ॥ २२ ॥
मदीयहृद्गतं ज्ञानरत्नं चिंतांबुधौ सखे ।
पातयित्वा स्वहस्तेन क्व गतः कंजलोचनः ॥ २३ ॥
त्वद्वियोगाग्निविज्वालाविदग्धा अपि मेऽसवः ।
तिष्ठेयुरिति नो चित्रं यतोऽहं निरपत्रपः ॥ २४ ॥
प्राणेशविरहक्लिष्टाः प्राणास्तिष्ठंति मे कथम् ।
वियोगाग्निविदग्धानामंतकोऽपि न संस्पृशेत् ॥ २५ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरकृता चतुर्थी विज्ञप्तिः समाप्ता ॥ ४ ॥

अथ पंचमी विज्ञप्तिः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

असमशरज्वरजर्जरदेहा विरहाग्निजालसंतप्ता ।
त्वत्प्रणयसर्पदष्टा कं वा शरणं व्रजामीश ॥ १ ॥
व्रजनाथ तवाधरामृतं मे
सकृदास्वादितमिंदिरादुरापम् ।
अभवन्मरणााय किं न कुर्याद-
सकृत्पीतमिदं व्रजांगनाभिः ॥ २ ॥
शुभाशय विनाशय त्वदधरामृतास्वादनोद्
गतप्रचुरमन्मथप्रथितबाणपूगव्यथाम् ।
कदंबनवमंजरीकुसुममंजुकुंजोदरे-
निजांगपरिरंभणामृतरसादिदानेन मे ॥ ३ ॥
कथमपि पुनरप्युदारलील
प्रिय परिशीलय खेलनं पुरेव ।
अमलकमलगर्भगंधवाहः
प्रसरति मारूत एष मारबंधुः ॥ ४ ॥
परिरंभणचुंबनादिभावा
भवता प्रेष्ठ कृता विमोहनं च ।
स्मरसुंदर मोहनं परं मय्यवशिष्टं न च ते मनोज्ञभावाः ॥ ५ ॥
मदमंथरवारणेंद्रलीला यमुनाकूलनिकुंजदेशगा ।
व्रजजीवन या त्वया कृता
सा मरणायैव किमीश मेऽधुना ॥ ६ ॥
किमर्थं पायितो मह्यं निजाधरसुधासवः ॥

श्रावितः श्रवणानंदो वेणोश्च कलनिःस्वनः ॥ ७ ॥
दूरीकृता रूचिर्मे निजवदनादन्यवस्ततो भवता ।
तदपि न ददासि गोपीपरिवृढ ते मोहनं कठिनम् ॥ ८ ॥
वितर वीर निजाधरसीधु मे
विरहकुंकुमितस्तनमंडले ।
हर वियोगरूजं मम वक्षसि
स्मरनिवासगृहे विलस प्रभो ॥ ९ ॥
विषमो वियोगरोगस्तदज्ञजनतासमागमश्चायम् ।
यदिह भवंतं भिषजं विना मरिष्याम्यंह सत्यम् ॥ १० ॥
व्रजनाथ वदस्व किं नु कुर्यां
क्व नु यामि क्व मनः स्थिरं मम स्यात् ।
वदनांबुरूहं विना तवेमाः
ककुभः शून्यतमास्तमालनील ॥ ११ ॥
प्रेष्ठ त्वद्वनांबुजं हृदि समागच्छेत्कथंचिन्मम
प्राणां स्थापयति स्वभावशिशिर-
स्निग्धालकालिश्रितम् ।
नो चेत्त्वद्विरहेण दावदहनज्वालायितेन द्रुतं
जीर्णाः पंच शिलीमुखान्तररूजा गच्छेयुरेवातुराः ॥ १२ ॥
तास्त्वन्मधुरालापां
स्तां गतिमीक्षां च तांश्च परिरंभान् ।
हसितान्यनुस्मरंती
जीवामि न हि म्रिये चाहम् ॥ १३ ॥
भवदीयं यत्किंचित्स्मरणपथारूढमंग मेंगानि ।
अंतश्चूर्णीकुरूते हंति विवेकत्रपाधैर्यम् ॥ १४ ॥

वियोगदुःखजाश्रूणां निरोधो दुष्करः परः ।
प्राकट्ये ह्यज्ञजनता लज्जेति करवाणि किम् ॥ १५ ॥
त्वद्वदनमुष्टहृदया विहारमंदस्मितादिहृत्प्राणा ।
मग्ना विरहसमुद्रे जीवामि कथं विना त्वाहम् ॥ १६ ॥
प्राणप्रिय त्वदनुरागसमुल्लसद्भ्रू-
मंदस्मितेक्षण विलक्षणमोहनास्यम् ।
द्रक्ष्याम्यहं यदि न हंत कथं भविष्या-
म्यंग त्वदंगपरिरंभणमुष्टचित्ता ॥ १७ ॥
अंग त्वदंगसंगेन विना विरहपीडिता ।
जन्म निर्वाहयिष्यामि कथमेतद्व्रजाधिप ॥ १८ ॥
न हीदमुचितं नाथ त्वदीया त्वयि सत्यपि ।
भवत्यनिशमुद्रिक्ता त्वद्वियोगार्तिपीडिता ॥ १९ ॥
सकृदपि वदनसुधानिधिमतिदीनायै दुरंतदुःखेन ।
दर्शय मे निजविभ्रममोहितगोपांगनानिचयम् ॥ २० ॥
वृंदावने मिलनमाशु भविष्यतीति
चित्तेऽवलंबनमरिंदम सर्वदासीत् ।
तत्रापि मे सपदि नाऽभवदीश यत्तत्किंनो
मनीषितमिदं नु तव व्रजेश ॥ २१ ॥
भवद्विलंबितमहाप्रहारदलिताशयाम् ।
प्रतिक्षणमहामोहमग्नां जीवयिता नु कः ॥ २२ ॥
अतीते परं प्राणप्रिय त्वत्संगमावधौ ।
जाने न शतधापन्नो दलत्याशुमदाशयः ॥ २३ ॥
भवानजभवादिभिर्दुरधिगम्यवार्तः क्व वा
क्व मूढहृदया विभो पशुसमाहमाभीरिका ।

तथापि तव विभ्रमस्मित विमोहितं मे मन-
स्त्वयि प्रिय विशृंखलं भवति किं करोम्यातुरम् ॥ २४ ॥
प्रेष्ठ त्वयि प्रणयिता ममास्तीत्यपि नो मतिः ।
त्वदंगसंगाविरहेऽप्यंग जीवामि यद्वृथा ॥ २५ ॥
इति श्रीविट्ठलेश्वरकृता पंचमी विज्ञप्तिः समाप्ता ॥ ५ ॥

अथ षष्ठी विज्ञप्तिः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

क्षणमपि न वियुक्ता जातु तस्माद्भविष्या
म्यहमिति हृदये मे निश्चयः सर्वदासीत् ।
व्यरचि यदि विधात्रा केवलो विप्रयोगः
कथय किमथ कार्यं दुःखिना जीवितेन ॥ १ ॥
सखि बहुधापि निरूक्त-
श्ररणपृष्टोऽपि जीविताधीशः ।
नो मनुते निजसंगम-
महह कथं तत्र किं कुर्मः ॥ २ ॥
सखि त्वया महानेव प्रयत्नो मत्कृते कृतः ।
तथापि यत्तदप्राप्तिस्तत्र ते किन्नु दूषणम् ॥ ३ ॥
सखि स ऋतुः स च दिवसः
सा घटिका हंत स क्षणः कोऽपि ।
भविता यस्मिन् व्रजपतिमादरपूर्वं समाश्लिष्ये ॥ ४ ॥
दधौ कमपराधं वा हृदये हृदयप्रियः ।
तन्न जाने यन्निजांगसंगमंगीकरोति न ॥ ५ ॥
सखि वद यादवपुंगवमतिचिर-

विरहादहानि गणयंती ।
प्रणयभुजंगमदष्टा त्वदधरसुधया परं जीवेत् ॥ ६ ॥
नान्यद्वक्तुमहं शक्ता किमपि प्राणवल्लभम् ।
जीयासुः परमंभोजनेत्रापांगाश्चिरं तव ॥ ७ ॥
कदाचिद्गोपीशः स्मरति यदि मामंबुजदृशां
सभायामत्यार्तिप्रणयभरसंभावितहृदम् ॥
तदा मन्ये धन्ये प्रियमुखसरोजं स्वनयनैः ।
कदाचित्पश्यामि प्रियविरहतप्तैरिति सखि ॥ ८ ॥
सत्स्वपि सरस्सु विमलेष्वलिहं-
सालीविनोदमधुरेषु ।
अंबुदविमुक्तपाथसि चातक ते दुर्ग्रहः कोऽयम् ॥ ९ ॥
तं न पश्यामि यं श्यामसुंदरं दर्शयेत्सखी ।
यद्वा हृत्तापहृत्कृष्णसंदेशं कथयेदपि ॥ १० ॥
भवदुक्तिसुधाधाराशिशिरीकृतमप्यहम् ।
क्षणमप्याशयं शक्ता न स्थापयितुमातुरम् ॥ ११ ॥
कर्तव्यमेव तव तावदये कथंचित्
प्राणेशसंगविरहाकुलमानसायाः ।
प्रेष्ठावलोकनमये सकृदप्यनंग-
कोटिस्मयापहमुखांबुजमुष्टदृष्टेः ॥ १२ ॥
ग्रीष्मेऽप्युदग्रतापे नवनीरददर्शनाशया रहिते ।
आर्तश्चातकविहगो नाशां त्यजति प्रिये जीवन् ॥ १३ ॥
दूरे जलास्वादकथा यत्र नाप्यभ्रदर्शनम् ।
तथापि चातको जीवत्यहो कठिनता हृदः ॥ १४ ॥
इदमेव बहुत्वेन जानामि न तु चातकः ।

मुहुः स्वप्रेष्ठनामापि कंठे यदनुवर्तते ॥ १५ ॥
प्रियावमानिता याति यद्यपि प्रमदा मदात् ।
तथापि तामनन्यं स नेष्टे नाथ उपेक्षितुम् ॥ १६ ॥
यताकथंचित्तामेव सनाथीकुरू ते वशे ।
तत्प्राणा सापि तेनैव पूर्णा भवति नान्यतः ॥ १७ ॥
चातकी यदि महानिलवेगात्
प्राप्तवत्यचलतो मरूदेशम् ।
कस्तदा जलमुचो ननु दोषः
प्राणितीयमिदमेव हि चित्रम् ॥ १८ ॥
ज्ञानिनो विगतरागिणो मनो-
रोधकावदत बोधका नृणाम् ।
प्राप्तमुक्तिहरिभक्तयोऽस्ति किं
गोत्रनाथचरणं विनारणम् ॥ १९ ॥
गोवर्धनाचलशिरोमणिरेष यावन्
मत्स्वामिनीहृदयकुंकुमपंकिलांगः ।
मन्मूर्ध्नि मद्धृदयपंकजमंडलेषु
संशोभते न भयमस्ति कुतोऽपि तावत् ॥ २० ॥
कृतज्ञताकृपालुत्वविश्रामस्य प्रियस्य मे ।
प्राप्तिस्तत्कृपयैवालि भाविनीति मतिर्मम ॥ २१ ॥
अनाज्ञप्तैवाहं प्रियतममनोवाक्कृतिभिर-
प्यभाग्यैरद्याहं प्रचलितवती यत् प्रियपदात् ।
न तच्चित्रं दुःखं भवति भवतात्किं तु कथम-
प्युदारं तद्वक्त्रं नयनपथ आस्तामचिरतः ॥ २२ ॥
प्रतिगच्छत्विह लोकः परलोकाशापि सर्वथैवाद्य ।

मा त्यजतु मामनन्यां जातु परं गोकुलाधीशः ॥ २३ ॥
यादृशी तादृशी नाथ त्वत्पदाब्जैककिंकरी ।
त्वद् वक्त्रं कथमप्याशु कुरू दृग्गोचरं मम ॥ २४ ॥
यदवधि गोपीनाथो दृग्विषयोऽ-
भून्ममापि मंदायाः ।
तदवधि शिवमेवासीदग्रे किं
वा विधास्यति प्रेष्ठः ॥ २५ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरकृता षष्ठी विज्ञप्तिः समाप्ता ॥ ६ ॥

अथ सप्तमी विज्ञप्तिः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

प्रतिक्षणनवं मुदा मुहुरहर्निशं यत्पिब-
स्त्ययि प्रियमुखांबुजासवमतोऽसि धन्या सखि ।
कदाचिदतिसुंदरस्मितमुखः सुखेनास्थितो
भवत्सदसि मत्प्रियः स्मरति मां कृपावारिधिः ॥ १ ॥
प्रियवदनांबुजदर्शन-
कातरचित्तां तथापि संविग्नाम् ।
तत्सखि नो जानेऽहं किं नु विधास्यत्ययं प्रेष्ठः ॥ २ ॥
वियुक्ते नाथे यद्विपदनुपदं तत्समुचितं
वियोगस्तेनायं मम समुचितोऽन्यत्र तु परम् ।
तथापि श्रीराधाहृदयमणिरतत्यंतकृपया
स्ववक्त्रेंदुं गोपीपतिरचिरतो दर्शयतु मे ॥ ३ ॥
किं बहुना सखि पांथोऽप्येतद्वार्त्तां स विघ्नकर्तैव ।
तत्किं करोमि मग्ना दुःखाब्धौ तत्प्रियः शरणम् ॥ ४ ॥

प्रियनिकटे सखि काचिद्यदि मां
कृपया स्मरिष्यति प्रीता ।
तत्क्षण एव मनोरथनिचयान् पश्याम्यहं सत्यम् ॥ ५ ॥
परिजनहसनद्वेषैर्दुःखितमप्येतदातुरं चेतः ।
न जहाति तत्स्वभावं तत्साधु न वेति नो विद्मः ॥ ६ ॥
यावत्स्वकार्यं तावत्तु कृतमेव सखि त्वया ।
मद्भाग्योन्नतिकाले स स्वयं मे कृपयिष्यति ॥ ७ ॥
न सुखमाप रमा न च चातुरी
मयि मनोभवयुद्धविदग्धता ।
न मधुरोक्तिरथो न रसश्च कोऽप्ययि
कथं भविता प्रियसंगमः ॥ ८ ॥
रतिपतिमंगलकलशौ कुचकुंभौ मीनकेतुरसपूर्णौ ।
कमलावरकरकमलस्पृष्टौ भवता वृथैवेमौ ॥ ९ ॥
गता बुद्धिः शुद्धिर्जगति विरूणद्धि स्वपतिर-
प्ययये लज्जा गुर्वी गुरूपतिसुतानां न गणिता ।
यदर्थं तत्संगः सखि न भविता यद्यचिरत-
स्तदा नाहं पश्याम्यहह मरणादन्यदरणम् ॥ १० ॥
वरं नेत्रे मुद्रा न पुनरितरालोकनमपि
वरं शून्यारण्यं स्थितिरिह वरं नान्यमिलनम् ।
वरं मूकीभावो न पुनरपरा काचन कथा
वरं प्राणत्यागः क्षणमपि न तत्संगविगमः ॥ ११ ॥
भगवत्पदपङ्कजरागजुषो
न हि युक्ततरं मरणेऽपि तराम् ।
इतराश्रयणं गजराजगतो

न हि रासभमप्युररीकुरूते ॥ १२ ॥
अनन्यगोकुलस्वामिन्ननन्यीकृतगोकुल ।
मां कुरूष्व दयासिंधो त्वत्पदांबुजरेणुषु ॥ १३ ॥
स्वतः कृता कृपा नाथ किशोरे मयि या त्वया ।
सा किमाशालता वृद्धिफलिकैवोत सत्फला ॥ १४ ॥
भवतीति न जानामि सर्वसामर्थ्यसंयुता ।
त्वदीयास्मित्वदीयास्मित्वदीयास्मिव्रजाधिप ॥ १५ ॥
यादृशांस्तादृशस्त्वं तु मा त्यजास्मान् दयानिधे ।
एतावदेव विज्ञाप्यं सर्वथा सर्वदैव नः ॥ १६ ॥
स्वल्पेनैवापराधेन महता वा व्रजेश्वर ।
अस्मानुपेक्षसे त्वं तु स्वकीया किं ब्रुवे तदा ॥ १७ ॥
त्वदीयत्वं निश्चितं नस्तव भर्तृत्वमप्युत ।
कालकर्मस्वभावानामीशितृत्वमपि प्रभो ॥ १८ ॥
अतः कालादिजं दुःखं भवितुं च न नोऽर्हति ।
अपराधेप्युपेक्षा तु नोचिता सेवकेषु ते ॥ १९ ॥
उपक्षयैव कालादिर्भक्षयत्यन्यथा न हि ।
बाहिर्मुख्यात्कालजातं दुःखं चेत्सहजं हि तत् ॥ २० ॥
तद्वैपरीत्यं कृपया भाविन्यैवान्यथा न हि ।
दौषाश्रयत्वं सहजं ज्ञात्वैव ह्युररीकृतिः ॥ २१ ॥
अतो दोषक्षयोपेक्षा कृपालौ त्वयि नोचिता ।
उपेक्षां किंनु सहजप्रभुत्वेन करोषि वा ॥ २२ ॥
दंडं स्वकीयतां मत्वेत्येवं चेदिष्टमेव नः ।
अस्मासु स्वीयतां मत्वा यत्र कुत्र यदा तदा ॥ २३ ॥
यद्यत्करिष्यत्यखिलं तदस्तु प्रतिजन्मनि ।

इदमेव सदा प्रार्थ्यं त्वदीयत्वं व्रजेश्वर ॥ २४ ॥
दुःखासहिष्णुस्त्वत्तोऽहं तथापि प्रार्थये प्रभो ।
तथैव संपादय नो नापराधो यथा भवेत् ॥ २५ ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरकृता सप्तमी विज्ञप्तिः समाप्ता ॥ ७ ॥

अथाष्टमी विज्ञप्तिः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

अपराधेऽपि गणना नैव कार्या व्रजाधिप ।
सहजैश्वर्यभावेन स्वस्य क्षुद्रतया च नः ॥ १ ॥
त्वदीयत्वं यन्नस्तदतिशयिंत भाग्यमतुलं
समीपस्थानामप्यहह न विलासेक्षणमिदम् ।
अभाग्यं वात्युच्चं सपदि गणयामः किमधिकै -
र्वचोभिः सर्वस्वं त्वमसि यदि गोविंद मनुषे ॥ २ ॥
सर्वे परिगृहीताः स्मो गोकुलस्वामिना वयम् ।
न त्यक्ष्यति दयासिंधुरस्मानन्यायिनोऽपि हि ॥ ३ ॥
स्वकृत्याभिर्भवत्येव तथापि करवाणि किम् ।
तथापि गतिरस्माकं स एवेति न भीरपि ॥ ४ ॥
यथा वयं तदीयाः स्मस्तथा सोऽपि निसर्गतः ।
अस्मात्प्रभुरतश्चिंता नैहिके पारलौकिके ॥ ५ ॥
चिकीर्षितं कारयित्वा शीघ्रमानेष्यति प्रभुः ।
अस्मानतो न चिंता वः कार्या सर्वात्मना प्रियाः ॥ ६ ॥
एतेषामहमेवास्मि सर्वस्वमिति सुंदरम् ।
जानास्यस्माकमज्ञानेऽप्यतः कर्ता स्वतोऽखिलम् ॥ ७ ॥
अंगीकृतजनजनिताऽपराधकूटक्षमाविनोदस्य ।

अंगीकृतिश्चनित्या वदंतु
कोऽन्योऽस्य साम्यमियात् ॥ ८ ॥
न स्वाध्यायबलं न यागजबलं नो वा तपस्याबलं
नो वैराग्यबलं न योगजबलं नाप्युक्तभक्तेर्बलम् ।
नैव ज्ञानबलं न चान्यदपि यत्किंचिद्बलं मेऽस्ति किं
त्वद्यश्चोपि यदा तदा तव कृपाकूतेक्षणं मे बलम् ॥ ९ ॥
तुच्छीकृतास्त्वत्कृपातः पूर्वं कालादयो मया ।
स्मृत्वा तद्वैरमधुना बाधंते त्वत्कृपां विना ॥ १० ॥
यस्य देयो लोभ एव तस्यौदार्यस्य का कथा ।
सर्वस्वदानशीलत्वं चित्रं पात्रपरं परम् ॥ ११ ॥
ततः काचिदनंगाग्नितप्ता त्वं यदवीवदत् ।
मत्पुरस्तच्छृणुष्वेति वद यादवपुंगवम् ॥ १२ ॥
शिशिरत्वं शशिनस्त्वत्कृपावलोकनकृतं मन्ये ।
नो चेद्गतवति भवति प्रचंडकिरणाः कथं सपदि ॥ १३ ॥
त्वदधरसुधापानेन श्रीमुखांबुजशोभया
तुहिनकिरणस्तुच्छीभूतो बभूव परं प्रिय ।
सपदि मम तद्वैरं स्मृत्वा शुशुक्षणिसंनिभै-
र्मदनदहनो दग्धुं ह्येतद्दुनोति निजांशुभिः ॥ १४ ॥
यदि कृपयति राधा बाधिताशेषबाधा
किमपरमवशिष्टं पुष्यिमर्यादयोर्मे ।
वदति यदि कथंचित्स्मेरहासोदितश्री-
द्विजवरमणिपंक्त्या मुक्तिशुक्त्या तदा किम् ॥ १५ ॥
स्त्रीरत्नहासप्रभयाखिलांगे
तच्चुंबनैस्तत्प्रतिबिंबितैश्च ।

तासां कटाक्षैश्च चतुर्युगीय-
रूपाणि धत्से क्षणशो व्रजेश ॥ १६ ॥
त्वमीश्वरोऽसि गीतं ते क्षुद्रोऽहं किं वदामि हि ।
यादृशोऽसि हरे कृष्ण तादृशाय नमोनमः ॥ १७ ॥
स कोऽपि सखि सानंदनंदाद्युत्संगलालितः ।
करोति सुषमासीमा मन्मथोन्मथिता दिशः ॥ १८ ॥
अधरांजनदीप्तिमत्सुनासा
पुटमुक्ताफलभूषणं तवास्यम् ।
सदृशं भवतीति गोपीगुंजा-
फलमुक्ता उरसींद्रिये बिभर्ति ॥ १९ ॥
रूपं तवैतदतिसुंदरनीलमेघ-
प्रोद्यत्तडिन्मदहरं व्रजभूषणांगि ।
एतत्समानमिति पीतवरं दुकूल
मूरावुरस्यपि बिभर्ति सदा स नाथः ॥ २० ॥
पुरोवातप्रावृट्समयविरहे मेघविरहात्
सुतप्ताहं गंतुं पदमपि न शक्ता तदिह चेत् ।
समानो यो मेघः पुनरपि कृपाशकत्यखिलकृत्
ततो; मामेव त्वं नय निजगृहं तस्य झटिति ॥ २१ ॥
नाथेऽनुकूलतां याते सर्वं यात्यनुकूलताम् ।
तस्मिंस्तद्विपरीते तु सर्वमेव भवेत्तथा ॥ २२ ॥
यदि प्रियसखीजनो मयि कृपां करोति स्वयं ।
विरूद्धशतमप्यहं न गणये तथापि क्षणम्
मनोरथलताश्रये व्रजवधूवृतेऽस्मिन्नपि;
व्रजाधिपतिरेव मे शरणमस्तु दास्याः सदा ॥ २३ ॥
अपि कापि सापि संप्रति वरिवर्ति सखि व्रजाधिपप्राणा ।

या नंदसूनुमुरलीतरलं चेतः समादध्यात् ॥ २४ ॥
आविर्भूतानुरागा वा किं वा नगनवांकुरः ।
समुच्चयपदं वेति न स निश्चयभूरभूत् ॥ २५ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरकृता अष्टमी विज्ञप्तिः समाप्ता ॥ ८ ॥

अथ नवमी विज्ञप्तिः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

स देशः कोऽन्वभूद्यत्र रमणं ते सखीजनैः ।
स कालोऽपि यदा नास्ते समाहूता स्ववेणुना ॥ १ ॥
यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्यमवादीदिति श्रुतिः ।
तं प्रपन्नस्य मेऽद्यापि कथं दुःखं न वेद तत् ॥ २ ॥
हरे त्वन्नाम निर्वक्ति यथा श्रुतिरहं सदा ।
गृह्णामि यद्यदा नाथ तत्तथैवास्तु नान्यथा ॥ ३ ॥
कथं स भुंक्षे सस्नेहमद्य त्वं प्रत्यहं यथा ।
इति पृष्टस्मितः पातु हरिश्चौर्यभुजिस्मृतिः ॥ ४ ॥
किमिदं कुरूषे वत्स मृत्सासंवृन्मुखांबुजम् ।
स्वलंकृतं गंधतैलकज्जलैः कंजलोचन ॥ ५ ॥
किं नाश्रावि त्वया वेणुस्वरः स्मरविकस्वरः ।
सदागतिगतिस्तंभो नगस्थिरगतिर्यतः ॥ ६ ॥
किं त्वया मृग्यते कुंजे तमःपुंजेंबुजेक्षणे ।
त्वन्मनोमणिहर्ता यः स इदानीं वनांतरे ॥ ७ ॥
करोति कमलाकांतः कामिनां करूणाकरः ।
यत्कृतं विकृतं नैव कदाचिदपि कस्यचित् ॥ ८ ॥
सोऽस्मानवतु सर्वत्र ददात्वभिमतं सदा ।

यः प्रार्थितो भक्तजनैः पपौ वह्निं दधौ गिरिम् ॥ ९ ॥
स्वविश्रांतिस्थानं त्रिजगति विचिन्वन्त्यतिचिरा-
दतिश्रांता शीतानिलमभिलषत्यालिसुषमा ।
शनैर्या नासायामकृत तदयं स्वेदजकण-
स्त्वदग्रे मुक्तावद्विधुमुखि चकास्ते पिपतिषुः ॥ १० ॥
गणये कुचयोरेव त्वत्परायणतां प्रिय ।
त्वत्करस्पर्शसमयं ज्ञात्वैवास्तां बहिः स्फुटौ ॥ ११ ॥
प्रायः सत्पात्रतोत्कर्षो यच्छोभाऽयादुदारताम् ।
दातर्यप्यत एवासीदनंते देयमुत्तमम् ॥ १२ ॥
प्रादुर्भवति वकारस्त्वदधरपीयूषदशनसंयोगात् ।
तेनामृतबीजत्वं युक्तं प्राणप्रिये तस्य ॥ १३ ॥
मुहुर्गतागतज्ञानस्नेहभावेषु तत्किणैः ।
व्याप्तेष्वात्मादिषु व्रीडा मृद्वी तिष्ठेत्कथं वद ॥ १४ ॥
यथायथा प्रियापांगशरपातस्तथातथा ।
तदाभिमुख्यं भजसे व्रजेश क्षत्रियोऽसि किम् ॥ १५ ॥
प्रिय त्वदधरामृतादतिविलक्षणा किं नु सा-
स्त्यहो नयननीलनीरजयुते मदीये तु यत् ।
यदैव मम लोचने त्वदधरं सुसंगच्छते
तदैव मधुपावृतो भवति नान्यदा सुंदर ॥ १६ ॥
श्रुत्युक्तासान्यथा नैव कर्तुं शक्येति चेत्तदा ।
कंसादिकालवच्छक्या तवैवेति वदाम्यहम् ॥ १७ ॥
विजातीयजनाक्रांते निजधर्मस्य गोपनम् ।
देशे विधाय सततं स्थेयमित्येव भासते ॥ १८ ॥
सुस्थिरे नीलजलदे स्थिरसौदामनीयुते ।

स्थिरं मनो यदि भवेत्स्थिरं भाग्यं तदैव हि ॥ १९ ॥
निवेदितात्मभिन्नेषु सदौदासीन्यमाचरेत् ।
प्रावाहिकास्तेऽपि चेत्स्युरूपेक्षैवोचिता यदा ॥ २० ॥
श्यामकंचुकनिदर्शनेन म-
न्मानसेऽप्यणुतरेऽपि महान्सः ।
गोकुलैकजनजीवनमूर्ति-
र्मास्यति स्वकृपयैव कृपालुः ॥ २१ ॥
शश्वत्पिपासितापांगध्यानावस्थितचेतसा ।
प्राप्ततन्निजरूपाय गोविंदाय नमोनमः ॥ २२ ॥
सख्यादिवांबुजाश्लिष्टप्रियापांगैरिवार्चितः ।
परिधाय बभौ नीलकंचुकं गोपिकापतिः ॥ २३ ॥
राधागुणैः सहाविष्टे माधवांतर्हृदि स्मरे ।
तत्र गंतुमशक्तं तद्यानं कर्णावलंब्यभूत् ॥ २४ ॥
ज्ञानेन साधनैश्चान्यैः शून्यानस्मान्मुदा स्वयम् ।
अनुगृह्णाति सोऽस्माकं प्रभुः श्रीविट्ठलेश्वरः ॥ २५ ॥
एके कर्मप्रवृत्ताः सततमिह परे भक्तिपूर्णार्द्रचिताः
केचिज्ज्ञानैकवित्ताः प्रभुचरणनमस्यार्तवृत्तौघवित्ताः ।
तत्तन्निष्ठाविहीनं जगदुदधिपयः संसृतौ दीनमीनं
मा कश्चित्कृष्णहेतुः
कृपयितुमिह ते वल्लभीया ममेति ॥ २६ ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरकृता नवमी विज्ञप्तिः समाप्ता ।

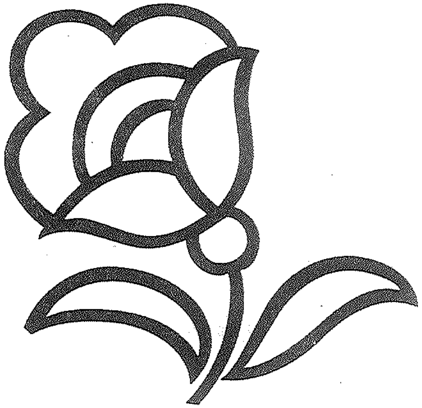

श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरण प्रणीता

॥ श्रीवृत्रासुरचतुःश्लोकीविवृतिः ॥

॥ श्रीवृत्रासुरचतुः श्लोकीविवृतिः ॥

ननु पुरुषार्थश्चत्वारस्तत्र त्रिवर्गविघातं भगवानेव करोति मोक्षस्तु भक्तानामेव नापेक्षित इति भक्तिमार्गे न कोपि पुरुषार्थः सिद्ध्यतीत्याशङ्क्य भक्तिमार्गीयं तच्चतुष्टयं भिन्नमेवेत्याहचतुर्भिः,

पूर्वमिन्द्रं प्रति प्राह ततो भक्त्याग्रतो हरिम् ।
दृष्ट्व तत् प्रार्थयामास पुष्टिर्दृष्टफला यतः ॥ १ ॥
आद्ये तु पुष्टिमार्गीयो धर्मः स्मरणकीर्तने ।
सेवा चेति त्रयं तेन प्रार्थितः स निरूप्यते ॥ २ ॥
आत्मनश्चाधिकारित्वमुत्तमं दीनभावतः ।
प्रार्थनीयतया तस्य साधनं च कृपोच्यते ॥ ३ ॥

धर्मं प्रार्थयन् प्रथममधिकारित्वं स्वस्य निरूपयति, अहमिति,

अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणानां गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः ॥ १ ॥

हे हरे अहं तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भविष्यामीत्यर्थः । ननु सर्वस्यापि दुःखात्यन्ताभावोऽपेक्षितः स च मोक्षं विना न भवतीति किं दास्येनेत्यत आह-हरे इति, अत्रायं भावः, दास्ये हि त्वमेव दासानां त्रिविधमपि दुःखमपनयसि, मोक्षे तु ज्ञानं, तच्च तव धर्मस्तेन धर्मापेक्षया धर्म्याश्रयणमेव युक्तं, किञ्च मोक्षे दुःखनिवृतावपि प्रभुकृपया मम दुःखं गतमतोहं सुखेन वर्त इति भावस्तु दुर्लभ एव, भेदाभावात्, दास्ये तु न तथेत्याशयेनास्मच्छब्देन भेदमुपपादयतिअहमिति । ननु दास्यं कथं सेत्स्यतीत्यत आहतवेति त्वदीयोहमित्यर्थः तेनावयोः सेव्यसेवकभावः सहज इति सूचितम्, अन्यथा त्रिर्गविघातमसुरत्वेपि सति कथं कुर्याः, ततो मोक्षे चानधिकार उक्तः, एवं चेत् कथं दास्यं न करोषीत्यत आह भवितेति, जीवस्य त्वदीयत्वेपि देहस्यासुरत्वेनायोग्यत्वाद्देहान्तरे दासो भविष्यामीत्यर्थः, अतस्त्वदनुग्रहेणैव तथा भवितेत्यत्र विश्वासमाह अस्मीति । साक्षात्प्रभुदास्ये हि स्वस्य दीनभावो गच्छतीति परम्परादासत्वमुक्तं, यद्वा, प्रभुदास्ये हि स्वस्य सर्वोत्तमत्वाभिमानेन भक्तान्तरे अपराधसम्भवात् प्रभुदास्यादपि भ्रंशो भवेतच्चानुभूतं चित्रकेतुदशायाम्, अतः परम्परादासत्वेन दैन्यमेवोचितमिति भावः ।

अथवा तवेत्यादिपदसमुदायेन मोक्षो हि भजनानन्दानुभवः, स च देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणयुक्तानामेव, 'अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदाम' इत्यत्र

श्रुतिप्रतिपादितः, तत्र चाधिकाररूपं प्रभुदास्यं 'भवाम दास्यः' पुरूषभूषण देहि दास्य' मिति श्रुतिवाक्यादतस्तवेति पदान्मोक्षाधिकाररूपं प्रभुदास्यमुक्तमतस्तवेत्यसमासः, अन्यथा त्वत्पादेति वदेत्, तव पादावेवैकं मूलं येषां ते तथा, अर्थाद्व्रजस्थितभक्ता एव, 'तेङ्घ्रिमूलं प्राप्ता' इति तेष्वोक्तेः, तेन कामाधिकाररूपं तद्दासत्वमुक्तमन्यथा कामासिद्धेः, अत एवोक्तमाचार्यचरणैः 'तैर्द्वारा पुरूषाणां च भविष्यति न चान्यथे' ति । अनुपदेन तद्दासदासत्वमर्थाधिकाररूपमुक्तम्, ततस्तव दासत्वं धर्माधिकाररूपमुक्तम् ।

ननु सत्सङ्गाभावेप्येम्भावस्तव कथं जात इत्यत आह भूय इति, पूर्वमहं चित्रकेतुर्दास एव स्थितोऽतः पुनरपि तथा विधेति भावः । एवं स्वस्याधिकारचतुष्टयं प्रतिपाद्यतरतमभावादादौ धर्मं प्रार्थयते मनः स्मरेतेति । असुपतेरिति गुणानामिति च कर्मणि षष्ठी, तत च मनः असुपतिं स्मरेत चिन्तयेत्, स्मरणस्यात्मसुखैकसाधनत्वादात्मनेपदम् । वाक् तस्यैव गुणान् गृणीत कीर्तयेत्, कीर्तनस्यापि मुख्यः स्वार्थ एव परार्थस्त्वानुषङ्गिक इत्यात्मनेपदम् । कायस्तस्यैव कर्म सेवां करोतु, सेवा तु यथा प्रभोः सुखं भवति तथा क्रियते, न तु तत्राणुमात्रमपि स्वार्थपरत्वमतः परस्मैपदम् । स्मरणकीर्तनयोः श्रवणाधीनत्वेनान्यकथनसापेक्षत्वाद्विधिरूक्तः । सेवायां स्नेह एव नियामकः, स च प्रभुकृपैकसाध्य इति तत्राशीर्निरूपिता ॥१॥

एवं मनोवाक्कायभेदेन त्रिविधमपि धर्मं सम्प्रार्थ्यार्थं निरूपयति न नाकपृष्ठमिति ।

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥ २ ॥

लौकिको वैदिकश्चार्थस्त्रिविधः प्राकृतैर्गुणैः ।
क्रमेण ते भगवतो गुणैः षड्भिर्निराकृताः ॥ १ ॥
स्वर्गभूमिरसैश्वर्यं सात्त्विकादि तु लौकिकम् ।
मोक्षश्च पारमेष्ठ्यं च सिद्धयश्चेति वैदिकम् ॥ २ ॥
प्रवृत्तिधर्मसाध्यत्वात्सामान्यं तत्तु लौकिकम् ।
निवृत्तिधर्मसाध्यत्वाद्विशेषाद्वैदिकं परम् ॥ ३ ॥
प्रत्येकमेव ते चार्था न तु सम्भूय कुत्रचित् ।
भगवत्यखिलात्मत्वाद्भवन्त्येव तथा हि ते ॥ ४ ॥
अतोऽर्थो भगवानेव पुष्टिमार्गेङ्गमन्यतः ।
सर्वतो नैरपेक्ष्यं च तथात्र विनिरूप्यते ॥ ५ ॥

आदौ लौकिकसात्त्विकमर्थं निराकरोति-न नाकपृष्ठमिति, नाकः स्वर्गस्तस्य पृष्ठं राजासनम्, इन्द्रासनमितियावत्, तच्च नश्यति कालान्तरे, अतस्त्वय्यखण्डितैश्वर्यस्य विद्यमानत्वात्तन्न काङ्क्षे नेच्छामीत्यर्थः । वैदिकराजसमर्थं निराकरोति-न पारमेष्ठ्यमिति, परमेष्ठी ब्रह्मा, रजोवतारत्वात्तत्स्थानं राजसम्, तत्र च 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते' इति वाक्यात्पारतन्त्र्यैण फलसिद्ध्या स्ववीर्यहानिरेव, त्वयि चाखण्डितवीर्यस्य विद्यमानत्वात्तदपि न काङ्क्षे । लौकिकराजसमर्थं निराकरोति-न सार्वभौममिति, सर्वभूमेरीश्वरत्वे हि सर्वत्र लोके यशो भवति, तच्च दानादिसापेक्षत्वादौपाधिकं सावधिकं च 'तेद्वायसं तीर्थ'मिति वचनात्स्वरूपतोपि दुष्टं 'राज्यान्ते नरकं ध्रुव'मिति वचनादवसानतोपि तथा, त्वयि चानवद्ययशसो विद्यमानत्वात्तदपि न काङ्क्षे । लौकिकतामसमर्थं निराकरोति न रसाधिपत्यमिति, रसेत्युपलक्षणं तेनाधोलोकाः सर्वे निरूपिताः, तत्र च भूम्यपेक्षया सुखभोगोधिकः स च श्रिया भवति, सा च त्वया बलेरपहृता दत्ता च, त्वयि चानपायिन्याः श्रियो नित्यं विद्यमानत्वात्तदपि न काङ्क्षे । वैदिकतामसमर्थं निराकरोति - न योगसिद्धीरिति, अपक्वयोगिनो हि सिद्धिबलेनापेक्षितविषयान् संसृज्य भोगं कुर्वन्ति तेन योगादपि भ्रष्टा भवन्तीति तेषां ज्ञानं भ्रान्तमेव, त्वयि च नित्याखण्डितज्ञानस्य विद्यमानत्वात्ता अपि न काङ्क्षे । वैदिकसात्त्विकमर्थं निराकरोति-अपनुर्भवं चेति, 'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञान' मितिवचनाज्ज्ञानस्य सात्त्विकत्वेन तत्साध्यमोक्षस्यापि तथात्वमुच्यते, स च गणितानन्दत्वेन त्वदानन्दांश एव न तु त्वम्, तत्रापि सेव्यसेवकभावेन नान्योन्यं सापेक्षता भेदाभावादतस्तस्यार्थत्वाभावायापुनर्भवपदम्, जन्माभावातिरिक्तविशेषाभावात्, त्वं तु पूर्णानन्दो भक्तसापेक्षश्चेति 'मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी' ति वाक्यादतो भक्तातिरिक्तरागाभावेन त्वय्यखण्डितवैराग्यस्य विद्यमानत्वात्तमपि न काङ्क्षे । मर्यादायां मोक्षस्तुरीयपुरूषार्थः सच पुष्टौ हेयत्वेनार्थमध्ये गणित इत्यनादरद्योतनार्थं वेत्युक्तम्, यत्र मोक्षस्याप्यनादरस्तत्रान्येषां किं वाच्यमिति च । तर्हि कोर्थस्तवापेक्षित इत्यत आह-समञ्जसेति, हे समञ्जस पूर्णत्वात्सकलार्थरूप, अतस्त्वा त्वां विरहय्य पृथक्कृत्योक्तार्थानहं न काङ्क्षे, किन्तु त्वामेव सर्वार्थरूपत्वादर्थत्वेन, काङ्क्षे निरन्तरमिच्छामीत्यर्थः । यद्वा उक्तार्थान्पृथक्कृत्य त्वामेव चार्थत्वेन काङ्क्षे ॥ २ ॥

एवमर्थं निरूप्य कामं निरूपयति - अजातपक्षाइवेति !

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।

प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥ ३ ॥

पुष्टिमार्गे हरे रूपदिदृक्षा मनसोऽस्य हि ।
कामो निरूप्यते तत्र दृष्टान्तत्रितयं यथा ॥ १ ॥
द्वितयं लौकिकं प्रोक्तमेकं शास्त्रीयमुत्तमम् ।
लौकिकस्त्रिगुणीभूय दृष्टान्तः स्यादलौकिके ॥ २ ॥
अन्यथैकतरेणापि सिद्धेर्थे त्रितयेन किम् ।
क्षुद्रूपो लौकिकः कामो रसरीत्या तु शास्त्रतः ॥ ३ ॥
प्रभोस्तु रसरूपत्वात्स्वस्यैकत्वेन चोत्तमः ।
अयमेव हि दृष्टान्तस्तेनान्ते चैकतोदिता ॥ ४ ॥

हे अरविन्द? मनुस्त्वां दिदृक्षत इति सम्बन्धः । नेत्रयोरम्बुजत्वेन तद्दिदृक्षया मनसो मधुपत्वं बोधितम् तथाचारविन्दे विकसिते मधुपस्य कामः सिद्ध्यति नान्यथेति तथा दृष्टिं मयि संपादयेति प्रार्थितम्, दिदृक्षाहेतुभूतं स्वरूपसौन्दर्यं च संबोधनेन ध्वनितम् । मनसः स्वतन्त्रत्वायास्मच्छब्दप्रयोगाभावः । किञ्च, दिदृक्षा दृशो धर्मः, स च मनसो निरूप्यते, तेन सर्वोन्द्रियाणामपि मनःसंनिकर्षात्पूर्णः कामो निरूपितः, अन्यथा भजनानन्दानुभवो न स्यात् तस्य सर्वेन्द्रियैकवेद्यत्वात् । प्रभोः पूर्णकामत्वेन क्रियाफलस्यात्मगामित्वायात्मनेपदम् । मनसश्चञ्चलत्वान्मधुपत्वबोधनेन च कामान्तरं संभवतीति तदभावाय दृष्टान्तरमाह-खगा इवेति, यथा पक्षिणः कदा किमानीय दास्यतीति मातरं द्रष्टुमिच्छन्ति, खगानां नियतभक्ष्याभावादनियतस्य च क्षुधार्ततयार्थसिद्धत्वात्तदत्र नोक्तम्, तदपि न सर्वदा किन्तु कियत्कालपर्यन्तमेवेत्याह-अजातपक्षा इति, पक्षोदयानन्तरं न तथेति तावदेव दृष्टान्ततेत्यर्थः । तथाचात्र क्षुदुपाधिकृतत्वमनियतविषयत्वमनियतकालत्वं चेति दूषणत्रयं संभाव्य द्वितीयं दृष्टान्तमाह - स्तन्यं यथेति । वत्सतरा अतिबालवत्सास्ते यथा कदा स्तन्यं प्राप्स्याम इति तदिच्छन्ति तथेत्यर्थः । तेषां स्तन्यमात्रैककामत्वादत्र तदेव प्रोक्तम्, मातुरभावे तद्बुध्या परस्या अपि स्तन्यं पिबन्तीति तदनुक्तिः । अत्रापि नियतविषयत्वेपि वत्सतरपदादनियतकालत्वं क्षुदुपाधिकृत्वं चेतिदूषणद्वयं संभाव्य तृतीयं दृष्टान्तमाह-प्रियं प्रियेवेति, प्रियपदादुभयत्र निरूपाधिकस्नेहो निरूपितः, स्नेहस्य तथात्वं तदभिज्ञेनोक्तं 'आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपी' ति, तेनोपाधिदूषणमत्र परिहृतम्, व्युषितमिति प्रवासिनमित्यर्थः, तेन गमनक्षणमारभ्यागमनावधि दिदृक्षाया एकरसत्वादनियतकालत्वं चापास्तम् ।

विषण्णेतिपदादनियतविषयत्वं च, अन्यथा विषादासम्भवात्, एवं दोषत्रयाभावादतयमेव दृष्टान्तो युक्त इत्याशयेन स्वस्यैकत्वादत्राप्येकवचनमुक्तमन्यथा पूर्ववदत्रापि बहुवचनं वदेत्, बहुषु तथात्वस्यासंभवात्, अत एवान्ते च निरूपणं कृतम्, पूर्वोक्तद्वयमेकदेशाभिप्रायेणेति तत्कथनमपि नानुपपन्नम् । किञ्च, प्रिया हि विप्रयोगे केवलं विषादमात्रं न करोति किन्तु, प्रिये विविधरसभावानन्तःप्रकटयति, प्रकारान्तरेण जीवनमेव न स्यात्, जाते च जीवने प्रियत्वं तु बाधितं स्यात् । स्वस्य पुरुषत्वेन स्त्रीदृष्टान्तान्यथानुपपत्या च तज्जातीयरसभाव उक्तः, अतो रसस्यातिगोप्यत्वादयं भावः प्रियापदेनाभिव्यज्यते, विषादस्त तु बहिरप्यनुभूयमानत्वादन्यज्ञानविषयत्वाच्च तथाविशेषणम्, एवमनेकरसभावविशिष्टं विषण्णं च मनत्वां दिक्षते, न तु दर्शनमात्रमिच्छति, तत्तु पूर्वमर्थत्वेन काङ्क्षितत्वादत्रानुपपन्नं विशेषाभावात्, अन्यच्च, अस्मच्छब्दप्रयोगो हि देहाध्यासकृतो भवति साम्प्रतं तु रसानुभवयोग्यदेहाभावाद्भग्नशरीरस्य च तत्प्रतिबन्धकत्वादध्यासाभावान्मन एवोक्तं न तु ममेति । दृष्टान्ते च तदध्यासस्य दृढत्वात्प्रियेति निरूपितं न तु मनः, अन्यथा प्रियेवाहं दिदृक्षे इति दृष्टान्तसाधर्म्ये वक्तव्ये मनो दिदृक्षत इति न वदेत्, अतो रसमार्गीयः कामो रसदृष्ट्यैव पूरणीय इति तथा सम्बोधनेन प्रार्थितम् ॥ ३ ॥

एवं कामं निरूप्य मोक्षं निरूपयति-ममोत्तमेति,

ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।
त्वन्माययात्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥ ४ ॥

[1]पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोर्थो हरिरेव हि ।
कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद् ध्रुवम् ॥ १ ॥

पुष्टिमार्गे मोक्षो निरूप्यते,

तत्र स्थितौ बन्धो नामाहन्ताममतास्पदेष्वासक्तिस्तदन्येषु सङ्गश्च, तस्य सहेतुकस्याभावो मोक्षश्च, पुष्टिस्तु तद्विपरीता, तत्र व्यवस्थया मोक्षद्वयमाह-ममोत्तमेति । मोक्षो हि द्विविधः, पुष्टिमर्यादया पुष्टिपुष्ट्या च । (मर्यादायां ज्ञानेनैव मुक्तिः, पुष्टौ च ज्ञानेन भक्तया वा मुक्तिः) भगवत्पारोक्ष्यापारोक्ष्याभ्यां व्यवस्था, प्रत्यक्षेपि भगवति शास्त्रार्थत्वाय उत्तमश्लोकजनेष्विति समासः । भक्तसंवलित एव भगवांस्तद्वारा फलं ददातीति पौरूषसभाजनञ्च (''येन्योन्यतो भगवता'' इति तृतीयस्कन्धे दर्शनकारणं पौरूषसभाजनमुक्तं) फलम् । भक्तेषु दास्यपर्यन्तस्य साधनत्वात्सख्यं प्रार्थयते ।

---

[1] चतुर्थस्य विवृत्तिरियं श्रीमदाचार्याणाम् । विवृत्ति पूर्त्यै निवेशिता ज्ञेया ।

सर्वथा स्वतन्त्रत्वाय स्वनिष्ठभक्तविषयकीर्त्तनम्। गुणसभाजने स्वस्यापि स्वातन्त्र्यार्थं, मुक्तेरपरिच्छेदार्थं बहुचनम्। जनत्वादेव स्वातन्त्र्येण न दोषसंबन्धः। संसारस्य चक्रत्वादेव परिभ्रमणविषयोपार्जनक्लेशाभावः ।

क्लेशसाधनपदेन कृपया साधनसंपत्तिश्च सूचिता। योग्यायोग्यदेहानां बहुधाजातत्वादिदानीं तदभावार्थं प्रार्थना । क्लेशे स्वामिनामग्रहणस्य हेतुत्वेनायुक्तत्वात्कर्मपदम् । आवश्यकत्वाय स्वपदम् । निरवधित्वाय बहुवचनम् । चक्रपरिभ्रमणे दण्डस्येव मुख्योपयोगे तृतीया । अस्या मुक्तेर्गौणत्वाय नात्र प्रार्थनापदप्रयोगः । तथा च तादृशभगवद्भक्तसख्यं पुष्टिमर्यादीयां मोक्ष इत्युक्तम्। द्वितीयमाह त्वन्माययेति । समासादेव भिन्नतया न मायामोहनम् ।

पूर्वस्मादेतस्य विशेषस्त्वत्पदेनोक्तः। आभिमुख्यञ्च। त्वदिच्छया प्राप्तस्यात्मात्मजादिषु सख्यं पुष्टिपुष्टिमोक्षः ।

त्वत्सेवौपयिकत्वेन चित्तस्य तेष्वासक्तिं नाथपदेन प्रार्थयते। तेषां नाथत्वे तथा भवतीत्यर्थः । चक्र एव परिभ्रमतः सख्यं न भगवदिच्छया हिरण्यकशिपुप्रभृतिष्विव कुटुम्बासक्तस्य, सर्वथानन्यत्वभङ्गप्रसङ्गात ।

कृतार्थत्वं तु नाथपदप्रयोगादेव सूचितम् । तदन्ते च प्रार्थना, *'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था' इतिसिद्धान्तात् ।

धर्मार्थकाममोक्षचतुर्विधपुरूषार्थसिद्ध्यर्थं माया क्रमाद्देहाद्यध्यासं करोति। तत्र देहाध्यासे धर्मसिद्धिः प्रसिद्धा। पुत्रापेक्षया अन्यार्थस्योत्कृष्टस्याभावादर्थसिद्धिः। स्त्रिया कामसिद्धिः प्रसिद्धा । 'भक्तानां गृह एव विशिष्यते' इति न्यायान्मोक्षः ।

चित्तस्य वासुदेवात्मकत्वान्मोक्षप्रकरणत्वाच्चित्तपदप्रयोगः । क्रीडाप्रतिबन्धकत्वात्प्रकृते विरोधाच्च निषेधप्रार्थना । तथा च कर्मसंबन्धव्यतिरेकेण केवलभगवन्मायया रमणरूपया भगवत्सेवाश्रवणादितत्परतया गृह एव चतुर्विधपुरूषार्थसुखमनुभवन् भगवदीय इति द्वितीया मुक्तिरियमेव मुख्या, आशीरिति सर्वान्ते क्रियाप्रयोगः । हे नाथ? मर्यादाज्ञानमोक्षो मे मा भूयादिति ॥

॥ इति श्रीमत्प्रभुचरणकृता वृत्रासुरचतुःश्लोकीविवृतिः संपूर्णा ॥

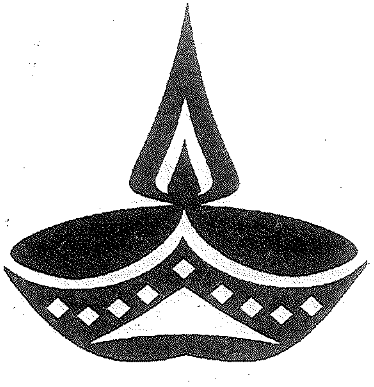

श्रीहरिःशरणम् ।
श्रीविट्ठलेशप्रभुविरचितम् ।

श्रीगीतातात्पर्यम् ।

श्रीहरिःशरणम् ।
श्रीविट्ठलेशप्रभुविरचितम् ।

श्रीगीतातात्पर्यम् ।

पितृपादाब्जयुगलं प्रणमामि कृपामधु ।
यत्कुलं गोकुलेशेन स्वीकृतं कृपया स्वतः ॥ १ ॥

प्रतिज्ञा.

अतस्तद्वदनांभोजच्युतगीतामृताम्बुधिम् ।
आविर्भावे हेतुमीशानुग्रहाद्विमृशाम्यहम् ॥ २ ॥

पूर्वपक्षः

स्वयं स्वतत्वं हि हरिः पार्थायोपदिशत्यदः ।
तदादौ धृतराष्ट्रस्याऽभक्तस्य वचसा न हि ॥ ३ ॥
उपक्रमो युक्ततरस्तत्पुत्रस्याऽपि वा कथा ।
पार्थस्यापि विषादोऽयमतद्रूपत्वतस्तथा ॥ ४ ॥
उपदेशे हेतुतया स उक्त इति चेन्न हि ।
विक्षेपात्मत्वतः शान्त्याद्यरूपत्वादपि स्फुटम् ॥ ५ ॥
अत्राधिकाराभावस्य ज्ञापकत्वाच्च लौकिकी ।
कथा युक्ता तथाभूता, न तु विद्योपदेशनम् ॥ ६ ॥

अपरं च.

ब्रह्मविद्या श्रवणतः सर्वत्यागो विरागतः ।
युक्तः स्यान्न तु गुर्वादिहननं राज्यभोगिता ॥ ७ ॥
एवं पूर्वोत्तरकथाविरूद्धमिव भाति हि ।
उपदेशनमीशे तु न तथा संभवत्यपि ॥ ८ ॥
अतः संदंशपतिता विचारकमतिर्बत ।

उत्तरपक्षः

एवं सति वदामस्त्वां तात्पर्यं कृपया हरेः ॥ १ ॥

भक्तिमार्गरीतिर्हि अलौकिकी, न साधारणरीत्या निर्णयः कर्तुं शक्यः । पार्था हि भक्तिमार्गेऽगीकृताः स्वीयत्वेन । 'पार्थास्तु देवो भगवान्मुकुंदो गृहीतवा' नित्यतएव विदुरवाक्यम् । एवं सति 'भ्राताऽपि भ्रातरंहन्या' दिति न्यायेन लोकवद्रिपून्मारयित्वा राज्यं कुर्युस्तदा राज्ये भगवत्संबंधाभावात्तद्भोगे भगवदीयत्वं न भवेत् । एवं सति पार्थस्य स्वतस्ततो निवृत्त्युक्त्या लौकिकरीत्यभाव उक्तो भवति । 'क्षत्रियाणामयं धर्म' इतिवचनात् शूराणां तेषां युद्धोपस्थितौ वीररस एवोत्पद्यते वस्तुस्वभावात्, न तु वैराग्यं पार्थे च तदुत्पत्तौ भगवदीयत्वमेव हेतुः । अन्यथा तु तुल्ययोगक्षेमत्वाद्धार्तराष्ट्रेष्वपि तदुत्पत्तिः स्यात् । एतज्ज्ञापनायैवाऽऽदौ धृतराष्ट्रतत्पुत्रकथोक्ता, तया तदुत्साह उक्तो भवति । भगवदीयस्य तु भगवत्कार्योन्मुख्येव मतिरूचिता तद्विरूद्धा कुमतिरेव । अन्यथा धर्मशास्त्रादिषु गुर्वादिहननस्य निषिद्धत्वात्ततो निवर्तिका मतिर्मतित्वेन नोच्येत । तदुक्तं भीष्मेण. 'व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या । कुमतिमहरदात्मविद्यया य' इति । एतेन भक्तिमार्गीयमर्यादा लोकवेदातीता । अतस्तावादाय भक्तिमार्गो न विचारयितुं युक्तस्तदतीतत्वादिति ज्ञापितं भवति । अतएव ब्रह्मविद्योपदेशानुपदमेवाऽऽसुरहनने प्रवृत्तिरभूत् । एतेन 'एतच्छ्रवंणानन्तरं सर्वत्याग उचितो न तु गुर्वादिहनन' मिति निरस्तं वेदितव्यम् ।

वस्तुस्तु सर्वत्यागोप्ययमेव, लोकवेदत्यागपूर्वकं भगवत एव ग्रहणं यतः । अतएव 'कच्चिदेतच्छुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा' इत्यादिना भगवता पृष्टः पार्थो 'नष्टो मोह' इत्युपक्रम्य 'करिष्ये वचनं तवे' त्युत्तरितवान् । तेन केवलभगवदीयत्वं फलितं भवति । राज्यादेरत्यागस्तु स्वमुक्तिप्रतिबंधकत्वज्ञानेनेति तत्र प्रभुसंबंधोऽस्तीति न तुच्छतरः । ननु भगवदिच्छाऽननुरूपा मतिर्भक्ते कथमभूदितिचेदित्थम्वस्तुतो भगवदीयत्वेऽपितदधीनोऽहंयुद्धादिकं करिष्ये इति न ज्ञानमासीत् । भगवता तदज्ञापनात् । किन्तु क्षात्रधर्मत्वेन । तथा तत्कृतिर्भक्तस्य नोचिता । तदीयत्वविरूद्धत्वात् । अतस्तस्यैवांतःस्थितस्याऽनुभावेन तत्प्राकट्ये हेतुरभूत् । अन्नदानाय क्षुदुत्पादनवत् भग-

वदिच्छया तथामतिः । एतेन प्रभुतत्वं तज्ज्ञापितमेव भक्तस्यापि ज्ञापितं भवति न तु स्वतो ज्ञापितं भवतीति दिक् । अपरंच, पुष्टिमार्गाङ्गीकारे स्वतएव तत्स्फूर्तिः स्यादेव । पार्थास्तु पुष्टिमर्यादायामङ्गीकृता इति पूंर्व तदुत्पत्तिरूपदेशेन च तन्निवृत्तिः ।

इति श्रीपितृपादाब्जदासेन निजहृद्गता ।
भक्तिमार्गस्य मर्यादा निरूक्ता विट्ठलेन वै ॥

इति श्रीविट्ठलदीक्षितकृतं गीतातात्पर्यं समाप्तम् ।

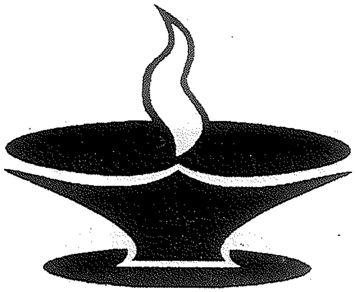

श्रीहरिः

श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितो

न्यासादेशः ।

श्रीमद्विठ्ठलेशप्रभुविरचितं विवरणम्

श्रीहरिः

श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितो

न्यासादेशः ।

[1]न्यासादेशेषु धर्मत्यजनवचनतोऽकिंञ्चनाधिक्रियोक्ता
कार्पण्यं वाऽङ्गंमुक्तं मदितरभजनापेक्षणं वा व्यपोढम् ।
दुस्साद्ध्येच्छोद्यमौ वा क्वचिदुपशमितावन्यसंमेलने वा
ब्रह्मास्त्रन्याय उक्तस्तदिह न विहतो धर्म आज्ञादिसिद्धः ॥१॥

संन्यासाज्ञासु 'यदहरेवे' त्यादिषु धर्मत्यागवाक्येन निष्किंचनस्यैव शरणागतावधिकार उक्तः । किं वा निःसाधनता हि शरणेऽङ्गमित्युक्तम् । अथवा भगवदितरस्य देवादेः भजनं अपेक्षा च निषिद्धा । किं वा कृच्छ्रसाध्ये यज्ञादौ भगवदनुग्रहभाजनेन नेच्छोद्यमौ कर्तव्यावित्युक्तम् । किं वा अन्याश्रये कृते शरणागतिभङ्गो भवतीत्यत्र 'ब्रह्मास्त्रन्यायो' ऽभिहितः । एवं 'सर्वधर्मा.' नित्यादिना वेदमन्वादिनिदेशसिद्धो धर्मोऽत्र न नष्टः ।

दीक्षितश्रीमद्विठ्ठलेशप्रभुविरचितं विवरणम्

(अवतरणम्)

१) ननु सर्वत्यागो हि पुष्टिमोर्गे न तु मर्यादायाम् । पार्थे च तदुपदेशात्तन्मार्गीयत्वमिति भवत्यवधृतिः । धर्मत्यागे मर्यादामार्ग एव पापसंभवेनाऽत्र च तत्कथनेन संशयोऽपि । स्वस्यैव पापमोचकत्वोक्त्या न मर्यादाऽपि । पुष्टस्यैवंविधशोकाऽसंभवेनाऽत्र च तन्निषेधाऽनुपपत्त्या तत्सत्वनिश्चयेनाऽपि मर्यादामार्गीयत्वं ज्ञायते । किं च पुष्टिलीलायाः फलप्रकरणे स्वयं मर्यादामेव निरूपयन्भक्तानामाग्रहेण परं पुष्टिमङ्गीकृतवान् । इह तु तद्वैपरीत्यम् । अपरं च शरणमागते

---

१ सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षायिष्यामि मा शुचः । (गीता)
अयं श्लोकोऽस्य श्लोकस्य विवरणम् ।

पापान्मोचनमुक्तं न तु 'अन्ह्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण लोके वैकुण्ठ उपनेष्यति गोकुलं स्व' मितिवत् । 'द्रोणादीन्मारय पापेभ्योऽहं मोचयिष्यामीति' शरणगमनम् । तथा सति पापमोचनं च मर्यादैवेति तद्विरूद्धं धर्मत्यागवचनं नोपपद्यत इति विचारकान्तःकरणकलिलमपनयंस्तद्वाक्यतात्पर्यमेकेन श्लोकेनाऽह न्यासादेशेष्वित्यादि ।

ग्रन्थारम्भः ।

२) अत्राऽयं भाव :-पार्थस्य पुष्टिमर्यादायामङ्गीकारो न तु पुष्टिपुष्टौ । शरणगमनं च पुष्टिमर्यादारूपम् । तेन धर्मत्यागः पुष्ट्यंशः । शरणगमनात्मकसाधने सति रक्षा च मर्यादायाः । तेनोभयोर्भक्तिर्न विरूद्धा । पुष्टिमर्यादायां केवलमर्यादामार्गीयधर्मबाधो न दोषाय । तुरीयाश्रमे पूर्वाश्रमधर्मबाधवत् ! तत्र पूर्वस्यैव तस्य बाधो न तु गृहीताश्रमीणस्याऽपि । इह तु धर्ममात्रस्य पूर्वाश्रमीणतुल्यत्वमिति विशेषः । शरणागत्यात्मकवस्तुन एव तथात्वात् । तदाह- 'तदिह न विहतो धर्म आज्ञादिसिद्ध' इति । यद्वा धर्मत्यागकथनेन धर्मो न विहतस्तत्र हेतुराज्ञादिसिद्ध इति । कुर्वित्याज्ञा विषयो यः स एव धर्म इत्यर्थः । तथा च तत्त्यागस्याप्यत्राऽऽज्ञाविषयत्वाद्धर्मत्वमेवेति भावः । लोके 'धर्मा उपदेष्टव्याः' इत्याज्ञां प्राप्य मन्वादिभिरूक्तो धर्म आदिपदेनोच्यते । यद्वा आज्ञा पूर्वोक्ता आदिर्यस्य मन्वादिशास्त्रस्येत्यर्थः ।

३) तर्हि पापकथनमनुपपन्नमितिचेन्नाऽनवबोधात् । तथाहि मूले सर्वधर्मानित्यत्र सर्वपदेन शरणागतातिरिक्ता धर्मा उच्यन्ते । तथा च यत्संबंधिनो धर्मास्तत्संबंधीन्येव तद्बाधजपापान्यपीति तेभ्यस्त्वां मोचयिष्यामि । प्रवाहन्यायेन तत्संभावनायामपि त्वयि तदनुत्पत्तिं करिष्यामीत्यर्थः । न तु त्वय्युत्पन्नेभ्य इति । एतत्कथनं तन्मार्गस्वरूपानभिज्ञत्वेन स्वस्मिंस्तत्संभावनया शोचन्तं पार्थमाश्वासयितुम् ।

४) तर्हि 'मामेकं शरणं व्रजे' त्येतावदेव वक्तुमुचितं शरणपदार्थस्यैव तद्रूपत्वादत आह - 'न्यासादेशेषु धर्मत्यजनवचनत' इति । न्यासः संन्यासस्तदादेशेषु- 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' 'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता' इत्यादिषु । तत्र वैराग्यमेवाधिकारत्वेनोक्तम् । अत्राऽप्यैहिकपारलौकिकसाधनानां परस्परविरोधात्सम्यक्कर्तुमशक्यत्वाच्च स्वेष्टासाधनत्वज्ञानेन तेषु विरागे जाते भगवति च कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थत्वेन ज्ञाते सति शरणगमनं भवतीतीदमप्यस्मिन्नंशे संन्यासरूपमेवेत्यत्राऽपि तदुक्तिः । तस्य पूर्वाङ्गत्वात्तेन विना तदसंभवाच्च । एवं सति 'न विहतो धर्म' इत्यत्राऽयं हेतुरित्यपि ज्ञेयम् । 'वचनत' इति भावप्रधानो निर्देशः । तथा च तत्सजातीयत्वातत्र यथा न धर्मविहतिस्तथाऽत्रापीत्यर्थः । एतेन सर्वधर्मा अस्य परधर्मा इति सूचितम् ।

५) ननु पार्थ ऐहलौकिकपारलौकिकधर्मत्यागाभावादेवमुपदेशस्य फलं न पश्याम इत्यरूच्या पक्षान्तरमाह-'अकिश्चनाऽधिक्रियोक्तेति । येषां प्रवृत्तिनिवृत्योर्भगवदधीनत्वमेवेति 'यत्किंचित्कुर्वन्ति तद्भगवानेव करोति' इति तदतिरिक्तं न किंचनाऽस्ति तेऽकिंचनास्तेषामेव शरणागतावधिकार इति ज्ञापनायाऽकिंचनत्वमेव सर्वधर्मत्यागरूपमुक्तवानित्यर्थः । एवं सति द्रोणादिमारणवद्राज्यभोगतत्त्यागावपीति ज्ञापितम् ।

६) ननु भगवदीयस्य स्वतोऽन्यत्र प्रवृत्तिरेव न । प्रवृत्तौ वा न फलसिद्धिः । 'त्रैवर्गिकायासविघात' मिति वाक्यात् । तथा सति स्वयमेव सर्वतो निवृत्तो भविष्यतीति किमर्थं कथनमित्याशंक्य तात्पर्यान्तरमाह - 'कार्पण्यं वाङ्गमुक्तमिति' । सर्वसाधनराहित्यस्फूर्त्याऽऽत्मनि दीनत्वं स्फुरति नान्यथा । तच्च शरणागतावंगम् । अन्यथा कदाचिद्भगवद्बलेनैवौद्धत्ये कृते शरणागतिर्भज्यते । तेन दीनत्वमेव सर्वधर्मत्यागकथनेनोक्तमित्यर्थः । यद्वा 'कृपणः स तु विज्ञेयो योऽनालोचित्याचकः' इति वाक्यात्तथात्वं वक्तुं सर्वधर्मत्याग उक्तः । तथा हि-क्व ब्रह्मश्रुत्यादिदुरापचरणरेणुरीश्वरः । क्वाहं तुच्छो जीव इत्युभयधर्मस्फूर्तौ शरणागतिरेव न संभवतीति स्वधर्मभगवन्माहात्म्यरूपधर्मानपि त्यक्त्वेत्युक्तमित्यर्थः । अत्र

त्यक्त्वाऽविचार्येत्यर्थो ज्ञेयः । अत एवाङ्गमित्युक्तम् । अस्मिन्पक्षे साक्षाद्भगवतः शरणत्वे यत्प्रतिबन्धकं तत्सर्वं पापशब्देनोच्यते । आधिभौतिकादित्रयसत्वात्तद्बहुत्वम् ।

७) ननु संसाराद्भीतस्याऽर्तस्य पूर्वोक्तधर्मज्ञानं शरणागतौ न प्रतिबंधकम् । प्रत्युत महत्वज्ञानं साधकमित्यरूच्या तात्पर्यान्तरमाह मदितरभजनापेक्षणं वा व्यपोढमिति । महत्यशक्य एवार्थे हरिः शरणम् । स्वशक्येप्यर्थे भगवति भारः किमर्थ देय इत्याशंकानिरासार्थे सर्वधर्मान्परित्यज्येत्युक्तम् । सर्वान् भगवदतिरिक्ताश्चोदनालक्षणान् ततद्देवताभजनरूपान् । लौकिकापेक्षात्यागः परिशब्दार्थः । तथा च मदितरश्च भजनं च अपेक्षणं च तेषां समाहारस्तथा । एवं सति सुशक्येऽत्यशक्ये चाऽर्थे हरिरेव शरणमिति ज्ञेयमित्यर्थः । अन्यथा शरणपदार्थाभाव इति भावः । यद्वा अहं चेतरश्च मदितरौ तयोर्यथाक्रमं भजनमपेक्षणं चेत्यर्थः । शरणमार्गे भगवद्भजनस्यानपेक्षणात्तथात्वम् । अस्मिन्पक्षे सर्वधर्मपदेन भगवद्धर्मा अप्युच्यन्ते । भगवद्वाक्यव्याख्यानत्वेन मच्छद्बप्रयोगः तदिति वा ।

८) ननु पापाभावार्थमेव शरणागतिकथनं चेत्तदा प्रायश्चित्तादि-नैव तत्संभवे पुरूषार्थरूपशरणगमनोपदेशोऽयुक्त इत्यरूच्या तात्पर्यान्तरमाहुः-दुःसाध्येच्छोद्यमौ वा क्वचिदुपशमितौ इति । भगवदंगीकारानन्तरं पापसंभावनैव न । कदाचित्तत्संभवे प्राचीनप्रारब्धस्य न प्रायश्चित्तादिना निवृतिः । किन्तु भगवतैव । एवं सति 'तरति बह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजत' इत्यादिश्रुतिरेतद्भिन्नेति-ज्ञेयम् । तथा चाऽश्वमेधादिना तन्निवृत्तिर्दुःसाध्या । तत्रेच्छोद्यमयोरूपशमनार्थे धर्मत्याग उक्त इत्यर्थः । अस्मिन्पक्षे 'सर्वेषां धर्मा' नित्यर्थो ज्ञेयः । इदं च महदैश्वर्य यदल्पेऽर्थे बहुदानम् । अस्य भगवदीयत्वेनासाधारण्यादन्यतो दोषनिवृत्तावेतन्मार्गाप्रवेशे च न कदाचित्तन्निवृत्तिर्भवेदित्यन्यथाऽनुपपत्तिरेव शरणकथने बीजम् । तेनैतस्य दानमेव, न कथनमात्रम् । तर्हि पूर्वोक्तेच्छोद्यमासंभवात्तत्कथनमनुपपन्नमित्याशंक्य पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीय इति न्यायेन तत्परिहार इति ज्ञापनाय क्वचिदित्युक्तम् । तथा च तौ क्वचित्संभवत इति पूर्वेण संबंधः ।

९) तथापि लोकसंग्रहार्थं धर्मकरणमुचितमित्याशंक्य तात्पर्यान्तरमाहअन्यसंमेलने वा ब्रह्मास्त्रन्याय उक्त इति । अयं न्यायो हनुमति प्रसिद्धः । तथा च धर्मान्तरसंबधे शरणपदार्थो गच्छतीति तद्रक्षार्थमेव धर्मत्याग उक्त इत्यर्थः । एकपदमप्यत एव । अन्यथा मामित्यनेनैवेकत्वप्राप्तेरिदं व्यर्थं स्यात् । तदर्थस्तु देशकालापेक्षारहितमिति । अतो न विहतो धर्म इत्यादि पूर्ववत् ।

१०) पुरःस्फूर्तिकोऽयमर्थो वस्तुतस्त्वन्यत्रैव तात्पर्यम् । तथाह्यत्र सर्वात्मभावे तात्पर्यम् । धर्मत्यागकथनेन धर्मो न विहत इत्यत्र हेतुरूच्यते न्यासेत्यादि । भक्तिमार्गीयन्यासो घोषभूषणसीमन्तिनीष्वेवैति पितृचरणैः संन्यासप्रकरणे निरूपितम् । तथा च न्यासस्य आदेशः कथनम् । 'संत्यज्य सर्वविषयानि'त्यादि । 'कात्स्नयंग त' इत्यादि । किङ्करीणा'मिति च । न हि कैंकर्ये पूर्वसिद्धो धर्मस्तिष्ठति । 'एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानामिति च' । 'पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवा'निति एवं सति तत्त्यागवचनं पूर्वसिद्धमित्येतदपि तत्सजातीयमित्यर्थः । भावप्रधानत्वमत्राऽपि । तथाऽपि च सर्वधर्मान्परित्यज्य मां धर्मिणं शरणं व्रजेत्यर्थः ।

११) कर्मज्ञानभक्तिमार्गा हि मोक्षान्ता भगवद्धर्मपर्यवसाना एव । न तु धर्मिपर्यवसानाः । त्रिष्वपि विहितत्वेनैव करणमिति भगवद्धर्मरूपाज्ञापरत्वमेवेति तथा । सर्वात्मभावस्य केवलधर्मिपर्यवसानात्म एव भाव उपदिष्टो भवति ।

१२) किंच 'अकिंचनेत्यादि' । 'तदर्थविनिवर्तितसर्वकामा' 'तन्मनस्कास्तदालापा' इत्यादि । एतादृशा अकिंचना येषां क्षणविलंबोऽपि सोढुं न शक्यः । अन्यथा प्रातरायास्यत्येवेति, किमर्थनेतावान्प्रयासः स्यात् । तथा च स्वविवेकधैर्यत्याग उक्तो भवति । सर्वात्मभावयुक्तस्यैतत्त्यागः सहज इति नोपदेशार्ह इत्यधिकार एव तेनोक्तः । तेन भावोत्पत्तेः पूर्वमेव तत्त्यागो भवतीति सूचितम् । अधिकारस्य तथात्वात् ।

१३) तत्राऽपि क्लेशो भगवत्तिरोधानजन्यः श्रूयत इति कथं निस्तार इत्याशंकानिरासार्थं कार्पण्यं वाङ्गमुक्तम् । एतच्च सर्वसाधनवैफल्ये 'रूरुदुः सुस्वरं राजन्कृष्णदर्शनलालसाः' इत्यत्रोक्तं दैन्यम् । तेन न क्लेशो भावीति भावः ।

१४) भावे वा पुरूषार्थरूपत्वात्क्लेशस्य न काचिन्न्यूनताऽपीत्याह मदितरेति । इतरस्मिन्भजनमितरभजनम् । तथा च यथाहं भजामि तथा स्वाम्यपि भजत्वित्यपेक्षा तथा कृतेत्यर्थः । तदुक्तं 'नाऽहं तु सख्य' इत्यादिना ।

१५) यद्वा सर्वधर्मानिति स्वामिविशेषणम् । एवं सति तान् परित्यज्य शरणभूतं मां व्रज प्रामुहीत्यर्थः । सर्वात्मभाववत्स्वेव ह्यानंददानार्थं ब्रह्मधर्मानप्यात्मारामत्वादीन्भगवाँस्त्यक्तवानिति । तथा च मम एतादृशभक्तमपहायाऽन्यभजनापेक्षणं तथेत्यर्थः ।

१६) न चैतादृशो भावः साधनैभवितुं शक्नोतीति साधनैरिमं भावं साधयिष्यामीतीच्छोद्यमौ तथा । साक्षात्स्वरूपसम्बन्धिनां स्वरूपत एव जातेऽप्याधुनिकानां साधनैर्भविष्यतीति शंकाऽभावाय 'क्वचिदि'-त्युक्तम्। किं च एतद्भावयुक्तस्यान्यमेलनमपि न । यथेतरमेलने ब्रह्मास्त्रगमनं तथैतद्भावे सति नाऽन्यमेलनमित्यर्थः । अस्मिन्नपि पक्षे स्वामिविशेषणं ज्ञेयम्। तस्मा'द्भर्तु शुश्रूषणं स्त्रीणा' मित्याज्ञा न तथेत्यर्थः । तस्य मर्यादात्वात्त्यागस्य च पुष्टिरूपत्वादिति भाव इति हृदयम् ।

१७) ननु पार्थस्यैतद्भावानुत्पत्तेरयमुपदेशार्थ इति कथमवधार्यतइति चेत् उच्यते। भगवान् शास्त्रार्थं प्रतिपादयति तत्र यथाधिकारो बोध इति दिक्। अस्मिन्पक्षे भगवदतिरिक्तस्य भगद्भावप्रतिबंधकत्वेनानिष्टत्वात्सर्वस्यैव पापरूपत्वम्। तथा च तेभ्यस्तथा करिष्यामीत्यर्थः । एतेनायं भाव एतत्प्रतिबंधकापगमश्च भगवतैवेति ज्ञापितम् । अथवा पार्थेऽप्ययं भावो भावीति ज्ञेयम् । अन्यथा पूर्वश्लोके 'मामेवे'-त्येवकारो व्यर्थः स्यात्। 'माम्' इत्यनेनैव भगवदैक्यप्राप्तेः । तथा च सर्वात्मभावविषयधर्मिमात्रमेष्यसीत्यर्थः संपद्यते । तथा च पूर्वसाधनमुक्त्वोत्तरेण तं भावमेवोपदिष्टवान् । अत एव 'व्रजे' ति मध्यमपुरूषप्रयोग 'स्त्वा' मिति चोपपद्यते । भगवद्वाक्येनैतद्भावस्वरूपज्ञाने सति मोक्षाधिकपरमपुरूषार्थरूपभावाप्राप्तिज्ञानेन भगवदितरस्य सर्वस्यैव प्रतिबंधकत्वज्ञानेन च तस्मिन् शोचन्तं पार्थमाश्वासयितुमुत्तरार्द्धः ।

१८) एतद्भाववत्त्वेन तदप्रसिद्धि 'रिदं ते नाऽतपस्कायेत्या' दिना निषेधात्स्वहृदय एव निगूढत्वेन स्थापनादिति ज्ञेयम् । अत एव स्वस्य केवलभगवदीयत्वख्यापनाय 'करिष्ये वचनं तवे' त्युक्तं न तु 'शत्रून्हनिष्ये' 'राज्यं भोक्ष्य' इति वा । तथा च तत्करणमाज्ञापालनमेवेत्युक्तम् । किंच एतद्भाववत एवाऽत्युदारत्वेनाऽन्यत्र सर्वत्रैव तुच्छबुद्धिर्भवेन्नान्यस्य। इतोऽपि पार्थे तद्भाववत्वं लक्ष्यते ।अन्यथा स्वतो वेदवाक्यविचारेण गुर्वादिवधाद्विमुखस्य तद्विरूद्ध वाक्यश्रवणे चोभयोरपि तद्वाक्यत्वात्समानबलत्वेन संशयजनकत्वमेव स्यादिति न तत्र निःसंदिग्धा प्रवृत्तिः स्यात् । अत एव धर्मिणि हृदयं गते धर्ममार्गस्य दुर्बलत्वमिति ज्ञात्वा 'स्थितोऽस्मि गतसंदेह' इत्युक्तवान् । अतएव 'नारायणपरा लोके न कुतश्चन बिभ्यति' इत्यादि शिववाक्यम् । राज्याद्यर्थं गुर्वादिमारणं तु मोहकार्यमेवेति 'नष्टो मोह' इति न वदेच्चेति निगूढाशयः ।

१९) यद्वा सर्वात्मभाववतां वार्ताश्रवणेन तस्य मोक्षाधिकपरमपुरूषार्थत्वज्ञानेन तदर्थं भगवद्भजनादावपि कृते यदा न तत्प्राप्तिः । तस्य चावश्यापेक्षणीयत्वेनाऽत्यार्त्तिर्भवेत् । भगवदनुग्रहविशेषैकलभ्यत्वज्ञानं च । तदा स्वाशक्यत्वज्ञानेन तादृशानुग्रहकरणे तद्भावप्राप्तौ च भगवानेव शरणमिति शरणागतिर्भवति । ततश्च तद्भावप्राप्तिः । उभयमपीदं फलरूपमितरसाधनासाध्यमितिवरवद्दास्यन्नाहसर्वधर्मानिति । उक्तरीत्या लौकिकवैदिकभगवद्धर्मानितदसाधनत्वात्त्यक्त्वा मां शरणं व्रजेत्युत्तरार्धसहितेन शरणागतिदानम् । तदनंतरमेकं केवलभावविषयं मां व्रज प्राप्नुहीति तद्भावदानम् । तदैव शोकनिवृत्तिरपि भविष्यतीत्याह - मा शुच इति । केवलभावलभ्यरसस्यैव तन्निवर्तकत्वात् । अतएव भागवते 'शोकनाशन' मिति तद्विशेषणम् । एवं सर्वमवदातम् ।

इति पितृचरणकृपातो गोपीपतिचरणरेणुधनिना यः ।
श्रीविठ्ठलेन विवृतो भावो मयि स स्थिरो भवतु ॥ १ ॥

इति श्रीमदग्निकुमारविरचितं श्रीन्यासादेशविवरणं सम्पूर्णम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

शृङ्गाररसमण्डनम् ।

- ★ दानलीला ।
- ★ रससर्वस्वम् ।
- ★ दशोल्लास

भावैरङ्कुरितं महीमृगदृशामाकल्पमासिञ्चितैः
प्रेम्णा कन्दलितं मनोरथमयैः शारवाशतैः संभृतम् ।
लोल्यैः पल्लवितं मुदा कुसुमितं प्रत्याशया पुष्पितम्
लीलाभिः फलितं भजे व्रजवनीश्रृङारकल्पद्रुमम् ॥
(श्रीमद्विठ्ठलेशप्रभुचरणाः)

दानलीला ।

श्रीमत्प्रभुचरणप्रकटिता ।

स्रग्धरा -मुदा चन्द्रावल्या कुसुमशयनीयादि रचितुं
सहासं प्रोक्ताः स्वप्रणयिसहचर्यः प्रमुदिताः ।
निकुञ्जेष्वन्योन्यं कृतविविधतल्पेषु सरसां
कथां स्वस्वामिन्याः सपदि कथयन्ति प्रियतमाम् ॥१॥

पृथ्वी -अशेषसुकृतोदयैरखिलमङ्गलैर्वेधसा
मनोरथशतैः सदा मनसि भावितैर्निमिते ।
अहन्यतिमनोहरे निजगृहाद्विहारेच्छया
सखीशतवृताऽचलद्व्रजवनेषु चन्द्रावली ॥ २ ॥

समुन्द्रथितमालतीकुरबकादिपुष्पावली-
गलत्परिमलोन्मदभ्रमरयूथसन्नादितम् ।
उदारमतिचित्रितं मृगमदादिभिर्बिभ्रती
मनोभवमदापहं किमपि केशपाशं सखि ॥ ३ ॥

गीति -श्यामेन्दोरनुरूपां विधिरचितां तारकामहं मन्ये ।
यत्तत्करनखकिरणा न जातु सख्यस्त्यजन्ती माम् ॥४॥

कुङ्कुममलयजमृगमदचित्रितकुसुमं तदीयधम्मिल्लम् ।
नो किन्तु कुसुमधनुषस्तूणीरं सज्जितं विधिना ॥ ५ ॥

शिखरिणी-न धम्मिल्लो मौग्ध्यामृतजलमुचामेष निचयो
न पुष्पाणीमानि त्रिदशपतिमौर्वीपरिणतिः ।
न मुक्तागुच्छानि प्रकटसुषमाम्भःकणभरो
न काश्मीरोद्भूता सुभगतररेखा तडिदियम् ॥ ६ ॥

गीति -निसर्गसुन्दरोऽप्यालि सूक्ष्मचित्राम्बरान्तरे ।
गूढो भाव इवैतस्याः सोऽदृश्यत विलक्षणः ॥ ७ ॥

अनुष्टुप् -मत्समर्पितसिन्दूररेखोपरि परिस्थिताम् ।
मुक्ताफलावलीमालि सीमन्ते बिभ्रती बभौ ॥ ८ ॥

न सा सिन्दूररेखालि मुक्ताहारयुताऽपि तु ।
सफेनराजिराभाति पूरः सौभाग्यवारिधेः ॥ ९ ॥

गीति – वदनसुधाकरकिरणप्रसृतेर्मुक्ताततेरिदं चित्रम् ।
यत्कचनिचयतमोऽपि प्रियसखि सततं प्रकाशयति ॥ १० ॥
सुस्निग्धामलकुञ्चितमेचकसुभगालकावलिं तरूणि ।
वदनाम्बुजस्य परितो दधती रेजे सरोजाक्षी ॥ ११ ॥
ईषद्धासविकाशविभ्रमगलल्लावण्यमध्वानना –
म्भोजस्यालकषट्पदालिरमला मत्ताऽपि राधा सखि ।
यत्स्वाभाविकझाङ्कृतीरपि मुदा विस्मृत्य नित्यं पिब-
त्यस्पन्दं तदिदं विभाति भुवने पङ्केरूहाक्ष्यद्भुतम् ॥ १२ ॥

गीति – नैतन्मुखं प्रियाया राकापतिरेव राजते विमलः ।
नेयं कुन्तलमालासुषमा मुग्धाः सखीदृशां ताराः ॥ १३ ॥
सकमलयमुनातरलोद्भूतानिलजातकम्पितव्याजात् ।
कन्दर्पकोटिशोभामलकचयोऽयं तिरस्कुरूते ॥ १४ ॥

शिखरिणी– विशाले भाले हीरकमणिगणस्वर्णखचितं
स्फुरन्मुक्ताप्रोतं तिलकमलकाक्रान्तिरूचिरम् ।
ततस्तिर्यग्रेखं मृगमदमयं दीपकलिका –
निभं सिन्दूरस्य प्रियसखि ततश्चारू दधती ॥ १५ ॥

अनुष्टुप् – रेजे मुक्तामयो बिन्दुः कस्तूरीतिलकान्तरे ।
चलत्कादम्बिनीराजद्राकापतिरिवामलः ॥ १६ ॥

वंशस्थ – न भ्रूलता सा न विलोचने ते न विभ्रमास्ते सरसीरूहाक्ष्याः ।
कौमारलीलाजितकाममौर्वी बाणा धनान्येव विलुण्ठितानि ॥१७॥

गीति – त्रिभुवनजयमदजनितत्रिवक्रतामालि विभ्रती तद्भ्रूः ।
मधुसूदनमपि जेतुं सपदि व्यग्रेव चपलास्ते ॥ १८ ॥

वसंततिलका–ज्ञातं मया सखि पुरैव नवानुराग-
राकाकलानिधिरूदेष्यति तद्वदीति । यत्तस्य
कोमलकरप्रसृतिः सरागा नेत्रद्वयेति रूचिरा प्रकटा बभूव ॥ १९ ॥

अनुष्टुप् – ययास्त्रविद्ययाऽनङ्गो विजितस्तां मृगीदृशे ।
अद्योपदिशतो नेत्राचार्यौ श्रुतियुगे शनैः ॥ २० ॥

वंशस्थ – जगन्ति जेतुं चलिते दृशौ तन्मार्गावरोधे श्रवणद्वयेन ।
सरोषमुन्मार्गामिव प्रवृत्ते वक्राञ्चले रेजतुरालि तस्याः ॥२१॥

गीति – परिधायाञ्जनकञ्चुकमपाङ्गबाणैः श्रुतिदरीसंस्थम् ।
हन्तुं मदनमृगं तल्लोचनमृगयू विचारयतः ॥ २२ ॥

हरिणी – श्रवणयुगलेऽस्यास्ताटङ्के विचित्रमहामणि-
प्रकरकनकप्रादुर्भूतप्रभाजितभास्करे ॥
मदगजभवश्रीमन्मुक्ताफलैरपि मण्डिते
कुवलयदलश्रेणीपूर्णोदरे सुविरेजतुः ॥ २३ ॥

वसंततिलका– न भ्रूरियं चपलशैशवलीलयैव
द्राङ्निर्जितस्य धनुरेव मनोजराज्ञः ।
नो लोचने सखि तदाहितपुष्पबाणौ
सर्वस्वमेव हृतमस्य न ते विलासाः ॥ २४ ॥

गीति – स्यातां यदि राकेशौ तदुपरि च दिवाकरावुदेयाताम् ।
तर्हि तथाविधगण्डद्वयसाम्यं स्यात् सरोजाक्षि ॥ २५ ॥

अनुष्टुप् – नवकुङ्कमपाटीररेखागण्डद्वये सखि ।
विरेजिरे मृगदृशः प्रकटाः सुषमा इव ॥ २६ ॥

गीति – शुकतिलकुसुममदापहसुन्दरनासापुटे कुरङ्गाक्षी ।
अविदूरलम्बिमुक्ताफलमालोलं बभौ दधती ॥ २७ ॥
नासाग्रगतमुदारं मुक्ताफलमालि तन्न कमलाक्ष्याः ।
किन्त्वाधिक्यवशेन प्रकटः सुषमामृतस्यन्दः ॥ २८ ॥
जितबिम्बेऽधरबिम्बे शम्बररिपुशास्त्रगूढतत्वे सा ।
मुखकमलोदर इव तनुतररेख[१]ां विभ्रती रेजे ॥ २९ ॥
निसर्गरागातिमनोहरस्य ताम्बूलरेखापरिसञ्जितस्य ।
स्मितोदितस्फीतरदांशुभूषाऽधरस्य सौन्दर्यमवाकपथं मे ॥ ३० ॥

---

[१] रेखा इति पाठः ।

तनुतरसुभगाधरगतरेखा नहि घोषभूषणाङ्ग्यास्ताः ।
वागमृतजलधिपूरः स्त्रोतांस्येवोत सहचर्यः ॥ ३१ ॥

औपच्छंदसिक–अचिरांशुलता अपि द्विजालिव्यपदेशाद्यदतिस्थिरा बिभर्ति ।
व्रजनाथमनो विनोदकारि स्ववशे सा कुरूते न तद्विचित्रम् ॥३२॥

पृथ्वी – अयि प्रियसखि द्विजावलिरियं न किन्तु प्रिया–
नुरागरसरञ्जिता रतिरसामृतश्रेणयः ।
ददाति तदियं सदा रहसि माधवायैव सोऽ–
प्यमन्दमनुरज्यते रतिरसज्ञचूडामणिः ॥ ३३ ॥

अनुष्टुप् – मुखचन्द्रमयूखा वा किं वा हीरकराजयः ।
दाडिमीबीजपङ्क्तिर्वेत्यनिर्धारो रदेष्वभूत् ॥ ३४ ॥

गीति – आधिक्यादधरसुधा[१] स्खलेदिति प्राप्तशङ्क्या विधिना ।
रचिते तदुपष्टम्भे चिबुके पाटीरमादधती ॥ ३५ ॥

उपजाति – अस्मिन्मुखेन्दौ मदनेन्दुपद्यधिक्कारिता मात्रकलङ्कितेति ।
प्रकाशयन्ती चिबुकेऽञ्जनस्य बिन्दुं विरेजे दधती मृगाक्षी ॥३६॥

गीति – किं वर्णयामि सख्यश्चिबुकगतश्यामबिन्दुसौन्दर्यम् ।
मन्ये रसिकशिरोमणिमाधवमन एव तल्लग्नम् ॥ ३७ ॥

हरिणी – किमयममलो राकाधीशो न तत्र मधुव्रताः
कमलमथवा स्मेरं तत्राचिरांशुलता न हि ।
किममृतमयोऽपूर्वो मेघो न तत्र हि खञ्जना–
विति शशिमुखाम्भोजं कासां न संशयभूरभूत् ॥ ३८ ॥

उपजाति – सुधांशुसारं परिगृह्य वेधास्तदाननं यद्विदधेऽतियत्नैः ।
मालिन्यमाभाति तदम्बुजाक्षि तन्मन्डले चिह्नमिति
प्रसिद्धम् ॥ ३९ ॥

पृथ्वी – स्वरेण भुवनत्रयं विजितमित्यभिज्ञापकं ।
तदुद्भवभुवि स्मरस्मयहरे स्वकण्ठे बभौ ।
व्रजेशभुजभूषरे सखि मनोज्ञरेखात्रयं
स्वरत्रयमिव स्फुटं मलयजाङ्किते बिभ्रती ॥ ४० ॥

---

[१] सुधारस इति पाठः ।

गीति – मणिवरहीरकहाटकजटितं मुक्ताफलावलीप्रोतम् ।
प्रकट इव भावनिचयो भूषणमस्या बभौ कण्ठे ॥ ४१ ॥

मालिनी – उरसि विविधमप्याकल्पभारं वहन्ती
रतिरणजयभूमौ राधिकावल्लभस्य ।
अलमभिशुशुभेऽतिस्थूलगुञ्जामणीना–
मतिरूचिरमुदारं हारमाबिभ्रती सा ॥ ४२ ॥

गीति – मृगमदपत्राङ्कितमुरू कुङ्कुमपङ्केन रूषितं रेजे ।
रतिपतिमङ्गलकलशद्वयमिव कुचयुग्ममेतस्याः ॥ ४३ ॥

उपजाति – कुच[१]द्वयं नैव रसौघवित्तमेकीकृतं स्वं द्विविधं स्मरेण ।
न चूचुके किन्त्वपरो मुरारेः प्राप्नोतु मेत्य[२]र्पितराजमुद्रे ॥ ४४ ॥

गीति – लावणयामृतसरसि व्रजाङ्गनावपुषि खेलतः सख्यः ।
कोकौ कुचौ मनोज्ञौ संश्लिष्टाङ्गावतिस्नेहात् ॥ ४५ ॥
रतिरसभावद्वयमिव सर्वस्वमनङ्गभूभुज इवाल्यः ।
कुचयुगलं निजवसनाञ्चलेन सङ्गोपयन्ती सा ॥ ४६ ॥
काठिन्येन श्रीफलमतिसरसतया सुधासमूहं च
सद्वृत्तमसृणताभ्यां जिग्ये कोकान् कुचद्वन्द्वम् ॥ ४७ ॥

वसंततिलका–सौन्दर्यसीम कुचकुम्भयुगं विधाय
वेधाः कुदृष्टिभवदोषभिजाञ्जनस्य ।
बिन्दुद्वयं यदकरोत्सखि तेन तत्र
श्यामाग्रतेत्यहमये कमलाक्षि मन्ये ॥ ४८ ॥

गीति – गोपाङ्गनाङ्गसुषमामृतसरसि कुचाब्जयुग्ममतिसरसम् ।
मन्ये सखि सञ्जातं यत्कोशोपर्यपि भ्रमरौ ॥ ४९ ॥

पृथ्वी – सुवर्णासितयूथिकाकुसुमनिर्मितां बिभ्रती
कुरङ्गमदकुङ्कुमारूणकणैर्विचित्रां स्त्रजम् ।
विचित्रवसनान्तरे सखि विलक्षणां माधव–
प्रियाति शुशुभे कुचोपरि विहारमातन्वती ॥ ५० ॥

गीति – सुन्दरकुचहेमाम्बुजनाल इवालं व्यरोचत कृशाङ्ग्याः ।
नाभीसरोभवः सखि तन्वी रोमावली तस्याः ॥ ५१ ॥

---

[१] कुचद्वयेनैवेति पाठः । [२] नेत्यर्पितेति पाठः ।

तनुतरकुवलयदलमयबाणः कुसुमायुधेन तन्वङ्ग्याः ।
हृदयेर्पित इति सख्यो मन्ये नो रोमपङ्क्तिः सा ॥ ५२ ॥

हरिगीत - स्वयं धूर्तो नाभीविवरकुहरस्थो रतिपति-
र्मनो मीनं तस्या हृदि सरसि कौमारचपलम् ।
वशीकर्तुं सख्यो दधति गुणतारूण्यवडिशं
तनौ तत्सूत्रश्रीर्न तु मसृणरोमावलिरियम् ॥ ५३ ॥

अनुष्टुप् - न सा रोमावली किन्तु तदीयहृदयोद्भवा ।
नाभीहृदे पतन्त्यालि रसधारैव राजते ॥ ५४ ॥

हरिगीत - मत्तेभकुम्भसुषमामदहारितैव
नो केवला किमुत केसरिगर्वितस्य ।
निर्वासनत्वमपि वर्तत इत्यतीव
मध्ये कृशं सखि चकार विधिर्मृगाक्ष्याः ॥ ५५ ॥

शिखरिणी - न तन्मध्यं तस्याः किमुत रतिशास्त्रस्य निभृतं
रहस्यं तद्वेत्ता शशिवदनि भोक्ता च न परः ।
धनश्यामादित्थं प्रथयितुमुदारेण विधिना
कृता रेखा श्यामा सहचरि न रोमावलिरियम् ॥ ५६ ॥
न सा नाभिस्तस्याः किमुत सुषमासीधुसरित-
स्तनोरावर्तोऽयं कुवलयदलाक्ष्याः सहचरि ।
यतश्चेतोऽस्माकं चतुरतरमप्यत्र पतितं
निमज्जत्येवेदं धृतिगतिविवेकादिरहितम् ॥ ५७ ॥

गीति - विविधमणिजटितकनकप्रसूनलसदसितपट्टगुच्छाभ्याम् ।
लसतातिपितदाम्रा शुशुभे ग्रन्थिः प्रियानीव्याः ॥ ५८ ॥

हरिणी - अयि सखि नितम्वोऽस्या नाऽयं परं मदनप्रिया -
सदनजघनोपान्ते कान्ते कुरङ्गविलोचने ।
विधिविरचितः कोशस्तस्या रसौघधनस्य य -
द्गुरूगुरूतरः शश्वद्गुप्तो हरिप्रणयास्पदः ॥ ५९ ॥

पृथ्वी - विचित्रमणिमेखलागतमनोज्ञमुक्ताफल-
प्रवेककृतजालकोद्ग्रथितघुर्घुरूघण्टिकाः ।
कलस्वनविमोहितत्रिदशवृन्दवृन्दारिकाः

सरोजदललोचने सरिव विरेजुरूद्यत्प्रभाः ॥ ६० ॥

मंजुभाषिणी - सुषमानिधानहरिकण्ठभूषणं विधिना मनोरथशतेन निर्मितम् ।
असितैरये सुभगकाचकङ्कणैः शुशुभेऽति बाहुयुगलं मृगीदृशः॥६१॥

पृथ्वी - ततः कनककङ्कणावसितपट्टपुष्पाञ्चितौ
ततश्च नवमुक्तिकाविरचितौ मुदा बिभ्रती ।
मनोज्ञकरयोः प्रिये सुमुखि राधिकावल्लभ-
प्रियाति शुशुभे तयोर्विदधती समान्दोलनम् ॥ ६२ ॥

शिखरिणी - ततः पश्चाच्चामीकरसुघटितौ चारूवलयौ
ततः सा गौराङ्गी मरकतमयावङ्गदवरौ
स्ववाहोरस्मन्तानसनयनपाशाविव दध-
त्यये चेतः कासां प्रसभमहरन्नाम्बुजमुखि ॥ ६३ ॥

गीति - विविधमहामणिजटिताः कन[1]कमया मुद्रिकास्तदङ्गलिषु ।
दशसु नखोदितदीधितिभूषासु विरेजुरेणाक्षि ॥ ६४ ॥

मंदाक्रांता - नेमौ बाहू बत विसलते प्रेमपीयूषपूर्णे
नो वा तस्या मृदुकरतले किन्तु पङ्करूहे ते ।
नाप्यङ्गुल्यः सखि परमि[2]माः श्रेणयस्तद्दलानां
नेमे चश्चन्नखरमणयः किन्तु तेषां प्रभैव ॥ ६५ ॥

वसंततिलका - नो पाणिरेष कुसुमायुधबाणराज-
पङ्करूहं न नखरा मणिकान्तिभाजः ।
किन्तु प्रियालि रतियुद्धविधौ जयाय
कामार्पिताः सुमुखि शातशिलीमुखाग्राः ॥ ६६ ॥

स्वागता - मन्थरागतिरियं चरणानां वारणस्य कथमत्र करस्था ।
दृश्यतेतिसुभगेति न कासां संशयः सखि बभूव तदूरौ ॥६७॥

गीति - कदलीकाण्डविनिर्मितहिन्दोलास्तम्भयुगलमेवैतत् ।
कुसुमायुधस्य मन्ये तस्या नोरूद्वयं सख्यः ॥ ६८ ॥

अनुष्टुप् - तस्याः सानन्दगोविन्दमानसाया मृगीदृशः ।
मन्ये रतिगृहस्तम्भद्वयं जानुद्वयं न तत् ॥ ६९ ॥

---

[1] कनककृता इति पाठः ।
[2] परिमिता इति पाठः ।

द्रुतविलंबित - विविधनूपुरसिञ्चितमोहितत्रिदशनाथवधूवरमानसम् ।
स्फुरदलक्तकरञ्जितमङ्गुलीष्वयि शुभे शुशुभे चरणद्वयम् ॥७०॥

गीति - स्मितलक्ष्मीलवलज्जितरतिपतिकृतचरणसरसिजप्रणतौ ।
प्रतिबिम्बितास्तदीयाश्चन्दनबिन्द्वालयो न नखाः ॥ ७१ ॥

स्रग्धरा - तस्याः कृष्णेन्दुसङ्ग हरिभजनदृशा भा[1]विनं भावयित्वा
तद्योग्यत्वार्थमेतच्छिशिरतरमये कुर्वता पादयुग्मम् ।
सारेणाम्भोरूहा[2]णां सुचतुरविधिना चारू निर्माय सख्य-
स्तस्याग्रेष्वाहिता ये सितकिरणचयास्ते नखाख्यां भजन्ते ॥७२॥

गीति - चरणाङ्गुल्याभरणान्यति रूरूचुरमन्दकान्तिकान्तानि ।
विषमानङ्गभुजङ्गमफणमणय इवैणशावाक्ष्याः ॥ ७३ ॥
तादृशचित्राञ्चलजुषि शिरसि विचित्रासनं सरोजाक्षी ।
दधिकलशं तदुपायनमिव दधती साधिकं शुशुभे ॥ ७४ ॥

शिखरिणी - अलोलग्रीवं सा दधिकलशिकां मूर्ध्नि सुभगां
वहन्ती तारूण्यप्रभवमदतस्तुच्छवदिमान् ।
सुरेन्द्रब्रह्मादीनपि विगणयन्त्यालि सहज-
स्मितस्मेरव्रीडातरलितदृशा कान्न मुमुहे ॥ ७५ ॥

पृथ्वी - सखीशतवृताचलद्वलयकिङ्किणीनूपुरा-
द्यमन्दकलसिञ्जिताञ्जितमनोज्ञगत्या वने
वयस्यसहितो व्रजाधिपसुतो व्रजन्तीं पुरो
ददर्श सखि सुन्दरीमनतिदूरतस्तां मनाक् ॥ ७६ ॥

हरिणी - चकितनयनं दृष्ट्वा दृष्ट्वा तदाननपङ्कजं
न समशकदादातुं दृष्टिं मनागपि माधवः ।
निजसहचराशङ्कालज्जावधानमपि व्रज-
प्रियसखि तदा नाभूत्तस्य प्रियाहृतचेतसः ॥ ७७ ॥

वंशस्थ - चन्द्रावलीसहासोक्तिगलतपरिमलाऽनिलः
तत्सङ्गम इवाङ्गेषु सङ्गतः पुलकं व्यधात् ॥ ७८ ॥

गीति - कथमस्या ननु सङ्गो भवेत्कथं वाऽत्र सहचराज्ञातः ।

---

[1] भावि विज्ञाय भावेति पाठः । [2] रूहाणामतिसरसहृदेति पाठः ।

इति चिन्तयन्नुपायं ज्ञात्वा हरिराह गोपालान् ॥ ७९ ॥

शार्दलविक्रिडित - गोप्यो गोरसविक्रियार्थमखिला गच्छन्त्यदत्वोचितं
मद्दानं तदिहानयध्वमचिरान्मत्सन्निधौ गोपकाः ।
मा जातु स्पृशतोक्तिभिः परमिमा वाच्या इति स्वामिना
प्रोक्तास्तिष्ठत तिष्ठतेतिवचनास्तेऽत्रागमन् सत्वरम् ॥ ८० ॥

अनुष्टुप् - तत्र काचिदुवाचैतान् किमरे गोपदारकाः ।
आकारयति वो नन्दनन्दनो गोकुलाधिपः ॥ ८१ ॥

अनुष्टुप् - कथमेवं वयं किंवा दास्यस्तस्प कुलाङ्गनाः ।
यात प्रतिष्ठयास्माकं न तवेयं विभीषिका ॥ ८२ ॥

औपच्छन्दसिक - न वयं स्वत एव किञ्चिदुच्चैः कुलयोषित्सु ससाहसं वदामः ।
व्रजनाथवचः परं विधेयं क्षुधिताः किं ननु गच्छत स्वगेहम् ॥८३॥

गीति - मा यात नन्दशपथो व्रजनाथाज्ञां विना वने तस्य ।
वृन्दा स्त्री तद्विपिनं कुतस्तदीयं परं नः स्यात् ॥ ८४ ॥

अनुष्टुप् - वक्रिमैव भवद्वाचि दृश्यते न त्वलौकिकम् ।
वक्रिमा किल शब्दस्य धर्मस्तस्य दृशाग्रहः ॥ ८५ ॥
न्यायोपि पठितः किन्नु भवत्यातिविदग्धया ।
किमन्यायं पाठयितुमधुना त्वं समागत[1]ः ॥ ८६ ॥

वसंततिलका - तावद्विलम्बमसहिष्णुरमन्दमञ्च-
त्काञ्चीकलापकलसिञ्चितमञ्जुगत्या ।
गोवर्धनाद्रिशिरसश्चपलोत्तरीय-
श्चन्द्रावलीनिकटमागमदम्बुजाक्षः ॥ ८७ ॥

उपजाति - मनोवचोऽगोचरलोचनान्तसौन्दर्यलेशं सुविचित्रवेशम् ।
स्मितश्रियाऽनङ्गविमोहनं सा ददर्श गोपेन्द्रकुमारमारात् ॥८८॥

गीति - वदनसुधानिधिसुषमाजलधिनिमग्नां दृशं कुरङ्गाक्षी ।
नाशकदुद्धर्तुं यत्सहैव सहसा मनोऽप्यासीत् ॥ ८९ ॥
अपाङ्गविभ्रमोत्तुङ्गतरङ्गैस्तन्मनोदृशौ
अगाधे पतिते ह्यास्तामशक्ते बहिरागतौ ॥ ९० ॥

---

[1] अस्मान् समागत इति पाठः ।

मंदाक्रान्ता - धम्मिलं वा दधिकलशिकां मूर्न्धि संस्थापितां वा
तं मार्गं वा गमनमथवा कन्चुकीमञ्चलं वा ।
देहं वा स्वं गृहमुत सकीवृन्दमेषा मृगाक्षी
घोषाधीशात्मजमपि तदा नाविदन्मोहितेव ॥ ९१ ॥

उपजाति - ततोऽनुकूलैरिव तत्तरङ्गैरपाङ्गपातैर्विततैरिवात्र ।
जालैर्विशालैर्वचनैः स तस्याः स्वसंविदं सख्यकरोदुदारः॥९२॥
अस्यास्तदा प्रेष्टतमे यदासीच्चातुर्यधैर्यादिकमत्र युक्तिः ।
नैवास्ति गोविन्दपदप्रतापानुभावमात्रेण विनेति मन्ये ॥ ९३ ॥

वसंततिलका- स्मेराननेन तरलाञ्चललोचनेन
स्निग्धेक्षणेन दरहासरूचा स्वगत्या ।
किं वर्णितेन बहुना सखि पेशलैः स्वैः
सम्मुह्य तां रसिकतानिधिराह नाथः ॥ ९४ ॥

अनुष्टुप् - प्रबोधितेव गोविन्दवचनैः सापि सुन्दरी ।
अत्युद्भटं ददौ सख्यः प्रत्युत्तरमनुत्तरम् ॥ ९५ ॥
कथं गच्छस्यदत्वैव दानं गोरसविक्रये ।
सिञ्जत्काञ्चीकलापेन दर्शयन्ती स्ववैभवम् ॥ ९६ ॥

गीति - इयदवधि ते मदीया मतिरपि किं नावलोकिता सुभग ।
पश्येत्थमिति वदन्ती पदानि कतिचित्स्मयन्त्यचलत् ॥९७॥

पृथ्वी - न सम्यगवलोकिता गतिरियं त्वदीया मया
मनाङ् निकटमागता निजगतिं पुनर्दर्शय ।
अहो कुलवधूजनं निकटमाह्वयन्निर्भयो
भवान् जगति लक्ष्यते विपिनगोचरोत्युद्भटः ॥ ९८ ॥

अनुष्टुप् - अतः परं कुतो भीतिस्त्वत्सहायवतो मम ।
स्वसहायीकरोत्येष मामेवाहो विपर्ययः ॥ ९९ ॥

गीति - गच्छत सख्यो गोकुलमेतद्वृत्तं वदन्तु नन्दाग्रे ।
त्वद्धर्मराज्यमार्गे न श्रुतिविषयोऽङ्गनाधर्षः ॥ १०० ॥
तत् किं व्याजेनैव स्वगृहं गन्तुं करोषि चातुर्यम् ।
अहमासन्ध्यं गोप्यो गृहमपि गन्तुं न दास्यामि ॥ १०१ ॥

पृथ्वी - भवान् पुरूषभूषणः कथमु गोपिका त्वं वद-

त्यहो तदपि सावधि श्रवणमङ्गलं स्वात्मनि ।
बहुत्वमपि ते कथं व्रजकुमार लोकोत्तरा
विभाति त[1]व चातुरी विजितवादिजात्युत्तरा ॥ १०२ ॥

उपजाति - विश्वारसमुत्पादयितुं स्त्रियोऽस्मान् ज्ञात्वा वदत्येवमयं मृगाक्षि ।
विनैव मद्वाचमये विशिष्टः श्वासो भवत्या भवति श्रमेणा ॥१०३॥

गीति - किमधिकमधिकं ब्रूषे कुलाङ्गनास्त्वङ्ग नेदृशं वचनम् ।
सोढुं शक्ताः परमिह किं कुर्मो नन्दराजसुते ॥ १०४ ॥

अनुष्टुप् - गोकुलेश गृहं गन्तुं न ददासि कुतः स्त्रियः ।
वृन्दावने मृगदृशां दानं लगति मामकम् ॥ १०५ ॥

गीति - अश्रुतपूर्वमिदं ननु किं तद्दानं लगत्यहो कुत्र ।
चरणे शिरसि करे वा पश्चादुत तद्ददास्माकम् ॥ १०६ ॥

अनुष्टुप् - अञ्चलेनापि कञ्चुक्या यद्गोपितमुरस्तव ।
तस्मिन्निति वदन् वीरः करेणास्पृशदुद्भटम् ॥ १०७ ॥

पृथ्वी - कथं कुलवधूजनं स्पृशसि हन्त मर्मस्थले
न भीतिमवलम्बसे सकलसेतवोप्युज्झिताः ।
सरोजदललोचने सततमित्थमेवाङ्गनाः
स्पृशामि सखि ते कदा वसनसेतुरूल्लङ्घितः ॥ १०८ ॥

गीति - वचनोक्तौ द्विगुणितमुत करोषि कामं करीव हृतसेतुः ।
त्वद्वचनसहकृतं मत्करणं द्विगुणं भवत्येव ॥ १०९ ॥
वाक्चातुरीधुरीणं जानीमस्त्वां तु नन्दनृपसूनुम् ।
अतिदुर्ललितं परमिह दानं दधिषु श्रुतं नैव ॥ ११० ॥

वसंततिलका- किं नालिकेरफलभारमुताम्बुजाक्ष
पुगीफलान्युत कुरङ्गमदं नयामः ।
पट्टाम्बराण्युत यतो लगतीह दान-
मित्युद्भटं वदसि गोकुलपालक त्वम् ॥ १११ ॥

गीति - गोपीषु गोरसस्यैव गृह्णीमो दानमङ्गनाः ।
भवन्तः के कुलस्त्रीषु वक्तुं वचनमर्भकाः ॥ ११२ ॥

ललित - विपिनचारिणो वारिसंस्थितान् वदसि वा कथं वल्लवाङ्गने ।

---

[1] न चेति पाठः ।

इयदवध्यदस्त्वत्स्वरूपमित्यहह नो मया ज्ञातमुत्तमम् ॥ ११३ ॥
उपजाति – व्याजः परं सुन्दरि गोरसस्य कृतोऽस्त्यमूल्यं किमपीह वस्तु ।
उर[1]: स्थलस्थायि नयस्यलक्ष्यं मदन्यपुंसो न तु तन्ममैवा ॥११४॥
गीति – सततं वृन्दाकाननमागच्छामः परं पयोदानम् ।
नो जातु श्रुतमपि तत् कुतो वयं तेऽद्य दास्यामः ॥ ११५ ॥
उपजाति – अये यदद्यावधि चौररीत्या न दत्तमद्याहमशेषतस्तत् ।
दानं ग्रहीष्यामि सरोरूहाक्षि क्षणं पुरा विश्रम तत्त्वयैव ॥११६॥
शिखरिणी – गता गावो दूरं प्रखरखुरचिह्नान्यपि वने ।
न दृश्यन्ते हन्त द्रुततरमिहागच्छत ततः ।
इति श्रीगोविन्दः प्रियवचनमाकर्ण्य सभयम् ।
तदा गोपानाज्ञापयदुशति गोरक्षणविधौ ॥ ११७ ॥
अनुष्टुप् – गतेष्वखिलगोपेषु स्वेष्टमासीदिति प्रियम् ।
अतिप्रमुदिताः प्रोचुः प्रेमातिशयनिर्भयाः ॥ ११८ ॥
तोटक – विपरीतमहो वयमेव किल व्रजगोपनितम्बिनि चौरजनाः ।
विपिने विजने प्रमदा रून्धन् वरसाधुजनः स्वयमेष परम्॥११९॥
गीति – विपरीतं भवतीनां धर्मो नहि मे सरोजमुग्धाक्ष्यः ।
तर्हि त्वत्तो दानग्रहणं युक्तं बतास्माकम् ॥ १२० ॥
उपजाति – वह्न्यो भवत्योहमिहैक एव करोमि किं तेन निजानुरूपम् ।
दानं बलात्कारिषु देयमेवेत्युच्चैर्वदन्निन्दुमुखीं चुचुम्ब ॥ १२१ ॥
अनुष्टुप् – कथमेवं कुलस्त्रीषु करोषि विजने वने ।
इत्थमित्थमिति स्मेरस्मितः प्रादान्नखं मुखे ॥ १२२ ॥
वसंततिलका – अङ्ग त्वदाननविलक्षणसौरभेण ताम्बूलरेखितकपोलयुगेन चाद्य ।
सौन्दर्यसीमनखराङ्कितवक्षसा च युक्ता निजं गृहमुदार कथं गमिष्ये ॥ १२३ ॥
शिखरिणी – कथं हारः क्षुण्णः कथमु वलयानां विरलता
विलम्बः केनासीद्दधिकलशिका कुत्र किमभूत् ।
प्रियेत्थं पृष्टाहं निजगुरूजनाग्रे सरभसं
किमाख्यास्ये स्त्रीणां परिजनवशो जीवनविधिः ॥ १२४ ॥
गीति – सत्यं स्त्रीणां जीवनमन्यायत्तं परं न गोपीनाम् ।

---

[1] उरः स्थलीकृत्य नयस्यलक्ष्यमिति, उरःस्थले स्थाप्य नयस्यलक्ष्यमिति पाठद्वयम् ।

मदधीनमेव किन्तु प्रियसखि तत्ते कुतो भीतिः ॥ १२५ ॥
गोकुलमखिलं तावकमनन्यशरणं विशेषतो गोप्यः ।
किन्तु त्वामिह किञ्चित् कश्चिद्वयादियं भीतिः ॥ १२६ ॥
अनुष्टुप् – वशीकर्तुं प्रविष्टेयं वाणी गोविन्दमानसम् ।
नाशक्नोद्बहिरायातुं प्रेमपूरान्तरायतः ॥ १२७ ॥
गीति – व्याजं किन्नु ब्रूषे भावं प्रकटीकरोषि किं नैव ।
नान्यः शृणोति कश्चित् किं भयमवलम्बसे नाथ ॥ १२८ ॥
पृथ्वी – कृशाङ्गि दधिभाजनं शिरसि ते मनाग् द्रष्टुम-
प्यहं बत न पारये विपुलभारमाभाति मे ।
तदत्र विनिधेहि तत् क्षणमपाकुरू श्रान्तिम-
प्ययं मलयमारूतो वहति सोपि यात्वर्थिताम् ॥ १२९ ॥
हरिणी – कुसुमसुकुमाराङ्ग श्रीमत्युदारतरे मनाक्
त्वदुरसि वरं वासोप्येतद्द्वयं न सहामहे ।
क्षणमिह तदस्माकं हस्ते कुरू व्रजल्लवी-
नयनझषयोर्नीरं नाथ त्वमस्यतिसुन्दरः ॥ १३० ॥
भुजंगप्रयाता – त्वमुत्तारयैतत्पयोभाजनं स्वं सरोजाक्षि देह्याशु दानं मदीयम् ।
व्रजेश त्वदीयोत्तरीयं नु कस्यै ददाम्येतदेवं कथं त्वन्नियोगात् ॥१३१॥
उपजाति – धृत्वा शिरःस्थं कलशं करेण स्थिते प्रिये कस्य पुरो वदामि ।
भग्नं भवत्येतदिति ब्रुवाणो न्यपातयद्भाजनमेकमुर्व्याम् ॥ १३२ ॥
स्रग्धरा – तदा चन्द्रावल्या निजभुजयुगेन प्रियतमं
निगृ[1]ह्यैवं प्रोक्तं व्रजमचिरतो गच्छ कथय ।
न गन्तुं शक्तोऽयं त्वदभिमुखमित्युद्धततरं
निशम्यैकाऽगच्छतव्रजमधिकृता नाथररसे ॥ १३३ ॥
उपजाति – मया धृतेयं कमलाक्षि किं वानया धृतोऽहं वद तत्त्वमेव ।
समुच्चये नागर को विरोधो विना भवत्पीतदुकूलनीव्योः ॥१३४॥
अनुष्टुप् – त्वमेव भव मध्यस्था वादिनोरावयोः सखि ।
युवयोर्बिसिनीसूत्रान्तरं नास्ति क्व मे स्थितिः ॥ १३५ ॥
गीति – खिन्ना भवति सखीयं त्वदङ्गसङ्गाभिलाषया सुभग ।

---

[1] निगृह्यैवेति पाठः ।

तत्कुरू मोऽनुरञ्जनमस्या धैर्येऽप्यशक्तायाः ॥ १३६ ॥
त्वत्सङ्गगमनस्य प्रियसखि फलमेतदाविरासीन्नः ।
अन्यामपि निजसदृशीं कर्तुं वाञ्छस्यये किं नु ॥ १३७ ॥
अनुष्टुप् - तदा मुदा निजस्पर्शकरणे प्रसरत्करम् ।
नवप्रणयपूरार्द्रहृदया जगदुः प्रियाः ॥ १३८ ॥
शार्दूलविक्रीडित - मा मा मानद मा स्पृशेति वचसा ता वारयन्त्यः प्रियं
साकूतं करपल्लवेऽपि चिबुके वक्षःस्थलेप्यस्पृशन् ।
तत्कालीनविलक्षणेक्षणवशाद्राधाप्रिये प्रेयसः
स्पर्शेणापि तथाविधेन वचनेनासंस्तदा तद्वशाः ॥ १३९ ॥
वसंततिलका - धृत्वाञ्चलं विविधपट्टमयप्रसून -
श्रीस्मारितस्मरनिकेतनतोरणं सः ।
वामेन चारूनखरेण करेण गाढं
तां प्राह गच्छ कथमालि गमिष्यसि त्वम् ॥ १४० ॥
हरिगीत - स्मरस्मेरास्येन्दुं तरलतरतारे च नयने
स्मितं तत् साकूतेक्षणमतिमनोज्ञं मृगदृशाम् ।
नवप्रेमार्द्रैर्दरमुकुलितैरालि रहितै-
र्निमेषेणेक्षन्त्यो नयननलिनैस्तस्थुरबलाः ॥ १४१ ॥
गीति - सखि वद तादृग्वदनं दृष्ट्वा श्रुत्वा च तदुदितं वचनम् ।
लोकत्रयेपि का स्त्री सम्मुग्धा नो भवेत् सुभगा ॥ १४२ ॥
शार्दूलविक्रीडित - भ्रूचापाहितलेचनाञ्चलशरव्रातैः पुरा विद्रुता-
स्तेभ्यः स्वोर्वरणं क[1]थञ्चिदपि नो दृष्ट्वा परावृत्य च ।
युध्यन्त्यः पृतना इव स्मरमहावीरस्य गोप्यस्तदा
प[2]श्यन्त्यः सखि वक्रकण्ठमखिलाश्चक्रुर्वशे स्वे हरिम् ॥ १४३ ॥
गीति - तत्किमपि गोपिकासु प्रियेक्षणं प्रकटमालि तत्समये ।
सम्मोहमानशवलं भावं कमपि प्रियास्वकरोत् ॥ १४४ ॥
श्यामामृतजलधिं यद् गोपीनयनाञ्चलापगा मिलिताः ।
तत्सारूप्यादैक्यं प्राप्ता इव तास्तदाऽभूवन् ॥ १४५ ॥
वसंततिलका - मुग्धाननोपरि हरे परिवारिताहं

---

[1] तथापि न समीक्ष्यन्त्य इत्यपि पाठः कथञ्चिदपि नो दृष्ट्वेत्यत्र । [2] वीक्ष्यन्त्य इति पाठः ।

मुञ्चाञ्चलं समभवत् पथि नो विलम्बः ।
यत्त्वन्मनोभिमतमङ्ग तदेव दास्या-
म्युल्लङ्घ्य गेहपतिमप्यतियत्नतोऽहम् ॥ १४६ ॥
उपजाति - एवं वदन्ती करपल्लवेन धृत्वा मृगाक्षी चिबुकं प्रियस्य ।
सङ्कोचितं स्वं करपल्लवं सा चुचुम्ब साकूतमथाब्रवीत् सः १४७
मालिनी - मदभिलषितमेतत् कञ्चुकीकुञ्चितं यन्
महदतिसरसं च श्रीफलश्रीविनिन्दत् ।
वितर किमपि तन्मे वस्तु सत्यं निजोक्तं
कुरू सखि तत एतत्स्वाञ्चलं चातिदूरे ॥ १४८ ॥
उपजाति - एवं ब्रुवन्नञ्चलमाचकर्ष प्रियस्तदा पाटितमीक्ष[1]माणा ।
मृषा रूषा वाचमुवाच गोपी भीतेव सख्यो निजबन्धुवर्गात् १४९
नीवीयमद्यैव मया नवीना सुलग्नमित्यङ्ग निजाङ्गलग्ना ।
कृता मुदासीदधुनैव सैवं कृता कथं गेहमहं व्रजामि ॥ १५० ॥
पृथ्वी - कथं चलितमञ्चलं तव वदेति पृष्टा गृहे
किमुत्तरमहं वदाम्यपि च नास्ति कश्चिन्मिषः ।
सुगुप्तमिदेव नो भवति हन्त किं ते कृतं
व्रजेशसुतकार्यमित्यपि वदात्र कोऽन्यो मिषः ॥ १५१ ॥
गीति - स्वप्राणसङ्कटेपि त्वामभिघातुं न पारयामेऽङ्ग ।
नो जातु जातिकृपणो निजसर्वस्वं प्रकाशयति १५२
वसंततिलका - एतावता यदि विभेषि तदा मदीयं
वासो गृहाण मयि कुर्विदमञ्चलं स्वम् ।
एषातियुक्तिरतिमुग्धनितम्बिनीना -
मस्माकमङ्ग न भवत्युत नागरीणाम् ॥ १५३ ॥
नाहं वदामि वनमाल्यथ मौल्यमेव
दन्धो वदाङ्ग वरिवर्ति न मौल्यमस्य ।
यद्याग्रहस्तव तदोचितमस्य मौल्यं
म[2]ह्यं त्वमेव वितर स्मरमोहनाङ्ग ॥ १५४ ॥
उपजाति - हारादिदाने सुभगाङ्गि मातुर्बिभेम्यहं तेन निजानुरूपम् ।

---

[1] पाटितमीक्ष्य किञ्चिदिति पाठः । [2] हन्तेति पाठः ।

मौल्यं ददामीति वदंश्चुचुम्ब पूर्णं तवेदं समभून्न वेति ॥ १५५ ॥
गीति - व्रजनृपकुमार सरसिजसुकुमार कृतं नु साधु ते सर्वम् ।
त्यज वसनं ननु कश्चिद् द्रक्ष्यति पान्थो ह्ययं मार्गः ॥ १५६ ॥
शिखरिणी - लतागेहश्रेणीं विकचविविधाभासरूचिर-
प्रसूनप्रोद्भूतामलपरिमलोन्मत्तमधुपाम् ।
सरोजाक्ष्यन्येषां श्रवणमनसामप्यविषयं
मुदा पश्यावश्यं त्यज निजजनानां भयमपि ॥ १५७ ॥
गीति - निजशरपञ्जरगुप्तं स्वभावसर्वस्वमेव रतिभर्तुः ।
कुसुममयं न लतागृहमिदमिति मन्येऽहमेणाक्षि ॥ १५८ ॥
पृथ्वी - निकुञ्जनगरे मनोभवनृपोऽत्र धैर्यादिम-
त्समीरवरमन्त्रिणा सह पिकादिबन्दिस्तुतः ।
स्फुरत्सरसिजोन्मदभ्रमरयूथगीतो जय-
त्यपाङ्गशर एष सञ्चरति ते न यावत्परम् ॥ १५९ ॥
शिखरिणी - रतिप्राणेशोऽयं शशिवदनि तेऽपाङ्गसुषमा-
लवक्रीतो दासः सकमलतडागातिरूचिरम् ।
स्वसर्वस्वेनेदं सदनमनुरूपं तव मुदा
चकाराङ्गीकारैः सफलय तदद्य प्रियसखि ॥ १६० ॥
उपजाति - निकुञ्जदुर्गे निजबाणसंवृते कन्दर्पवीरः कलकण्ठकूजितैः ।
मामाह्वयत्येष रणार्थमत्र तत्कुरू त्वमेवालि सहायमद्य मे ॥ १६१ ॥
पृथ्वी - त्वदाननरूचा स्मरः सपदि लज्जितो निर्जने
वने भवनमेतदुत्तमतमं विधयास्थितः ।
विचित्रकलकूजितानुनयवाग्भिरेनं मुदा
मया सह मदालसेक्षणविलक्षणे मानय ॥ १६२ ॥
त्वदीयनयनाञ्चलाशुगपराजितो विद्रुतः
स्मरः स्वशरसंवृते वसति कुञ्जदुर्गे भयात् ।
नितम्बिनि सुमध्यमे निजविहारबन्धैः क्षणा-
न्नियन्त्रितुमिहैव तं त्वमपि मत्सहायं कुरू ॥ १६३ ॥
अनुष्टुप् - अहमद्य सखि स्वार्थसिद्धिद्वारमिवान्तरम् ।

कुचयोः प्राप्य ते प्राप्स्याम्यखिलाः कामसम्पदः ॥ १६४ ॥
इंद्रवंशा - चन्द्रावलि त्वन्मुखपूर्णचन्द्रमःसौन्दर्यसिन्धौ कति सन्ति सिन्धवः ।
यत्पूर्वपूर्वातिविलक्षणाः क्षणे क्षणे तरङ्गाः प्रकटीभवन्ति ते ॥ १६५ ॥
वसंततिलका - त्वल्लोचनाम्बुजमिदं निजगर्भखेल-
त्तारोन्मदभ्रमरतस्तरलं कृशाङ्गि ।
सौन्दर्यसीधु परितः किरति प्रिये यत्
तत्पारणा भवति लोचनभृङ्गयोर्मे ॥ १६६ ॥
वंशस्थ - मदीयनेत्राब्जविकाशकत्वान्नेन्दुर्न भानुः शशिकोटिशैत्यात् ।
चन्द्रावलि त्वन्मुखव[1]र्णनं तन्मन्ये कवीनां विषयो न वाचाम् ॥१६७॥
मालिनी - यदतिशयितरागो मध्यनङ्गस्य तस्मा-
न्निजरसशरचापावध्यशेषं स्व[2]कीयम् ॥
प्रकटमिह मदर्थे यच्चकारातिगुप्तं
तदिदमतिमनोज्ञं त्वन्मुखाब्जं विभाति ॥ १६८ ॥
गीति - मन्मानसं वशीकुर्वद्विभाति तिलकं तव ।
भ्रूचापाहितकन्दर्पकाण्डखण्ड[3] इवाद्भुतः ॥ १६९ ॥
शार्दूलविक्रीडित - चन्द्रत्वे तु चकोरता मधुपता पङ्केरूहत्वे दृशो-
र्मीनत्वं वदनस्य ते निरू[4]पधिस्नेहाम्बुतायां सखि ।
सौन्दर्यामृतता यदाऽनिमिषता दिव्या तदेत्येतयो-
स्तत्त्वं तामरसेक्षणे भवति नो निर्धारितं साम्प्रतम् ॥ १७० ॥
गीति - शीकरसहितः शुण्डादण्ड इवानङ्गवारणस्येयम् ।
वेणी विभाति मुक्ताश्रेणी गुच्छातिशुभ्राग्रा ॥ १७१ ॥
वसंततिलका - लोकोत्तरा हृदयकोमलता तवाभा-
त्यम्भोरूहाक्षि नवपुष्पमयोपि बाणः ।
अन्तर्गतस्तुदति यच्छमनाय तस्य
मां तत्र कुर्वगदराजमिवामृताभम् ॥ १७२ ॥
गीति - करचरणनखरचन्द्रश्रेणी लब्धा मया धृता समये ।
चन्द्रावलि स्वकीयं नामान्वर्थं कुरूष्वाद्य ॥ १७३ ॥

---

१. मद्भुतश्रीति पाठः । २. स्वयं वै इति च पाठः । ३. चन्द्र इति पाठः । ४. निरवधीति पाठः ।

भाषितहसितविलोकितविलसितवदनाङ्गसङ्गचन्द्रैस्त्वम् ।
शिशिरय चन्द्रावलि मां नामान्वर्थं कुरू स्वीयम् ॥ १७४ ॥
प्रथमः सङ्गम इति ते मदुपायनमेव हृद्यफलयुगलम् ॥
आनीतमतिमनोहरनूपुररवमङ्गलोद्धोषैः ॥ १७५ ॥
अनुष्टुप् - बिलम्बितं त्यजाम्भोजनयने मन्मनोरथम् ।
पूरयाद्य सखीवृन्दसहिता मुदमाव्रज ॥ १७६ ॥
गीति - वदनसुधानिधिगलितामृतमिव वचनं प्रियस्य ताः श्रुत्वा ।
सर्वत एव वशीकृतहृदया वदनं मिथोपश्यन् ॥ १७७ ॥
पृथ्वी - ततः सहजनिर्भरप्रणयपूरससम्प्लावित-
त्रपाधृतिभयाः कृशाङ्गि परिवव्रुरत्युत्सुकाः ।
स्वपाणिकमलैश्च तं चिबुकबाहुगण्डद्वये
स्पृशन्त्य इव वारिधौ निपतिता बभूवुः प्रियाः ॥ १७८ ॥
शिरवरिणी - प्रियापाणिस्पर्शोदितपुलकपालिः समुदित-
स्वभावोद्गारिण्या रसवलितयार्द्रालसदृशा ।
प्रियः पश्यन् वक्त्रं व्रजवरवधूनां विकसित-
स्मितस्मेरं राधा सहचरि चिरं तत्त्वमभजत् ॥ १७९ ॥
वसंततिलका - गोपीकपोलमुकुरप्रतिबिम्बितस्व-
रूपावलोकनततिस्मृतरासलीलः ।
आनन्दसिन्धुलहरीभिरिव प्रियाभि-
र्युक्तः प्रियः समचलत् स्वनिकुञ्जदेशम् ॥ १८० ॥
उपजाति - प्रियांसदेशे निहितप्रकोष्ठो विचित्रलीलाः करपल्लवाभ्याम् ।
कुर्वंश्चकार प्रमदोत्तमासु प्रगल्भभावं कमपि स्मरस्य ॥ १८१ ॥
शिरवरिणी - तदानी या शोभा समजनि हरेस्तां निगदितुं
न शक्ताहं किन्तु शृणु वचनमेकं मम सखि ।
यदुत्थाप्योत्थाप्य स्वपदकमले स्थापयति तत्
त्रिलोकीस्त्रीमानं शशिवदनि संन्नामयति सः ॥ १८२ ॥
अनुष्टुप् - लतागेहाङ्गणेऽनेकतरूपल्लवपालिते ।
स विवेश प्रियस्ताभिः स्वोत्तरीयकृतासने ॥ १८३ ॥
शिखरिणी - स्मितस्मेरास्येन्दुस्तरलितदृगम्भोजयुगलः

परीहासं कुर्वन्नतिरसविकासं व्रजपतिः ।
प्रियः प्रोवाच स्वोचितमखिलदानं वित[1]र मे
गृहाणेत्युच्चैस्तं शशिमुखि चुचुम्ब व्रजवधूः ॥ १८४ ॥
उपजाति - उदारहासोदितदन्तपङ्क्तिप्रकाशसन्दीपितकामभावाः ।
तदा यशोदासुतमानसे नो धैर्यं स्थिरं ताः स्वदृशापि चक्रुः ॥ १८५ ॥
शिरवरिणी - करे धृत्वा गोपीं कुसुममयकुञ्जान्तरगतः
प्रियायुक्तः पुष्पैर्नवकिशलयैराशु शयनम् ।
विचित्रं निर्माय स्वयमुदितभावः स्वसमया
मुदा चन्द्रावल्यारमत परमोदारचरितः ॥ १८६ ॥
हरिगीत - विपुलपुलकः सीत्काराविर्भवद्रसधारया
मदनसदनाक्रान्तिश्वासोदयातिमनोहरः ।
रभसहसितोदञ्चद्भावप्रभावविलज्जया
रसभरवलदृष्टिर्लज्जाविलोलदृशाऽरमत ॥ १८७ ॥
पुष्पिताग्रा - पिककलरवकूजिता कृशाङ्गी कृतघनचुम्बनदन्तदंशमेषा ।
रूचिरविविधबन्धविभ्रमोद्यच्छ्रमजलपालिररीरमद्व्रजेशम् ॥ १८८ ॥
वंशस्थ - प्रियाङ्गसङ्गेन मयेदृशो रसः प्राप्तः प्रियः कीदृशमाप्तवानिति ।
ज्ञातुं प्रवृत्तेव नितम्बिनी तदा तद्भावतः प्राप चिरं तदेकताम् १८९
अनुष्टुप् - कथं नु कृत्रिमो भावः स्थिरो भवति भामिनि ।
यदन्ते सा निजं भावमभजल्लज्जितस्मितम् ॥ १९० ॥
गीति - ईषन्मुकुलितनयनं विगतारूणिमाधरं सरोमाञ्चम् ।
श्रमशीकराञ्चितं तद्वदनं धन्यः पिबत्येषः ॥ १९१ ॥
रतिरसजलनिधिविभ्रमतरूणतरङ्गेषु पातितः प्रियया ।
पारं न प्रापायं यदसितचन्द्रः स्वयं पूर्णः ॥ १९२ ॥
शिखरिणी - न सोढुं शक्तोऽभूत् स्वनयननिमेषान्तरमपि
प्रियावक्त्रं पश्यन् मलयजमपीमां सखि मिलन् ।
प्रियापि प्राणेशं हृदयगतमालिङ्ग्य सुचिरं
समाधिस्थावस्थां समधिगततत्त्वाभजदियम् ॥ १९३ ॥
अनुष्टुप् - वेणीग्रथनमारभ्य चरणालक्तकावधि ।

---

[1] ददतेति पाठः ।

प्रिययोक्तः सखि प्रेयानलङ्करणमातनोत् ॥ १९४ ॥
इंद्रवंशा - ततः प्रियेण स्वकनीनिकानखे मुखेन्दुमादर्श इव प्रदर्शितम् ।
चन्द्रावली वीक्ष्य मुदा तदाननं दरत्रपास्मेरदृशा समैक्षत ॥ १९५ ॥
उपजाति - तदातिहर्षोत्पुलकानुकूलं कपोलमानन्दसुधानिधानम् ।
चुचुम्ब गाढं सकचग्रहं तत् सीत्कारधारामुदिताशयः सः ॥ १९६ ॥
गीति - विविधप्रसूनसङ्कुलकुञ्चितकेशाञ्चितं तनूष्णीषम् ।
अधिदक्षिणभ्रु किञ्चिन्नतमति मुदिताकरोत् प्रेष्ठे ॥ १९७ ॥
मृगमदतिलकं पुलकोन्नतिमति भाले विधाय तन्मध्ये ।
निजमुक्ताफलबिन्दुं सुन्दरमकरोत् कृशांग्येषा ॥ १९८ ॥
वसंततिलका - कर्पूरकुङ्कमकुरङ्गमदादियुक्तै-
रारभ्य सुन्दरकपोलतलं तदीयम् ।
पादाम्बुजावधि कलानिधिचारुवक्त्रं
पश्यन्त्यलिम्पदुरुधा सखि चन्दनैः सा ॥ १९९ ॥
अनुष्टुप् - कुच्यकुङ्कमपङ्केन पङ्किलं स्वोत्तरीयकम् ।
बबन्ध सा नितम्बेऽस्य तन्वङ्गी चित्ररञ्जनम् ॥ २०० ॥
ततश्चित्रं चरणयोः कुरङ्गमदकुङ्कमैः ।
चकार चन्द्रवदनी नूपुरद्वयमुग्धयोः ॥ २०१ ॥
उपजाति - हृदि स्वनिष्काभरणं प्रियस्य निधाय हारानपि कुङ्कमाद्यैः ।
विचित्रतां पुष्पमयस्त्रजं तत्कण्ठेऽकरोत्कुण्डलमण्डितास्या ॥२०२॥
कर्णिकारकुसुमं सुभगाङ्गी कर्णयोः सखि निधाय मुरारेः ।
गण्डमण्डलयुगे तनुरेखं चित्रमद्भुतमतीव चकार ॥ २०३ ॥
अनुष्टुप् - प्रियानासापुटे चारू स्वनासापुटभूषणम् ।
कृत्वा स्वयं परिदधौ तदीयं प्रमदोत्तमा ॥ २०४ ॥
थिखरिखणी - ततस्ताद्रूपं शशिवदनि दृष्ट्वातिमुदिता
ह्यधीरेवालिङ्ग्य प्रियसखि चुचुम्ब प्रियमुखम् ।
न जाने कीदृग्वा सुखमभवदस्या हृदि तदा
दृशोर्नाथस्यापि प्रणयभरपूर्णस्य सुदृशः ॥ २०५ ॥
अनुष्टुप् - स्वविलासलवक्रीतकन्दर्पा व्रतजसुन्दरीः ।

---

१. सम्मतमिति पाठ क्वचित ।

एवमेवाखिलाः श्रीमान् कृष्णो रेमे रसप्रदः ॥ २०६ ॥
शार्दूलविक्रीडित - अस्माकं तु जगत्त्रयेपि सुभगे नापेक्षितं किञ्चिद-
प्येतावत्परमम्बुजाक्षि सततं सम्प्रार्थनीयं मुहुः ।
इत्थं शश्वदनिन्द्यपङ्कजदृशा नन्दात्मजः सुन्दरः
सर्वस्वार्पणधीरया स रमतामस्मत्कृते सद्मनि ॥ २०७ ॥
राधाचन्द्रावलीगोपीदासीकथितमद्भुतम् ।
सम्पूर्णमभवत् कुञ्जे शृङ्गाररसमण्डनम् ॥ २०८ ॥
इति श्रीमद्व्रजेशस्य तत्प्रियाणां च वाञ्छितम् ।
मिथः सर्वस्वदानं श्रीविठ्ठलः स्वाशयेऽकरोत् ॥ २०९ ॥

इति श्रीगोपीजनवल्लभैकतानश्रीविठ्ठलदीक्षितविरचिता
दानलीला सम्पूर्णा ॥

* * *

रससर्वस्वम् ।

श्रीमत्प्रभुचरणप्रकटितम् ।

* * *

शिखरिणि - कुमारीणां राधावरमिलनमाकर्णय रमासमाशास्यं
स्मेरस्मितलवजिताशेषसुदृशाम् ।
अलं तद्भाग्योक्त्या यदतिमधुरो माधववरो
वशे जातो लोकत्रययुवतिमृग्यः सहचरि ॥ १ ॥
झूलणा - पुरैव जनकात्मजारमणहार्दसम्पादित-
स्वभाग्यनिधयो व्रजे प्रकटिता बभूवुः प्रियाः ।
हरिस्थितिविहारभूरिति विनिश्चयेनोत्तमा-
मधिव्रजमकुर्वत स्थितिममन्दमोदायनाः ॥ २ ॥
गीति - तत इह समये गोकुलजनजीवनचरणरेणुराविरभूत् ।
स्वयमेव सकलनिजगुणकृतोपमानं वहन्नाथः ॥ ३ ॥
नन्दात्मजरूपामृतविभ्रमसम्मोहिताः सर्वाः ।
अतिदुर्लभतत्सङ्गमकृते व्रते ता मतिं मुदाऽकुर्वन् ॥ ४ ॥
चम्पककुवलयजातीकुरंबककुन्दादिपुष्पसम्पत्त्या ।
विजितवसन्तेऽकुर्वन् हेमन्ततौं व्रतारम्भम् ॥ ५ ॥
शीतारम्भात् प्रियतमगाढाश्लेषानुकूले यत् ।
विधुरपि चिरं जहाति न निजरमणीं रात्रिमाश्लिष्टः ॥ ६ ॥
अचिरेणासिताम्भोजविकासेनाऽसितेक्षणे ।
सूचयत्यचिरात् कृष्णचन्द्रेणासां दृगुत्सवम् ॥ ७ ॥
रजनीकरकररञ्जितविकसितसमरन्दकुवलयैरासाम् ।
सूचयति केलिचुम्बनरागं सुदृशां विलोचनयोः ॥ ८ ॥

मुकुलायमानकुवलयकुलैः प्रभातेषु रविकरात्यरूणैः ।
ज्ञापयति रात्रिजागरसरागतन्नेत्रयोर्निद्राम् ॥ ९ ॥
कोकार्तस्वरशिशिरानिलकुमुदाह्लादतद्ध्वनीन्द्वनलैः ।
चिरमिह तापसपदवीं विरहिजनं प्रापयत्युच्चैः ॥ १० ॥
विकसितकुन्दैर्विहसति सुन्दरचन्द्रावलोकनादेव ।
प्रकटं पुष्पवतीर्नवकुमुदवधूः कामहृतलज्जाः ॥ ११ ॥
कोष्णकृष्णाजलेनोषस्यग्रे शीतेन च प्रभोः ।
एतत्सङ्गाभिलाषाङ्गसङ्गौ सूचयति द्रुतम् ॥ १२ ॥
वेपथुसीत्कृतिपुलकं शिक्षयतीवालि सहजमप्येताः ।
मत्वा कुमारिका रतिकेलिषु योग्या व्रजेशस्य ॥ १३ ॥
कुसुमैरतिरतिखेदस्वेदैर्विरहिण्यमन्दनयनजलैः ।
दिवसे हरिविरहौष्ण्याद्रतिसीत्कारैश्च षड्रूपे ॥ १४ ॥
आर्या-कुलकम् - कालिन्द्यामाप्लुत्य प्रयतमनोवाक्कलेवराः सर्वाः।
परिधाय चापरां शुचिनीवीं देवीं समानर्चुः ॥ १५ ॥
अनुष्टुप् - शृङ्गाररसरूपात्मब्रह्मैक्यप्रतिपादिकाम् ।
पठत्स्वलिमुनिष्वालि श्रुतिं कुमुदकानने ॥ १६ ॥
गीति - अचिरेण जिगमिषत्यपि चन्द्रेऽस्तं हर्षवत्सुकुमुदेषु ।
षोडशसहस्रगोपीवदनेन्दुष्वागतेषु सखि ॥ १७ ॥
सूर्यानुदयेप्येतद्दन्ताधरदिव्यरूचिरतेजोभिः ।
अर्धविकासे सरसिजवृन्दे शुभसूचके न चिरात् ॥ १८ ॥
अचिरादेवोदेष्यत्यस्मत्कुलबन्धुरित्यमन्दमुदा ।
कोकेषु विगतशोकेष्वन्योन्यं निकटमनुसृतेषु ॥ १९ ॥
स्त्रियोभिसारिकाभासा यास्तासां त्वरितागतेः ।
सिञ्जन्नूपुरघोषेण पापे निर्यापितेऽखिले ॥ २० ॥
कुलकम् - यदभिमुखं पूजां ताश्चकुः साशापि यत्र रागवती ।
[१]तत्रैतद्वरणीयः कृष्णो रागीति किं चित्रम् ॥ २१ ॥

---

१. ‘अभवत् तत्र तदिष्टः’ इति पाठः ।

पृथ्वी - विचित्रसिकतामयीं प्रतिकृतिं विधायाद्भुतां
यथाविधि समागतां स्वनिगमैः समावाह्य ताः ।
पवित्रतमपाद्यमाचमनमर्घ्यपूर्वं ददु-
स्ततोम्बरविभूषिता सखि चकास कात्यायनी ॥ २२ ॥
अनुष्टुप् - ततः कुङ्कुमपाटीरपङ्केनालिप्य तां प्रियाः ।
अकुर्वन्नवसौवर्णसर्वाभरणभूषिताम् ॥ २३ ॥
गीति - सुरभिप्रसूननिर्मितमालाः परिधाप्य विविधकुसुमैस्ताः ।
शुद्धा विशुद्धभावास्तामानर्चुः प्रवालैश्च ॥ २४ ॥
पीतारूणाक्षताद्भिश्च विविधैर्धूपदीपकैः ।
स्वनाथप्रापिकां देवीं ताः सन्तुष्टामभावयन् ॥ २५ ॥
विविधापूपैः सघृतैराम्रैः खर्जूरनारिकेरैश्च ।
कदलीफलेक्षुदाडिमवीजैर्द्राक्षाङ्कुरीभिश्च ॥ २६ ॥
अमृतफलादिभिरूच्चावचैः प्रकल्प्योपहारमाचान्ते ।
ताम्बूलमर्पयित्वा भक्त्या सर्वाः प्रणेमुस्ताम् ॥ २७ ॥
झूलणा - मुदा कात्यायन्यानिगममतिहार्दोदितमये
महाभागे यः प्रागनुदिततरः पङ्कजभुवि ।
महायोगिन्यप्यद्भुतरतिभराधीश्वरि तदा
जपन्त्यस्ता मौनं दधुरखिलगोप्योऽधिकरूचः ॥ २८ ॥
अनुष्टुप् - सुकृतं देवि यदभूत् पतिं श्रीपतिमेव तत् ।
अकरोत् कुरूते हीष्टमपि साङ्गा नमस्क्रिया ॥ २९ ॥
गीति - सुमुखि ततः स्वत एव स्वहृदि प्रादुर्भवत्प्रिया न चिरात् ।
किदृग्भावापन्ना जातास्तन्नैव जानेऽहम् ॥ ३० ॥
हृद्येव प्राप्तसंवादाः पतित्वे गोपिकापतेः ।
त्रिलोकीं तृणवन्मुक्तिमपि तुच्छाममंसत ॥ ३१ ॥
अथ तं कमपि सुभद्रं समयं यस्मिन् प्रियाङ्गसङ्गोऽत्र ।
भवति मनोरथपूर्तिश्चासन् सख्यः पतीक्षन्त्यः ॥ ३२ ॥
तत्सुमुखि भद्रकालीमर्चन्त्य उदारमानसा मुदिताः ।
अभवन् भगवद्भावामृताब्धिलहरीभिरासिक्ताः ॥ ३३ ॥

तथाहि-तत इह पिच्छापीडः पाटीरविलिप्तचारूसर्वाङ्गः ।
सुरेन्द्रमत्तद्विरदस्मयहरगतिरेकलो रहसि ॥ ३४ ॥
पृथुतरनितम्बबिम्वोल्लसदमलामूल्यपीतवसनश्रीः ।
सिञ्जद्रशनानूपुरहृद्यगतिश्चञ्चलावतंसः ॥ ३५ ॥
ईषद्घूर्णितलोचनकमलः सहजस्मितातिमुग्धास्यः ।
आयास्यत्यतिसुन्दरकुन्दस्त्रगनेन मार्गेण ॥ ३६ ॥
कुलकम् - किञ्चित्सत्वरमुन्नतदृष्टिः सन्तप्तदृष्टिमेवं माम् ।
उत्सुकमना मिलिष्यत्यम्बुद इव चातकीं ग्रीष्मे ॥ ३७ ॥
हरिणी - मरकतमणिस्तम्भस्मेरस्वबाहुयुगेन मत्-
कृतसुकृततो मामाश्लिष्यत्युदारतरोरसा ।
अहमपि समाश्लिष्ये गाढं चिरं पुलकोन्नत-
स्वभुजलतया प्राणप्रेष्ठं घनस्तनमध्यगम् ॥ ३८ ॥
गीति - कर्ता चुम्बनमुच्चैः सकचग्रहममृतमधुरतरवचनम् ।
वक्ता चलत्सुनासामुक्ताभूषः सुरागरदः ॥ ३९ ॥
इंद्रवंशा - निसर्गरागातिमनोहराधरामृतं निजं मे स हि पाययिष्यति।
आविर्भवद्भावरसालविभ्रमो ममाधरं पास्यति काकुसीत्कृति ४०
गीति - पाटीरलेपजनितव्यवधानोपि प्रियोसहिष्णुर्मे ।
पश्चात्कृतमुक्ताफलहारः सहजाङ्गसौन्दर्यः ॥ ४१ ॥
कुवलयमालापीडः कुन्तलसङ्क्रान्तकृष्णमदतिलकः ।
आयत्यालिङ्गनमिह रहसि करिष्यत्युदारतरः ॥ ४२ ॥
युग्मम् - स्वसखिभिरेवं मिलिता गत्वा वृन्दावनीयकुञ्जेऽहम् ।
भाग्यैर्नन्दकुमारं मिलिता सुखिता भविष्यामि ॥ ४३ ॥
मृदुतरपवने यमुना पुलिने गत्वाऽहमेकैव ।
रहसि प्राप्तं माधवमतिचिरमुरूबन्धविभ्रमै रंस्ये ॥ ४४ ॥
प्रत्येकमेवमुरूविधमनोरथांस्ताः सदैव कुर्वाणाः ।
अन्यार्चनासमर्था ह्यभवंस्तद्भावनैसर्ग्यात् ॥ ४५ ॥
व्रजभूदेवीनिचयाद् हृदि स्फुरन्नन्दगोपराजसुतः ।

भवतु पतिः स्वयमेवेत्यनिशं तमपूजयन्नित्थम् ॥ ४६ ॥
वसंततिलका - सम्पूर्णरात्रिरतिभावनया विचित्र-
बन्धश्रमैर्जलविहारमिवालि कर्तुम् ।
उत्थाय वस्त्रमयथातथमुत्तमाङ्गे
कृत्वोषसि प्रचलिता यमुनाम्समेताः ॥ ४७ ॥
मार्गे व्रजन्त्यो निजमण्डलौघमध्यस्थितं ताः सखि मन्यमानाः।
अन्योन्यसम्बद्धभुजा विशङ्का जगुः प्रियं तद्रसभावमत्ताः ४८

रागविभासः ।

विधुमधुरानन मानद मनसिजमानद गोपीनयनचकोर पानद। ध्रुवपदम् ।
राधालोचनकुवलयमोदन कामवरद, अञ्जनरजनीप्रकटतारावृताधरामृत-
स्यन्द ॥ १ ॥ विधु ० ॥

गुर्जरीरागेण गीयते ।

व्रजानन्दकन्दं व्रजानन्दकन्दम् । घोषपतिभाग्यभुवि जातम् ।
रसिकवरगोपिकापीतरसमाननं । तव जयतु मम दृशि सुजातम् । ध्रुवपदम्
रूचिरदरहासगलदमलपरिमललुब्धमधुपकुलमुखकमलसदनम् ।
अमृतचयगर्वनिर्वासनाऽधरसीधु पायय मनोजाग्निशमनम् ॥ १ ॥
स्मितप्रकटितचारूदन्तरूचिवदनविधुकौमुदीहृतनिखिलतापे ।
विलस ललिताहृद्यकनककलशद्वये मारक्तमणिरिव दुरापे ॥ २ ॥
सुभगसुमुखीकण्ठनिहितनिजबाहुरतिमत्तगजराजवद्रुचिरम् ।
विहर विरहानलं चारूपुष्करचलनशीकरैरूपशमय सुचिरम् ॥ ३ ॥
अरूणतरलापाङ्गशरनिहितकुलवधूधृति तव विलोचनसरोजम् ।
मम वदनसुषमासरसि विलसतु सततमलसगतिनिर्जितमनोजम् ॥ ४ ॥
नन्दगेहालवालोदितस्त्रीरागसेकसंवृद्धसुरवृक्षम् ।
व्रजवरकुमारिकाबाहुहाटकलता सततमाश्रयतु कृतरक्षम् ॥ ५ ॥
व्रजश्लाध्यगुण रसिकतागुणगोपनातिशयरूचिरालापलीलम् ।
तादृगीक्षणजनितकुसुमशरभावभरयुवतिषु प्रकटतरनिखिलम् ॥ ६ ॥
रूचिरकौमारचापलजयव्रीडया वल्लवीहृदयगृहगुप्तम् ।
प्रकटयन्निजनखरशरचयैरसमशरमिह जयसि हृतभाववित्तम् ॥ ७ ॥

घोषसीमन्तिनीविद्युदुद्यद्वेणुकलनिनदगर्जितस्त्वमिह सततम् ।
वचनकरूणाकृतदृष्टिवृष्टीर[1]ङ्ग नवजलदम[2]पि कुरू सुहसितम् ॥ ८ ॥
गीति - अन्वहमित्थं प्रियतममुरूधात्युच्चैर्जगुः प्रिये मुदिताः ।
यान्त्यः स्त्रातुं सर्वाः कालिन्द्यां भूरिभाग्यास्ताः ॥ ४९ ॥
स्त्राने तासामङ्गोपरि पतदमलाम्बु कालिन्द्याः ।
प्रेमार्द्रनन्दसूनोरङ्गमिवालं चकास कमलाक्षि ॥ ५० ॥
नवकुचकुङ्कुमरञ्जितयमुनाजलचलनमेतदङ्गेषु ।
भेजे हरिकरकमलप्रोञ्छनलक्ष्मीं सरोजाक्षि ॥ ५१ ॥
उपजाति - तदा यदासीत् कुचकुङ्कुमेन सरस्वती तत्प्रभया च गङ्गा ।
तत्कामितार्थप्रदता हि युक्ता वेणी त्वतस्तत्र कलिन्दजायाः ५२
गीति - तद्रसपूर्णं यमुनापानीयं पीतमुद्भटं भावम् ।
तत्क्षणमुद्दीपयति प्रियसखि नन्दात्मजे रसिके ॥ ५३ ॥
शिखरिणी - कदाचिद्गोविन्दप्रणयभरिताः पूर्ववदिमाः
प्रगायन्त्यो नद्यां प्रियसखि समागत्य मुदिताः ।
समं प्रेष्ठेनेव प्रियसखि विहर्तुं स्ववसनं
तटे निक्षिप्याब्जव्रजवति विजहुः स्थिरजले ॥ ५४ ॥
गीति - तत्कुचकुङ्कुमवपुषोः प्रभया प्रसरत्स्मितश्रिया च तदा ।
यमुनारूपमरूप्यं समभूद्रसरूपता हि यतः ॥ ५५ ॥
करकमलेन तदम्भः परिषिञ्चन्त्यः परस्परं हृष्टाः ।
विर[3]लाणुपृथुलविन्दुभिरम्बुजमुख्यो विरेजुस्ताः ॥ ५६ ॥
यमुनाम्बुप्रतिबिम्बश्यामाङ्गनभस्युरोजकनकाद्रेः ।
परितो बिन्दुज्योतिश्चक्रं चित्रं परिभ्रमति ॥ ५७ ॥
अनुष्टुप् - श्रीकृष्णसङ्गमप्रोद्यच्छ्रमस्वेदाम्बुसन्ततिम् ।
बिन्दवः सूचयन्त्यग्रे भाविनीं राधिकासखि ॥ ५८ ॥
गीति - कुमारिकाङ्गगगने बिन्दुतारागणोदयः ।
अचिरात् कृष्णचन्द्रस्य सूचयत्युदयं सखि ॥ ५९ ॥
अनुष्टुप् - वदनेन्दुस्मितसुधापाने कुचचकोरयोः ।

---

१. टीकाकरैर्वृष्टिभिरिति पाठो गृहीतः । २. मणीति पाठः । ३. विमलेति पाठः ।

प्रस्कन्ना बिन्दवोऽङ्गेषु राजन्ते हरिणीदृशाम् ॥ ६० ॥
गीति - निर्भरविहारसक्तास्वेवं प्रेष्ठैकतानासु ।
तत्राजगाम शनकैर्व्रजराजसुतो व्रतस्य सम्पूर्त्यै ॥ ६१ ॥
विकसद्वदनविलोचनकमलगलत्कान्तिमधुरमधुपूरैः ।
तदपाङ्गरसपयोधिष्वशेषकामान् सुसङ्गमयन् ॥ ६२ ॥
यमुनानिललीलोन्नतचलदलकैरखिलमानसानि हरन् ।
गोपीमुखाब्जसुषमामधु पातुमिवोत्सुकैरलिभिः ॥ ६३ ॥
पीतांशुकपरिधानः कुङ्कुमल[1]लितातिरूचिरकुन्दस्त्रक् ।
सिञ्जद्रशनानूपुरमुखरगतिः स्निग्धतरतारः ॥ ६४ ॥
मन्थरचरणन्यासैरेतद्व्रतनियमभङ्ग इति बु[2]द्धिम् ।
सम्मर्दयन् स्वभावस्वभावतो यद्विहारादिः ॥ ६५ ॥
विविधालापनिरीक्षणलीलास्वनुरोधरसविशेषस्य ।
अनुभूत्यै सखि तासां स्वस्यापि तदा वयस्ययुतः ॥ ६६ ॥
अतितुष्टः सर्वस्वं दास्यामीत्यालि गोपिकाभावम् ।
दर्शयितुं कतिपयनिजसखिभिर्निर्दोषहृदयैः सः ॥ ६७ ॥
अनुष्टुप् कुलकम् - प्राग्जन्मपुरूषत्वाख्यधर्मा अपि वयस्यताम् ।
प्राप्ता ए[3]तैः सहागच्छत् सम्बन्धं सूचयन् हरिः ॥ ६८ ॥
शार्दूलविक्रीडित - यद्वानङ्गमुनीनपि प्रियतमान् कृत्वात्र भृङ्गाङ्गनाः ।
सङ्गे स्थापयति स्ववक्त्रमधुना चाप्याययन्त्युन्मदाः ॥
तेनाहं सखि लक्षये त्रिभुवने यस्मिन् महानुग्रहः ।
तस्मिन् घोषनितम्बिनीत्वमचिरात् कर्ता प्रियः प्रायशः ६९
अनुष्टुप् - ततः सत्वरमेतासां वासांसि जगृहे स्वयम् ।
अन्तरायासहिष्णुः स्वप्रियाणां नन्दनन्दनः ॥ ७० ॥
शिखरिणी - त[4]दा यद् कालिन्द्या निजजलकृतः केलिरूचिराऽन्तरायो नो
दूरे प्रियसखि कृतस्तासु न चिरात् ।
ततो मन्ये तस्याः सततमनुरोधप्रियतमाद्
अपि श्रीकृष्णात् तत्प्रियतमवधूष्वेव सहजः ॥ (१) ॥
गीति - उद्भिन्नारूणपल्लवयुगमध्यस्थातिरूचिरनवकुसुमैः ।

---

१. लुलितेति पाठः । २. बुद्धमिति पाठः । ३. ये तैरिति पाठः । ४. अयं श्लोको हरितालेन पश्चाल्लोपितः प्राचीनपुस्तके ।

प्रकटामलपरिमलभरमदालिजुष्टैर्मनोहरणम् ॥ ७१ ॥
रसमयसृष्टिसृष्टोत्पुलकब्रह्माण्डकुसुमशतवपुषम् ।
आदिपुमांसमिवालिश्रुतिगणसङ्गीतमाहात्म्यम् ॥ ७२ ॥
आकर्णाकर्षणकृतमण्डलनवकुसुमचापनिचयेषु ।
सन्धितकिञ्जल्केषुव्रातमिवापूर्वकन्दर्पम् ॥ ७३ ॥
किञ्जल्कोदग्राङ्गुलिकुसुमकरैर्दातुमखिलगोप्यर्थान् ।
आस्थितमिव सुरविटपिनमारूरुहे माधवो नीपम् ॥ ७४ ॥
अनुष्टुप् कुलकम् - पुष्पितश्चित्रनीवीभिः फलितो नन्दसूनुना ।
सौन्दर्येण मधुस्रावी पर्यगासीत्तदा तरूः ॥ ७५ ॥
अनुष्टुप् - सुधावर्षीव कुसुमकिञ्जल्काग्रैः कुमारिकाः ।
प्रवृत्त इव चानेतुं प्रियान्तिकमयं बभौ ॥ ७६ ॥
आरोहे प्रियसङ्गात्कम्पित इव शीतकणभरैः स्विन्नः ।
नवकोमलकिञ्जल्कैः पुलकित इव सर्वतो रेजे ॥ ७७ ॥
तद्वयस्यतयैवालि कृतार्था अपि तेऽर्भकाः ।
वयस्यताफलं स्वस्य तद्भावेक्षाममंसत ॥ ७८ ॥
गीति - अतिविस्मितमनसः सखि मुग्धातिस्निग्धसजलदृष्ट्या तत् ।
प्रियवदनं पश्यन्तो मग्नाः प्रेमाम्बुधावासन् ॥ ७९ ॥
तद्रसमनुभूय तदा परस्परं प्रेक्ष्य निजकृतार्थतया ।
जातानन्दभरेण प्रहसद्वदना बभूवुस्ते ॥ ८० ॥
तन्निजचरितं सहचरि कौतुकमिव तेषु बोधयन् गोपीः ।
झटिति प्रबोधयन् सह तैरहसदमन्दमानन्दः ॥ ८१ ॥
मूर्ध्नि पतन्ती मोहनमुरसि च पाटीरलेपमुरूपश्चात् ।
सितवसनं सखि तासां चकास हासप्रभा तस्य ॥ ८२ ॥
अनुष्टुप् - प्रसरत्कौमुदीकोटिविलक्षणरूचा तदा ।
चकिता इव मुग्धाक्ष्यः सहसैक्षन्त माधवम् ॥ ८३ ॥
गीति - प्रियदर्शनार्तिसम्मुखलज्जातरलासितेक्षणा मुग्धाः ।
तत्परिहृताः स्वनीवीर्वीक्ष्यान्योन्यं मुदापश्यन् ॥ ८४ ॥
सहसा त्यागात्कुपितक्रीडावेशादिवेषदरूणाक्षीः ।
सस्मितमुखीरवोचत्परिहासमुदारलीलः सः ॥ ८५ ॥

यद्यपि निर्भरभावान्न देहसंवित्कुतः पुनः शीते ।
आसां तदपि हरिर्यत् सहते सखि तन्महच्चित्रम् ॥ ८६ ॥
शार्दूलविक्रीडित-अत्रागत्य विचित्रवस्त्रमबलाः स्वं स्वं विदित्वा मया
दत्तं तद्धतभावितं फलमिव प्रीतेन गृह्णन्त्विदम् ॥
मत्तो नानृतवागुदेति कथमप्यत्रार्भकाः साक्षिणः
स्वं वासोपि ददाम्यहं प्रियतरं को वात्र वः संशयः ॥ ८७ ॥
गीति - अभिसारिण्यम्बरमिव सपदि जलं चैतदपसरत्वङ्गात् ।
जलभरमूकं नूपुरमपि मच्छ्रवणेत्र सफलयतु ॥ ८८ ॥
वसनादानप्रसरद्बाहुस्फुरदमलवलयरणितानि ।
अचिरादखिलदिशामप्यशुभं निरसन्तु रसितानि ॥ ८९ ॥
अहह कियद्धतकार्श्यं समभूदिति सहजसख्यवात्सल्यात् ।
[1]तरलकरैरभिमर्षत्यङ्गानि मुहुः प्रियैषा वः ॥ ९० ॥
व्रतकर्शितमङ्गं वस्तरलकराग्राहितामृतौघकणैः ।
आप्याययितुं यमुना सिञ्चन्त्यनुरागतो बहुधा ॥ ९१ ॥
प्रेरयति तीरगत्यै परिधानाय प्रियाम्बराणां च ।
भवतीश्चिरविभ्रमलसदलसाक्षीर्वीचिकरनिचयैः ॥ ९२ ॥
चिरमिह चरणाम्बुरूहाण्यम्बुनि विमले विरेजिरे सख्यः ।
स्थलकमलश्रियमप्यथ वहन्तु हृतभूमितापानि ॥ ९३ ॥
हरिणी - इयदवधि यद्भीत्या स्वान्तर्जुगोप कलिन्दजा
चरणकमलानीमान्याशु क्षपाक्षयमाप सा ।
सरसिजकुलं नीरस्यान्तर्भवेत्कथमन्यथा
तदिह मम दृग्भृङ्गी शोभामधूनि पिबत्वलम् ॥ ९४ ॥
गीति - मन्नयनाब्जविकासः कुङ्कुमरागातिरूचिरनखकिरणः ।
तरणिरिवोदयगिरिमिह चरणस्तटमनुसरत्वचिरात् ॥ ९५ ॥
भवदीतयोरःसरसि स्मरः कुचकनककलशिकाऽमन्दम् ।
भावरसैः पूरयति स्वयमादातुं स तद्रहितः ॥ ९६ ॥
निसर्गसुषमानीर्वीं विनैव रूचिरां श्रियम् ।
भवत्यो दधते सख्यो मद्विलोचनमादिकाम् ॥ ९७ ॥
शिखरिणी - इमामाच्छाद्यापि त्रिदशयुवतिश्लाघ्यसुषमा-

---

१. अभिमृशति तरलपाणिभिरङ्गानि ।

मपूर्वां यां काचिद्वसनमपि युष्मासु कुरूते ।
तदाप्त्यै मन्नेत्रभ्रमरवरयोः स्वीयवसना-
न्यये गृह्णन्त्वेकैकश उत सहैवाशु निखिलाः ॥ ९८ ॥
गीति - अम्बररूपभवत्कटिमवलम्ब्येमाः सुरञ्जना नीव्यः ।
सपदि वहन्त्वम्बरतामनङ्गवरवीरकृतकवचाः ॥ ९९ ॥
भवतीषु सत्यमेव प्रियं वदाम्येतदिह तु नो नर्म ।
व्रतनियमकर्शिता यत्कुमारिका यूयमनवद्याः ॥ १०० ॥
इति निजनाथनिरूक्तां क्ष्वेलीं श्रुत्वा तदीयवचसापि ।
सम्बन्धमाप्य सर्वा वाचोऽतिशयास्तदाऽभूवन् ॥ १०१ ॥
तद्वचनचन्द्रिकाभिः प्रवृद्धतत्प्रेमजलनिधौ मग्नाः ।
ता यमुनामपि नन्दात्मजं विहारं च नाविन्दन् ॥ १०२ ॥
अनुष्टुप् -तेन केनापि भावेन तास्तदा नन्दसूनुना ।
अन्तः साक्षादिव प्राप्तसम्बन्धा भाग्यतोऽभवन ॥ १०३ ॥
रतान्त इव सञ्जातविलक्षणसुखाः प्रियम् ।
वीक्ष्यातिव्रीडिता आसन्नम्भोजाक्षि सुमध्यमाः ॥ १०४ ॥
गीति - मय्येवैतदुतान्यास्वपीति विदितुं परस्परं प्रेक्ष्य ।
सम्प्राप्य च संवादं समभूवन् जातहासास्ताः ॥ १०५ ॥
कौतुकमिव मत्वा तद्भावस्वाभाव्यतोपि यो हासः ।
तासां तं सखि माधवपूजाकुसुमान्यहं मन्ये ॥ १०६ ॥
अमुनात्यलौकिकेन प्रियसखि भावेन यद्बहिर्न गताः ।
तास्तद्युक्तं यदिमा यमुनायां नो रसे किन्तु ॥ १०७ ॥
शिखरिणी - तदा यत्कालिन्द्या निजजलकृतः केलिरूचिरा-
न्तरायो नो दूरे प्रियसखि कृतस्तासु न चिरात् ।
ततो मन्ये तस्याः सततमनुरोधः प्रियतमादपि श्रीकृष्णात्तत्
प्रियतमवधूष्वेव सहजः ॥ १०८ ॥
गीति - एवं तासामन्तर्भावं दृष्ट्वा प्रबोधनाय पुनः ।
निजगाद नन्दसूनुः स्मितेन सम्मोहयन् सुमुखि ॥ १०९ ॥
मयि स्थिता भवन्नीव्यः प्रागेव विपरीतकम् ।
वदन्ति तन्न युक्तं हि पश्चाद्भावित्वतः प्रियाः ॥ ११० ॥

यद्यपि भवतीषु तदप्युचितं सततं रसाधिक्यात् ।
रसमर्यादा नैवं भवतीत्यत्रैव गृह्यतां वासः ॥ १११ ॥
स्वागता - सर्वतः प्रसृतया मम दृष्ट्यैवावृतानि कथमप्यनिलोऽपि ।
स्प्रष्टुमर्हति न वै भवदङ्गन्याशु तत्त्यजत वालकशङ्काम् ॥ ११२ ॥
गीति - अयमतिसघृणः पवनः शीतमिति परागपूरनवनीवीः ।
परिधापयितुं भवतीष्वम्बुन्यपि हन्त सञ्चरति ॥ ११३ ॥
यदि भवदभिमतमेतत्तदाहमेवावरूह्यात्र ।
भवदङ्गेषु निजाङ्गैरावरणं मुग्धलोचनाः करवै ॥ ११४ ॥
प्रेमरसाम्बुधिमग्नं मनो विनोदोक्तिनवमहावर्तैः ।
उद्गतमुरूभावमभूत्ससिक्तमिवगाङ्गपूराम्भः ॥ ११५ ॥
नर्मरसोक्तिसमुद्रैर्मिलितप्रमाम्बुधिर्यदुद्वेलः ।
आसीत्तदिह तदीयं मनोपि बहिरास तत्सङ्गे ॥ ११६ ॥
पृथ्वी - तदा प्रियतमस्य ताः सखि निरीक्ष्य मुग्धाननं
त्रपाहसितभावसन्नतदृशा निजाङ्गन्यपि ।
कलिन्दतनयाजले सुमुखि कण्ठपर्यन्तमा -
स्थिता इव निजाञ्चलेऽरूणतरे बभूवुर्मुदा ॥ ११७ ॥
गीति - प्रियतमनरवपदभानूदयाय न चिरेण शिशिरतरनीरे ।
मग्नास्तपन्त इव नवकोका रूरूचुः कुचास्तासाम् ॥ ११८ ॥
मंदाक्रांता - खिन्नौ प्रातः कथमु भवितेत्युत्सुकौ तादृगास्यं
दृष्ट्वा राकापतिरयमुदेत्यस्ति राकेति मत्वा ॥
आभीतौ तत्करपतनतो यामुनीये जलेऽस्मिन्
लीनौ कोकाविव नवकुचौ रेजतुर्जातकम्पौ ॥ ११९ ॥
गीति - किं वर्णयामि यमुनानीरोपरि (वि) लसदरिवलवदना[1]नि ।
मन्येहं प्रियवरदे क्षपाधिपानेव सरव्युदितान् ॥ १२० ॥
इंद्रवंशा - किमिन्दवोऽमी बहुता न तत्र हि
प्रसन्नपद्मान्युत नाधुना रविः ।
इत्थं तदा तद्वदनानि संशया-
स्पदान्यभूवंश्चिरमर्भकव्रजे ॥ १२१ ॥
हरिगीत - ततो हासस्मेराननकमलमात्मप्रियमिमा

---

१. वदनस्त्वमिति पाठः ।

विलासश्रीस्पर्जितमदनकोटिं समवदन् ।
अतिस्निग्धैर्नेत्रैः क्षणमभिमुखैश्चातितरलैः
[1]समीक्षन्त्यो गोपैः स्वरसमुदितैर्वेष्टितममुम् ॥ १२२ ॥
गीति - परमोदार तवेदं युक्तं यद्वसनदानमाहूय ।
तद्यदि समये सफलं भवति तदैवाङ्गसङ्गत्वात् ॥ १२३ ॥
त्वद्धृतवस्तु कदाचित् कथमपि नावर्तते पृथङ् नाथ ।
तर्दिहास्माकं नीवीर्दास्यसि नो वा न तद्विद्मः ॥ १२४ ॥
यदि नैकाक्यपहृतमिति ददासि नान्योऽस्मदीयवस्त्वङ्ग ।
स्प्रष्टुमपि कोपि शक्तस्तदखिलमेकाकिनैव हृतम् ॥ १२५ ॥
हरणं यादृक्तादृग्दानमपीहोचितं महोदार ।
नाथान्यथा तु सुमहाननयः स भवत्ययुक्तो हि ॥ १२६ ॥
हरिणी - नहि कुलवधूरन्यस्याग्रे कथञ्चन कुत्रचित्
किमपि सरसं स्वाङ्गं साध्वी प्रकाशयति प्रभो ।
यदतिमधुरस्निग्धप्राणप्रियेक्षणयोरपि
क्षणमपि न साम्मुरव्यं यातस्तदीयविलोचने ॥ १२७ ॥
अनुष्टुप् - कदाचित्तरूणी काचिदङ्गं मत्ता प्रकाशयेत् ।
कथं कुमारिकाः कुर्युर्जानन्त्योङ्ग तथाधुना ॥ १२८ ॥
सानन्दनन्दभूपालकुमारं प्राणवल्लभम् ।
त्वां तु सुन्दर जानीमो नीवीर्देह्यधुनैव नः ॥ १२९ ॥
शिरवरिणी - व्रजे सर्वत्रैवाखिलबुधजनैः श्लाघितगुणा-
र्णव त्वामेवंकारिणमुदितमाकर्ण्य किमपि ।
कदाचित्कश्चिन्नः श्रुतिकटु वदेदित्यतिभयं
स्वलज्जातोत्यन्तं सुभग हृदयं खेदयति हि ॥ १३० ॥
अनुष्टुप् - तदाशु देहि वासांसि चातुर्यैकनिधान भोः ।
नोचेदयमुदेत्येव तापयन्नीलनीरजान् ॥ १३१ ॥
वसंततिलका- नैवं भवत्युचितमित्यतिसार्द्रचित्ता
साजात्यतः प्रितमा तव भानुकन्या ।
हस्तान् प्रसार्य निकटे च गताऽस्मदीय-
नीवीः शनैः कमललोचन याचते स्म ॥ १३२ ॥

---

१. प्रपश्यन्त्यो ।

गीति - त्वदङ्गसङ्गतापीतनीवी तडिदिवाम्बुदे
विराजतेऽङ्ग सा तत्र सुचिरस्थायिनी नहि ॥ १३३ ॥
तत्रागतासु दाने सम्प्रति च न वर्तते विशेषोऽत्र ।
यद्यस्ति कश्चिदधुना त्वनुचित एवास्ति सुन्दरः सः ॥ १३४ ॥
अपरस्त्रीचिह्नाङ्कितमपि हृदयेशं न वीक्षते प्रमदा ।
कंथमितरपुरूषसहकृतमुपगच्छेत्तद्वद स्वाङ्ग ॥ १३५ ॥
स्वयमेवाङ्ग विचारय सततं सर्वत्र सर्वतोऽस्माकम् ।
अविता त्वमेव नाथः किमपरमधिकं नु विज्ञाप्यम् ॥ १३६ ॥
अयमतिशिशिरः पवनो मनोऽपि नः सपदि वेपयन् वहति ।
ऋतुरपि शीतभरोऽयं तत्रापि तरामयं समयः ॥ १३७ ॥
तेनातिवेपितानामम्बुनि सुभगाम्बराणि नो देहि ।
त्वयि विश्रान्ता हि दया यच्छीतेप्येवमिह चरसि ॥ १३८ ॥
त्वं त्वस्मन्नीवीरूत परिधयास्सेति शिशिरतीरस्थाः ।
माभूवन्बालास्ते सोत्कम्पाः सौकुमार्येण ॥ १३९ ॥
हरिगीत - भवामस्त्वद्दास्यस्तरलतरलापाङ्गसुषमा-
लवक्रीता वीताखिलपरिजनाः सत्यवचनाः ।
मुदा तत्सिद्ध्यर्थं वितर वसनानि प्रिय ततो
विधास्यामः सर्वं त्वदुदितमरण्येप्यधिजलम् ॥ १४० ॥
गीति - जानासि निखिलसेतूनाकर्णय नस्तदत्र विज्ञप्तिम् ।
नो चेद्व्रजराजाग्रे सर्वं विज्ञापयिष्यामः ॥ १४१ ॥
रागविभास - इति व्रजकुमारिकावदनपद्ममन्दस्मित-
प्रकाशगलितामलेरितमरन्दपूरोक्षितः ।
झटित्युदितनिर्भरप्रणयचित्रभावाङ्कुरो-
न्नताङ्गरूहभूरभूद्रतिरसज्ञचूडामणिः ॥ १४२ ॥
सखि निर्भरानुरागात्प्राप्तो यन्निखिलगोपिकैकात्म्यम् ।
तदयं तच्छीतोक्त्या सकम्पपुलकः स्वयं चासीत् ॥ १४३ ॥
नवप्रेमार्द्रसाकूतसप्रौढिविनयोक्तिभिः ।
तद्वशः सस्मितः प्रौढभावः सकरूणोऽवदत् ॥ १४४ ॥
गीति - गच्छत मा चिरमखिलं व्रजराजाग्रे निवेदयन्त्वादौ ।

स यदि वदिष्यति देहीतीमानि तदा प्रदास्येऽहम् ॥ १४५ ॥
पुष्पिताग्रा - अहमपि भवदुक्तमेव सत्यं
सपदि विधातुमकैतवं वदामि ।
यदिह भवदनागतौ न दानं भवति न वा परिधानमम्बराणाम् १४६
अनुष्टुप् - ममैव केवलस्येह दास्यो यदि भविष्यथ ।
न त्रपाधीनताप्येषा युक्ता मत्पुरतस्तदा ॥ १४७ ॥
मद्वाक्यमेव यदि वः कार्यं तर्हि सुमध्यमाः ।
समये न विशेषोऽस्ति यदिच्छैव बलीयसी ॥ १४८ ॥
गीति - दासीत्वेपि मदिच्छा निवर्तते नेयमब्जाक्ष्यः ।
न हि पूरयति मधुव्रतमध्विच्छामात्मवश्यताब्जस्य ॥ १४९ ॥
पृथ्वी - ततोऽधरदरप्रभारचितचित्ररूपस्फुर-
त्स्थिरामलजलाशयादुपचिताशया निर्गताः ।
त्रपार्धनतलोचनाञ्चलनिरीक्षणेनातटं
तमो घनमिव प्रियाः सखि विधित्सवस्तत्क्षणम् ॥ १५० ॥
त्रपाधनमपावृते महति सद्मनि प्लावितं
प्रियेक्षणसुवृष्टिभिः सपदि हन्त माभूदिति ।
स्वपाणियुगलेन चावरणमालि चक्रुस्तदा
प्रतिक्षणसुसङ्कुचज्जघनवाहुकण्ठ्यः प्रियाः ॥ १५१ ॥
वसंततिलका- तन्निर्गमोत्थजलबिन्दुमनोज्ञवीचि-
प्रान्तौ विरेजतुरलं युगपद् हृदिन्याः ।
प्राणप्रियाविरहतत्प्रियसङ्गमाद्य-
दुःखप्रमोदजनिताविव चाश्रुहासौ ॥ १५२ ॥
गीति - तच्चरणाम्बुजनरवशशिनूपुरनवकान्तिभिस्तु कालिन्द्याः ।
नीरमनिर्वचनीयप्रभमभवदमन्दसौन्दर्यम् ॥ १५३ ॥
शार्दूलविक्रिडित- कालिन्दीसलिलान्तरात्प्रियसखि प्राणप्रियस्यान्तिकं ।
यान्त्यः कान्तिभिरर्भकेक्षणचमत्कारान्दधत्यः प्रियाः ॥
रेजुर्वीक्ष्य नवाङ्कुतामृतमयाम्भोदं स्वमेघव्रजं ।
हित्वा यान्त्य इवैनमालि मिलितुं मोहस्थिरा विद्युतः ॥ १५४ ॥
गीति - यथा यथा तटं तस्या कुमार्योऽनुसृताः सखि ।

तदीयमणिमञ्जीराण्याविरासंस्तथा तथा ॥ १५५ ॥
सायं पुलिनागमनप्रातर्गृहगमनयोर्निजावस्था ।
श्यामाम्भसि मूकैस्तैर्बहिश्च मुखरैस्तदा गदिता ॥ १५६ ॥
मञ्जीरसिञ्जिताह्वानसङ्गतेऽभेकलोचने ।
लावण्यमोहिते चक्रुः पदन्यासेषु तास्तले ॥ १५७ ॥
अनुष्टुप् - अनुरागानन्दहासव्रीडासङ्कोचभीतिभिः ।
कश्चिच्छबलितो भावस्तासां समभवत्तदा ॥ १५८ ॥
इंद्रवंशा - आविर्भवन्तोऽथ मिलन्त उत्तमास्तिष्ठन्त एकेऽपसरन्त आतलम् ।
रेजुस्तदङ्गेषु तदा तदात्मकप्रियस्य भावा इव वारिबिन्दवः ॥१५९॥
गीति - सर्वात्मभावजलधौ क्रीडन्तौ कृष्णनयनमीनवरौ ।
वीक्ष्य कुमारीसेतूनास्तामग्रे गतावबलौ ॥ १६० ॥
शिखरिणी - तदैकस्मिन्नङ्गे कुवलयदृशः कापि मिलिता
द्वितीयेप्यासीद्यत्तदपरकुमार्यां च हरिदृक् ।
तदङ्गानामासामपि परहृदाकर्षणवर-
प्रभावो हेतुर्नापर इति ममासीदवधृतिः ॥ १६१ ॥
उपजाति - स्वरूपमेवाम्बुजलोचनस्य प्रीतौ यतो हेतुरभूद्वधूनाम् ।
ततस्तदा सोऽतिविलक्षणेन भावेन केनाप्यभवत्प्रसन्नः ॥ १६२ ॥
शिखरिणी - प्रतीत्यर्थं तासामिव रुचिरनीवीः करतले
गृहीत्वाऽसीत्पूर्वं कमलनयनो दातुमिव याः ।
निधाय स्कन्धे ताः पुनरपि यथा पूर्वमबलाः
समीक्ष्यातिप्रीतः स्मितरुचिरवक्त्रः समवदत् ॥ १६३ ॥
पृथ्वी - विहाय वसनानि यद्विहृतिमप्सु देवात्मिका-
स्वपूर्वरुचिरामलं चिरमकृढ्वमानन्दिताः ।
तदेव ननु देवहेलनमतोऽस्य शान्तयै मुदा
नमस्कुरुत भूतले सुभगमूर्ध्नि कृत्वाञ्जलिम् ॥ १६४ ॥
वंशष्ठ - धृतव्रतानां तु यथेष्टचेष्टितं न युक्तमित्युक्तमये महर्षिभिः ।
सर्वात्मनात्मानवधानमप्यदो निर्दोषवाक्कायहृदामपि क्षणम् १६५
गीति - शशिमदनदेवयुवतिप्रभृतिसुराणां च मानहानिरियम् ।
उद्यन्निखिलाङ्गश्रीकृतोचिता नैव महतीषु ॥ १६६ ॥

भवदङ्गनीजलधौ क्रीडन्तौ नयनमीनराजौ नः ।
सहसा बाहुद्वीपे पतितावार्तावतीव स्तः ॥ १६७ ॥
हरिणी - इति सहृदयं श्रुत्वा मत्वा व्रतच्युतिमच्युता-
भिहितमहितं कर्माच्छिद्रं कथं नु समाहितम् ।
भवति सुरसन्तोषो दोषप्रदोष इति क्षणं
निजहृदि विचारं ताश्चक्रुः प्रमोदयभयान्विताः ॥ १६८ ॥
वंशस्थ - न पारयामः पुरुषान्तरे नतिं कर्तुं तथा मा भवतादपि क्वचित् ।
आज्ञाप्यनुल्लङ्घ्यतमा प्रियस्य नस्तदत्र भोः किन्तु विदे विधेयम् १६९
शिखरिणी - चिरादिष्टे दृष्टेऽखिलफलतया सम्प्रति पुरः
स्थिते वैगुण्यं तत्करणगमकिञ्चित्करमतः ।
विधेयास्मिन्नेव प्रणतिरनयैवाऽखिलमिदं
भविष्यत्यस्माकं प्रियपदगतीनां शुभतरम् ॥ १७० ॥
गीति - इति सहसा स्फूर्त्या मत्स्वामिन्यः प्राणवल्लभं नेमुः ।
बध्वाञ्जलिमतिसुभगे मूर्ध्न्यतिमुग्धाननाः सुमुखि ॥ १७१ ॥
शिखरिणी - ततस्तादृग्भावावनतिनिगदाख्यातसहज-
प्रपत्तिभ्यस्ताभ्यो रुचिरनवनीवीर्हरिरदात् ।
सरोजाक्ष्यः प्राणप्रियभुजयुगस्पर्शिवसना-
भिमर्शप्रोत्साहप्रशिथिलतराङ्ग्यः समभवन् ॥ १७२ ॥
गीति - तत्परिधानेपि तदाऽसामर्थ्यं वीक्ष्य सारसाक्षीणाम् ।
परिधापयितुं ताः स्वयमवरुह्यागात्प्रियो नीपात् ॥ १७३ ॥
काञ्चन काञ्चनकमलोपरिलसदलिवृन्दरुचिरकेशेषु ।
निजवसनेनाप्रोञ्छत्तत्सम्मुखमास्थितः प्रेयान् ॥ १७४ ॥
अनुष्टुप् - ततस्तथा स सर्वाङ्गे चकार युगपत्सरिव ।
सर्वास्वनेकरूपोपि कुमारीभिरलक्षितः ॥ १७५ ॥
ततः कटितटे तस्याः पटं पट्टमयेन सः ।
दाम्ना बबन्ध विविधानुसन्धानोऽम्बुजारुणम् ॥ १७६ ॥
गीति - सितवसनरचितकुसुमाञ्चितकञ्चुक्या सकाञ्चनप्रभया ।
पश्चाद्रचितग्रन्थ्या सपुलकतदुरोऽञ्चयामास ॥ १७७ ॥
कुवलयदलनिभमञ्चलमुरू पृथु मुक्ताञ्चिते सधम्मिल्ले ।

कृत्वोन्नतकञ्चुक्यामकरोदुरूभूषणाढ्यायाम् ॥ १७८ ॥
वसंततिलका- आर्द्रार्द्रया रसभरोन्नतया निजेष्ट-
दृष्ट्या स्वदृष्टिमिलनेन नतस्मितास्या ।
काचिद्विलक्षणनिजानुभवैकवेद्य-
भा[1]वा शनैः कटितटे वसनं चकार ॥ १७९ ॥
वंशस्थ - लज्जाविलोलाञ्चललोचनेन मुहुः प्रियं चारू विलोकयन्ती ।
मुहुः श्लथद्ग्रन्थिमुदारनीव्या बध्नन्त्यतिष्ठत्परमम्बुजाक्षी ॥ १८० ॥
अनुष्टुप् - मुग्धस्मितमुखाम्भोजो मञ्जुसिञ्जाननूपुरः ।
आगत्य स तदा पूर्वमञ्चलं पर्यधापयत् ॥ १८१ ॥
इंद्रवज्रा - ततः प्रियः पीतदुकूलमुल्लसद्दाम्ना बबन्धासितगुच्छशोभम् ।
शनैः स्मितस्मेरतरार्द्रदृष्ट्या विलोकयन्मुग्धमुखाब्जमस्याः ॥ १८२ ॥
गीति - प्रियतमपाणिस्पर्शोदितपुलकात्युन्नतोरसि स्वनिभाम् ।
पुलकितवपुरपि रसिकः साकूतं कञ्चुकीमकरोत् ॥ १८३ ॥
वसंततिलका - कोटिस्मरस्मयहराङ्गनिरीक्षणेन
काश्चिच्चिरादभिमतेन विमुग्धचित्ताः ।
स्वान्युत्तरीयवसनानि नितम्बबिम्बे
कृत्वा शनैः परिदधुः सखि मूर्ध्नि नीवीः ॥ १८४ ॥
गीति - दृष्ट्वा तत्सर्वं स स्मितमुखकमलः समागतः पूर्वम् ।
अनतिदृढामधिनाभि ग्रन्थिमुदारो मुमोच शनैः ॥ १८५ ॥
पृथ्वी - ततः शिरसि संस्थितामतिविचित्रनीवीं स्फुर-
न्नितम्बभुवि पर्यधापयदनल्पमुक्ताञ्चिताम् ।
स्वकन्धरविभूषणारूणतरोत्तरीयं शिर-
स्यभावयदनल्पभूषणयुते प्रियायाः प्रियः ॥ १८६ ॥
वसंततिलका - काचित्सखि प्रियतमाभिमतावलोक-
प्रोद्यत्प्रमोद भरसंभ्रमसास्मितास्या ।
उद्यद्दिवाकररूचिं परिधाय नीवीं
शैथिल्यतः परिदधौ कुचपट्टिकां न ॥ १८७ ॥
पृथ्वी - ततः करपुटस्थितामलमनोज्ञमुक्ताफल-
प्रवेककृतवीटिकारूचिरकञ्चुकीं माधवः ।

---

[1] भावाऽकरोत् कटितटेतिविचित्रनीवीमिति पाठः ।

समीक्ष्य रूचिरस्मितः सखि समागतः सादरं
तदञ्चलमपाकरोदमलचम्पकाभो रसः ॥ १८८ ॥
स्वागता - तत्क्षणं प्रियतमाभिमताङ्गस्पर्शहर्षभरविश्लथिताङ्ग्याः
सुन्दरः करपुटादपि चाञ्चत्कञ्चुकीं स्वयमसौ जगृहेऽस्याः ॥ १८९ ॥
गीति - अङ्गदमस्या वाह्वोः प्रथमं परिधाप्य कञ्चुकीं पश्चात् ।
ग्रन्थित्रयमक[1]रोत् सख्यतिसुकरां माधवो मोके ॥ १९० ॥
वसंततिलका- केनापि तेन सरसीरूहगर्भगर्व-
निर्वासनेन हरिहृत्सहजेन तस्याः ।
अन्तर्गतेन सहसाऽजनि सौरभेण
भावस्तदा पुलकसीत्कृतिमोहहेतुः ॥ १९१ ॥
शालिनी - तत्कालीनं भावमम्भोरूहाक्षी वक्तुं शक्तासक्तियुक्ता न साऽपि ।
किन्त्वेतस्याः सौरभात्मत्वमासीदेतन्मात्रं मद्वचोगोचरोऽस्ति १९२
वसंततिलका- एतावतैव भवतीभिरशेषवार्ता
तस्या विलक्षणविचारपराभिरन्तः ।
ज्ञेया कथं नु कथयामि विचित्रभाव-
सारस्य सीम हरिरासजुषः स्फुटोक्तिः ॥ १९३ ॥
गीति - वसनादानप्रसरच्चम्पकगर्भातिसुभगभुजलतिकाः ।
कस्याश्चिन्निजवलयक्वणितैरस्मारयत्किमपि ॥ १९४ ॥
हरिगीत - तदैवाविर्भूतप्रचुररतिभावातिचपले-
क्षणः प्रादान्नीवीं सुमुखि सविकारं सपुलकः ।
स्पृशन्गाढं तस्या मृदुकरतलं पङ्कजमृदु-
स्वहस्तेन श्रीमन्नरवररूचिरेण स्मितमुखः ॥ १९५ ॥
शिखरिणी - तदा यत्साकूतं समजनि किमप्यालि रूचिर-
स्मितस्पर्शापाङ्गेक्षणमुदितभावस्य सहसा
तदस्या अप्यासीन्मधुरतरभावोद्भुततमः
स येनेयं मग्ना रसजलनिधौ तत्क्षणमभूत् ॥ १९६ ॥
तदा सारङ्गाक्षी निजहृदि निधायोत्पुलकिता
निमीलद्दृष्टिः सा निजकरतलं तद्रसमयम् ।
मुदाश्लिष्टा साक्षादवशमुपभुक्तेव सहसा

---

[1] ददात् इति पाठः ।

प्रियेणासीद्राधा सहचरि चिरं सस्मितमुखी ॥ १९७ ॥
गीति - सकलान्तररतिचिह्नाङ्कितामवाह्य स्मृतिं प्रियां दृष्ट्वा ।
रसिकशिरोमणिरपि सखि विस्मयमगमद्रमानाथः ॥ १९८ ॥
पुष्पिताग्रा - करतलमिलदञ्चलं स तस्याः
सुमुखि यदा धृतवान्करेण नाथः ।
विकसितनयनोत्पला तदेयं
समभवदुद्गतसीत्कृतिः सकम्पम् ॥ १९९ ॥
अनुष्टुप् - विस्मयानन्दहासेषद्व्रीडाशबलिताशया ।
पुरस्थितंमपश्यत्सा माधवं लोचनाञ्चलैः ॥ २०० ॥
तदापत्रपया किञ्चित्सङ्कुञ्चन्तीमतिप्रियाम् ।
वीक्ष्य सत्वरमब्जाक्ष्याः दुकूलं पर्यधापयत् ॥ २०१ ॥
हरिणी - विविधरसभावोद्भाविन्यास्तदा सुषमास्पद-
प्रियतमदृशा सारङ्गाक्ष्याः शनैर्दृढबन्ध[1]नैः ।
प्रिय इह रहस्यागत्यैवं विमोक्ष्यति वास इ-
त्यजनि सहसा भावो यत्तत्तथैव चकार सा ॥ २०२ ॥
प्रपदपतितं वासो वीक्ष्य प्रिया सहसा तदा
प्रियवदनमुद्वीक्ष्य व्रीडास्मितानतलोचना ॥
सपदि जनितानन्दोद्रेकादियं परिधातुम-
प्यभवदपटुर्वासस्तूर्णं प्रगृह्य च पाणिना ॥ २०३ ॥
पंचचामर - अर्ध-मुदा तदा गतः प्रियः स्मितश्रिया जितस्मरः ।
प्रगृह्य पर्यधापयद्दुकूलमुल्लसत्करः ॥ २०४ ॥
वसंततिलका - काचिन्निजान्तिकगतव्रजभूषणाङ्गे
नीवीं प्रियस्य ददतः करपङ्कजस्य ।
दृष्ट्वा स्वतः स्तनगतं प्रतिबिम्बमेतद्
दत्तं तदेव सपदीत्यविदद्रसाङ्गी ॥ २०५ ॥
शिखरिणी - तदैवासीदेषा पुलकितवपुः क्रीडितनत-
स्मितस्मेरापाङ्गा मुकुलितमनोज्ञेक्षणयुगा ।
प्रमोदप्राचुर्यप्रशिथिलतराङ्गीकरयुगा-

---

[1] बन्धनमिति पाठः ।

दपि स्त्रंसन्नीवीं रसँभरतनुर्नाविददहो ॥ २०६ ॥
पृथ्वी - तथैव न चिरं स्थितां रूचिरचित्रलेखामिव
प्रियामभिविलोकयन्विदितपूर्ववृत्तान्तकः ।
पुरैव परितोषितोप्ययि तदा नदेयं किम-
प्यपश्यदुत तद्वशोऽभवदुदारमूर्तिः सखि ॥ २०७ ॥
गीति - विकसितलोचनकुवलययुगला वीक्ष्य प्रिया तथा भावम् ।
सन्तप्ता सहसाऽभून्मीन इवाम्भो विना सुमुखि ॥ २०८ ॥
अनुष्टुप् - पुरस्थितमपि प्राणप्रियं प्राणप्रिया हरेः ।
निर्भराद्भुतभावाब्धिनिमग्ना नाऽविदत्सखि ॥ २०९ ॥
शिखरिणी - तथा भावं तस्याः सहचरि विदित्वा स्वयमसौ
न सोढुं शक्तोऽभूत्प्रणयभरतः सैव यदभूत् ॥
तदैवागत्याऽस्याः पृथुकटितटे सुन्दरतरं
दुकूलं कृत्वा स्वप्रणयिनि बबन्धालि रशनाम् ॥ २१० ॥
गीति - शिरसि तदञ्चलमचिरात्कुर्वाणं प्राणवल्लभं वीक्ष्य ।
पुरतस्तदेव वक्षसि कुर्वत्याधिं जहौ सुमुखी ॥ २११ ॥
सुकुमाराङ्गीमेनां स्पृशन्तमित्थं प्रियं प्रिया काचित् ।
पश्यन्ती कथमेवं मय्यपि भूयादिति ह्यविदत् ॥ २१२ ॥
मनोरथमहाम्भोधिमज्जनेनास्यविस्मृतिः ।
प्राप्तप्रियतमस्पर्शभावा पुलकिताऽभवत् ॥ २१३ ॥
वसंततिलका - केनापि तेन रसितानुभवैकवेद्य-
भावेन सातिशिथिलाङ्ग्यभवत्तदालि ।
नीवी च शारदसरोरूहसोदरश्री-
र्हस्तारविन्दयुगलादपतत्कृशाङ्ग्याः ॥ २१४ ॥
गीति - वीक्ष्यैनामेणाक्षीं स्मितरूचिसम्मोहिताङ्गनानिचयः ।
आगत्य पर्यधापयदपि नीवीं प्रेमपूरार्द्रः ॥ २१५ ॥
एकस्यामपि यावच्चकार करूणानिधिः प्रियायां सः ।
वक्तुमशक्यं तावन्ममापि किमुतालि सर्वासु ॥ २१६ ॥
शार्दूलविक्रिडित-यादृग्भावयुताऽभवत्सपदि या तस्यां तथैवाऽऽचरन्
यन्नीवीं सखि पर्यधापयदतिस्निग्धार्द्रहासेक्षणः ।

तद्युक्तं नवनीरदोदरमिलद्विद्युन्निभस्वप्रिया-
भावाम्भोधिविचित्रतुङ्गलहरीविश्रामभूरेष यत् ॥ २१७ ॥
रसाब्धेः स्वस्मिन्यः सखि निरूपधिस्नेहजलधिः
प्रवृद्धो मुग्धाक्षीवदनविधुदृष्ट्या स पतितः ।
सारवी - कुमारीष्वाप्लाव्य स्थितसहजरागाख्यसरित-
स्तदैक्यं प्राप्तः सन्निजसदनप्राप्तः पुनरपि ॥ २१८ ॥
हरिणी - किमिह वसनान्यासामङ्गेष्वकारि विकारिणा
किमपि रससर्वस्वं नैजं नु यौवनमेव वा ।
इति बत न निश्चेतुं शक्यं यतः सखि तत्क्षणान्
मधुरमधुरा भावाः सङ्गा बभूवुरतिस्फुटाः ॥ २१९ ॥
पृथ्वी - विनैव समयक्रमं सखि तदा यदासीदति-
स्फुटं नवलयौवनं त्रिदशमोहिनीमोहनम् ।
तदङ्गगुणो न तदव्रतकृतोऽन्यदीयोपि वा
विचित्ररसभावितप्रियकटाक्षगोऽयं परम् ॥ २२० ॥
औपच्छंदसिक-वय एव यदीदृशं तदीयं किमु वाच्यं सखि विग्रहाद्यशेषम् ।
रसरूपमतीन्दिरादुरापं रसमापूर्यदुदारतो रसाब्धेः ॥ २२१ ॥
शलिनी - यादृग्यादृग्भावयुक्तं मनः श्रीकृष्णस्यासु प्राविशत्ते मनोज्ञाः ।
भावा एव व्यक्तिमाप्तास्तदङ्गेष्वन्तश्चापीत्यालि जानाम्यहं तु ॥२२२॥
वंशस्थ - पुरैव नीवीपरिधानतो हरेश्चित्तं यदङ्गेष्वभवन्मृगीदृशाम् ।
पश्चाच्च तन्नूतनभावतस्तयोर्मध्ये पतत्तेन ततो न निर्गतम् ॥२२३॥
मालिनी - अतिमधुरमुदारं वीक्ष्य चित्तं प्रियस्याऽ-
खिलमपि निग्रहीतुं चित्तधारावलम्बाः ।
रूचिरनयनमार्गेणान्तराविश्य सर्वं
स्वगतमुदितलोभादालि चक्रुः कृशाङ्ग्य : ॥ २२४ ॥
शिखरिणी - हृते चित्ते ताभिः स्मरनृपतिरेतत्तरलदृक्
स्फुरद्दूतैर्ज्ञात्वा निशितशरसन्धानचपलः ।
समागत्याशक्तो हृतविशयसन्दापनविधौ
न यज्ञस्तच्चितं प्रतिनिधिवदादापयदहो ॥ २२५ ॥

वैतालीय - निजवक्त्रसुधाकरेधितप्रतिगोपीरसभावसिन्धुषु ।
समभूदवगाहयंश्चिरं तरलैरेष विलोलकुण्डलः ॥ २२६ ॥
पृथ्वी - त्रपा मृगदृशामतिस्फुटतयाऽखिलज्ञापनेऽ
निशं भवति ब[1]ाधिकेत्यतिविचारचातुर्यतः ।
विसारितविलोचनाञ्चलपुटे कृतामीषदा-
नतोन्मुखतया स्थिरां प्रियसमर्पितां चक्रिरे ॥ २२७ ॥
शिखरिणी - तदा यद्व्रीडैव प्रचुरसुनिगूढानपि निज-
प्रिये भावानावेदयदतिमनोज्ञानिह ततः ।
प्रसन्नाः प्रत्यङ्गं सदनमनुरूपं सखि ददु-
र्यया वर्धेतास्यानुपदमभिलाषो नयनयोः ॥ २२८ ॥
यदेतासां दृष्टिः प्रियनयनपङ्केरूहयुगे
तदीया चैतल्लोचनकुवलयेष्वाविशदहो ।
तदेतासामस्याप्युचितमपटुत्वं तदितरा-
वलोके दृष्टिर्यत स्वसदनगतैवालि करणम् ॥ २२९ ॥
पद धन्याश्री- वचनमधुराम्भोधिष्वादौ ततः प्रियसङ्गत-
स्ववसनसमीक्षाब्धिष्वस्य स्फुरत्सुषमाब्धिषु ।
अथ चपलताम्भोधिष्वेतन्निजाङ्गसुसङ्गत-
स्ववसनपरीधानाम्भोधिष्वथो रचनाब्धिषु ॥ २३० ॥
विविधरसभावाम्भोराशिष्वनुक्षणनूतने-
ष्वपि यदबलास्तेभ्यस्तेभ्यो बहिर्न विनिर्गताः ।
सखि समभवन्मग्नास्तत्किं कथं च विचारिते
व्रजवरकुमारीणामेष प्रभाव इति स्थितम् ॥ २३१ ॥
गीति युग्मम - अत्रैवं जानेऽहं प्रियसखि पूर्वोक्तसिन्धवः सर्वे ।
जलधौ सरित इवासामपाङ्गलहरीषु संलीनाः ॥ २३२ ॥
अत एवैतदपाङ्गस्पष्टो नवजलदसोदराङ्गश्रीः ।
तांस्तान् भावान् भजते युगपत्क्रमशोऽपि नन्दसुतः ॥ २३३ ॥
मंदाक्रान्ता - भावैरेभिः स्वहृदयगतैस्तद्वशस्तत्स्वभावा-
न्नान्यासक्तिः स्वपदकमलस्पर्शमात्राभिलाषाः ।

---

१. बोधिकेति पाठः ।

ज्ञात्वा सर्वास्तदभिलषितं दातुमादातुमासां
प्रेष्ठः स्वात्माभिलषितमपि स्मेरहासो जगाद ॥ २३४ ॥
मालिनी - मधुरमधुरभावानत्युदारान्सुगूढान्
नयनकुवलयान्तेनेषदारात्प्रदर्श्य ।
यदखिलमपि चित्तं भर्तुरेताः प्रलोभ्य
स्ववशगतमकुर्वंस्तत्र को वान्तरायः ॥ २३५ ॥
शिखरिणी - यदर्थं सर्वस्वं स्वयमपि च तस्मिन्प्रियतमे
पुरःस्थायिन्यक्ष्णोः पथमनुगते भावनिचयः ।
यदक्ष्णोरेवाभूत्तदुचिततरं यत्स्वयमपि
प्रियस्तादृग्भावं भजति मिलनादेव च तयोः ॥ २३६ ॥
हरिगीत - भवन्नयनवारिधे रसमयस्य तुङ्गोच्छलत्-
कटाक्षतरलाः प्रिया विविधभावरत्नान्यमी ।
बहिः प्रकटयन्ति तैरतिधनीव भूत्वाहम-
प्युदारतरमानसः किमपि वच्मि सन्तोषतः ॥ २३७ ॥
गीति - ज्ञाता अपि चपलत्वं विदधति मद्वाचि ये भवद्भावाः ।
युष्मासु ते स्थिरा अप्यतिमौनं कुर्वते चित्रम् ॥ २३८ ॥
व्रतनियमार्चनतुष्टा हृष्टान्विष्टा यदावयोः कार्ये ।
चिरनिभृतनिजमनोरथपूर्त्यै साऽदात्फलं किमपि ॥ २३९ ॥
स्रग्धरा - येनातिप्रौढभावा निजनिजपतितामत्यभीष्टां चिरान्म-
त्पाणिग्राहेण सिद्धामिव सहजतया मय्यवेत्य स्वचित्ते ।
मामेवाऽपूजयन् स्रड्मलयजकुसुमस्तोमताम्बूलमुख्यै-
रर्थै : प्रेमार्द्रभावाः स्फुरितमिव पुरः सर्वभावेन सर्वाः ॥ २४० ॥
शिखरिणी - निवेद्यं यत्रात्मप्रभृति निखिलं पुष्पततयः
स्वभावोद्गारिण्यो विविधरसभूदृष्ट्य इमाः ।
पुरः पूज्यश्चाहं प्रकट इह तत्पूजनमिदं
न भूतं नो भावि क्वचिदपि च नैवास्ति सुदृशः ॥ २४१ ॥
अनुष्टुप् - अथात्र पूर्वपूजायाः फलं किमु भवेन्ननु ।
किञ्चास्या इति मच्चिते प्रादुरास्ते विचारणा ॥ २४२ ॥
पूर्वपूजाफलत्वेन यद्यप्येषैव कल्पते ।

एतस्याः फलमेवैष भवितुं नान्यदर्हति ॥ २४३ ॥
स्वागता - साधनादधिकमेव फलं स्यादेकमेतव तदिदं कथमेवम् ।
स्यादिति ग्रहिलवाक्ततिरत्र क्षीणयुक्तिगतिरस्त्वनुभूते ॥ २४४ ॥
गीति - अधुना निवेदनं परमग्रे भोगः फलं ततो भेदः ।
भवति तयोरिति न मतं पूजान्तस्थो हि मद्भोगः ॥ २४५ ॥
अनुष्टुप् - अद्भुताद्भुतमद्यैतत्पश्यतात्र मृगीदृशः ।
साधनं तु भवद्गामि तेन मे वाञ्छितं फलम् ॥ २४६ ॥
गीति - एवं सखि मन्येऽहं मदर्थमेव च कृतो व्रतारम्भः ।
यदहं निजवाञ्छितफलमाप्नोम्याप्स्यामि चाऽमन्दम् ॥ २४७ ॥
अनुष्टुप् - अथवा स्वार्थमेवैतद्व्रतं कृतमिति ध्रुवम् ।
अहमेव भवत्यो यत्तदभून्मयि तत्फलम् ॥ २४८ ॥
गीति - इत्थं पूजनतुष्टो ददामि वरमेतदितरदुष्प्रापम् ।
सततं भवतीनामहमृणी सुयुक्तश्च वशगश्च ॥ २४९ ॥
तदिमाः क्षपा मया सह रंस्यथ सर्वात्मभावसुलभेन ।
विकसितकुन्दैर्लौकिकशारदरात्रीर्मुदा हसतीः ॥ २५० ॥
अनुष्टुप् - निष्कलङ्कनिशानाथनवोदयभृशारूणैः ।
किरणैरारूणीभूतनवपङ्क्तिमनोहराः ॥ २५१ ॥
मद्भावोदय एवायं व्याजात् कुमुदिनीपतेः ।
करव्याजान्मेनुरागरञ्जिता वनपङ्क्तयः ॥ २५२ ॥
पृथ्वी - भ्रमद्भ्रमरजुष्टसत्कुवलयावलीभिर्भवद्-
विलोचनयुगेषु मद्भ्रमणमाशु भावीति वै ।
मुदा कथयतीर्निजोपरि गतामृतांशूद्गतं
प्रमोदभरताभिरूत्तमरतं समं चाग्रतः ॥ २५३ ॥
गीति - कुवलयमरन्दपानोन्मदमधुपकृतातिमधुरझङ्कारैः ।
ज्ञापयतीर्भवदमृतप्रमुदितमद्गानमुत्तारम् ॥ २५४ ॥
प्रतिदलमुन्मदमधुपस्थित्या संशोभिमण्डलाकारम् ।
प्रत्येकं भवतीनां ज्ञापयती रमणमुद्वेलम् ॥ २५५ ॥
अत्यासक्त्या मुकुलितमपि कमलं व्याप्तुमिच्छता ह्यलिना ।

---

१. दृशेति पाठः ।

मानाकुञ्चिततावकनयनकरेष्वनुसृतिं मेऽत्र ॥ २५६ ॥
आनतनवतरुपल्लवकुसुमस्तवकेषु संरतोत्तानैः ।
मधुपैः संसूचयतीर्विपरीतरतं कृशोदर्यः ॥ २५७ ॥
नतकुसुमस्तवकगलन्मकरन्दधारो क्षणेन मधुपानाम् ।
सिञ्चनमिह जलविहृतौ ज्ञापयतीर्मे भवज्जनितम् ॥ २५८ ॥
चन्द्रांशुरागव्याजेन स्मराग्निमुदितं वने ।
त्रिगुणानिलफुत्कारैः शनैर्दीपयतीर्नवम् ॥ २५९ ॥
यमुनामज्जनशुचिनाप्यतिसभयेनापि पल्लवस्पर्शे ।
भवदर्थमेव निखिलं कृतमिति पवनेन सूचयतीः ॥ २६० ॥
पुरा दग्धस्य कामस्य सपद्येव भवद्दृशा ।
जीवितस्यानिलव्याजाद्वहतीः प्राणमारुतम् ॥ २६१ ॥
स्रग्धरा - सख्यं त्यक्त्वानलेन प्रकृतमपि रतिप्राणनाथेन साकं
कृत्वा मन्येऽनिलोऽसौ वहति यदनलः सोऽरिरस्येति मत्वा ।
शैत्यं तादृग्वहत्यात्मनि यदखिलमप्याशु निर्वापयेत्तत्
स्तेयी च स्वप्रियार्थं परिमलधनिनां तत्सशङ्कोतिमन्दः ॥ २६२ ॥
महीदीप - मन्दानिलानीतविचित्ररागपरागचन्द्रातपचारुमध्याः ।
भृङ्गाङ्गनारङ्गगलद्विचित्रप्रसूनमालादलकीर्णभूमीः ॥ २६३ ॥
गीति - कुलकम्-खञ्जनयुगमथ कुवलययुगलं मीनद्वयं यदि स्याद्वा ।
विमले विधौ तदाऽस्मिन्कथमपि भवदास्यसाम्यं स्यात् ॥ २६४ ॥
शिखरिणी - निशानामानन्त्येऽप्ययि यदि न ता नाशरहिताः
क्रमाच्चेत्स्युस्तर्ह्येकतरविधुनार्थः सखि भवेत् ।
मदीयप्र[·]त्यङ्गाभिधनवरजन्यस्तु न तथे-
त्यमी वक्त्रव्याजादुचितमुदितास्तत्सितकराः ॥ २६५ ॥
पंचचामर - मदङ्गमेघविद्युतो भवत्य इत्यनुक्षणं
न सम्भवत्यहो सखि दृशापि दृश्यतात्र वः ।
स्थितिश्च सन्ततं मयीत्ययं तु भावसञ्चयः
कदाचिदन्यथा न भाव्यये मयैव पोषितः ॥ २६६ ॥
हरिणी - प्रसरदसितापाङ्गैर्ध्वान्तं मुखेन्दुचयैश्च भा

[·] प्रत्यङ्गोल्लसतमेति पाठः ।

युगपदिह यत्प्रादुर्भूते तदत्र विचारितम् ।
गमनसमयेऽत्रान्या दृष्टिर्यथा न पदं लभेत्
तत इह सुखं भूयादेवं भवत्कृतसाधने ॥ २६७ ॥
वैतालीय - भवदीयदृगञ्चलस्पृगप्यचलं भावमिमं लभेत हि ।
भवतीषु सदैकरूपतेत्यलमुक्त्यातिविशुद्धजातिषु ॥ २६८ ॥
गीति - किमतःपरमधिकं ननु वाच्यं यद्भवदपाङ्गसङ्गेन ।
अहमपि निजपुंलक्षणभावं प्राप्नोमि नेतरथा ॥ २६९ ॥
अपि चापाङ्गसङ्गेन तथात्वे का विचित्रता ।
यदेतत्स्मृतिरप्यस्मास्वपाङ्गं कुरुते स्फुटम् ॥ २७० ॥
तस्मादधुना यात व्रजमबला यत् पुरोवभात्येषः ।
चण्डांशुः कुवलयकुलसङ्कोचकृत्तावसङ्कोचः ॥ २७१ ॥
हरिणी - इति निजनिजप्राणेशस्योदिते वचने मुदा
श्रवणपथगे भाविप्रेष्ठाङ्गसङ्गविनिश्चयात् ।
य इह मुदकूपाराः प्रादुर्बभूवुरहो गृह-
व्रजनसिकताकूटादप्योदका इव तेऽभवन् ॥ २७२ ॥
अनुष्टुप् - यदीयभाव एवासां सर्वविस्मारकोऽभवत् ।
कथं तस्मिन् पुरः स्थायिन्यहो गेहगतिर्भवेत् ॥ २७३ ॥
वसंततिलका- प्रायो यथाऽतिरणरङ्गविदग्धताति-
मुग्धप्रनद्धकवचा अपि वीरवर्याः ।
शान्ते पुरः प्रतिभटे भवति स्वगेह-
मेवं व्रजन्त्यपि तथैव सुमध्यमास्ताः ॥ २७४ ॥
गीति - तेपि यथा वीररसोद्भावप्राचुर्यविस्मृतान्यरसाः ।
आरणलाभादार्तिं लभन्त एवं कृशोदर्यः ॥ २७५ ॥
इंद्रवंशा - यथा कथञ्चित् स यदा कदाचिन्निजाङ्गसङ्गं विदधातु नाथः ॥
इत्थं चिरादिष्टमवाप्य हृष्टास्तदिच्छया जग्मुरिमाः स्वगेहम् ॥२७६ ॥
गीति - वचनादिष्टप्राप्तिज्ञानात् प्रियमभवदालि वचनं यत् ।
तस्यातो गृहगमनं युक्तं तासां तदाज्ञातः ॥ २७७ ॥
शिखरिणी - अहं त्वेवं जाने प्रियसखि वरस्तुष्यतु परं
भवत्वन्यन्मा वेत्यतिरतिभराक्रान्तहृदयाः ।
कृताः प्रागप्येता निजशिरसि बद्धाञ्जलिपुटा

यथा पृष्टैवं स्वगृहगतिमत्योपि सपदि ॥ २७८ ॥

गीति - तथात्वेपि तदा प्रेयान् पुरः स्थित इति प्रियाः ।
मुदिताः सपदि प्रायस्तदभावाद्विपर्ययः ॥ २७९ ॥

वंशष्थ - ततोऽचिरादेव मुकुन्ददत्तरवरात्तरात्रिष्वनवद्यभावाः ।
कुमारिकाः प्राणपतिप्रियाश्च प्रौढा विजहुर्निजवल्लभेन ॥

शिखरिणी - इतोऽन्यत् सम्प्रार्थ्यं वरमिह वरीवर्ति किमु नः
सदाऽस्मतत्स्वामिन्यः पुलिनमुत कुञ्जं रसभुवम् ।
मुदा सङ्गेऽस्माकं कथमपि समागत्य हरिणा
रमन्त्वस्माकं तच्चरणरजसा चास्तु रमणम् ॥ २८१ ॥
इति श्रीमद्गोपीजनचरणदास्याभिधमहापुमर्थावाप्त्यैवोज्झितसक लमोक्षाभिरूदितम् ।
मदीयात्मप्राणेन्द्रियहृदयदेशेषु सततम् ।
स्वयं भूयादेतद्व्रजनरससर्वस्वममलम् ॥ २८२ ॥

अनुष्टुप् - इति श्रीमद्व्रजवधूवल्लभाङ्घ्रिरजोर्थिना ।
रचितं रससर्वस्वं विठ्ठलेनाप पूर्णताम् ॥ २८३ ॥

इति श्रीमद्गोपीजनवल्लभचरणकमलयुगलैकशरणश्रीविठ्ठलेश्वरविरचितं रससर्वस्वं सम्पूर्णम् ॥

* * *

श्री कृष्णाय नम : ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

शृङ्गाररसमण्डनम् ।

दशोल्लासः ।

श्रीमत्प्रभुचरणप्रकटितः ।

प्रथम उल्लासः ।

हरिणी - कथय कथय स्वामिन्या मे कथं नवसङ्गमः
सुमुखि समभूद्गोविन्दस्येन्दिराधिकराधया ।
सखि विदितमेवैतत्ते किं ब्रुवे यदियं कथा
व्रजवरवधूदासीनां नः कृशोदरि जीवितम् ॥ १ ॥

भूलणा - स्मृतनिजनिजस्वामिन्यस्ताः स्वभावजनिर्भरप्रणयपुलकोद्भिन्नाङ्ग्यः साश्रुलोलविलोचनाः ।
व्रजपरिवृढक्रीडाम्भोधेः परस्परमम्बुभिः
सुरिवतहृदयाः सिञ्चन्त्यः श्रीमनोप्यहरंस्तदा ॥ २ ॥

शिखरिणी - यदैवाविर्भूतश्चिरनिभृतभाग्यैर्व्रजदृशां
यशोदायां प्राचीदिशि सकलतारापतिरिव ।
तदैवासामासीत् सहजरतिरस्मिन् मधुरिपो :
परं राधायां सख्यतिशयितरागः समजनि ॥ ३ ॥
कदाचित् कालिन्दीपुलिननलिनामोदधनिना ।
[1]प्रमोदप्राचुर्यप्रशिथिलसमीरेण ललिते ।
मुदा वृन्दारण्ये निजसहचरीवृन्दसहिता

---

१. समीरेणानन्दश्लथितगतिधीरेण ललिते इति, समीरेणानन्दस्थगितगतिधीरेण ललिते इति पाठद्वयम् ॥

गता राधा गोपीशतगतमपश्यद्व्रजपतिम् ॥ ४ ॥
चिरं चेतस्तस्या हरिवदनलावण्यजलधा-
वगाधेऽभूद्राधासहचरि निमग्नं व्रजदृशा ।
तदा सारङ्गाक्ष्या वदनवरचन्द्रे मधुरिपो-
श्चिरादिष्टे दृष्टिर्न्यपतदनिमेषातिरूचिरा ॥ ५ ॥
यदैवास्या गोपीपरिवृढदृशा दृष्टिरमिल-
त्तदैवाभूद्भावः प्रणयिनि स कोपि प्रियगतः ।
यतः स्तम्भस्वेदोत्पुलकविवशत्वादय इमे
स्फुटा भावास्तस्यां प्रियसखि बभूवुर्न चिरतः ॥ ६ ॥
नवप्रेम्णा पूर्णे हृदि निरवकाशेपि सुदृशः
प्रियापाङ्गानङ्गप्रहितशरसन्दोहविततिः ।
गतान्तः साजात्यात् सुमुखि यदसौ तेन कठिनः
कृशाङ्ग्याः सन्तापः समभवदहो वागविषयः ॥ ७ ॥
चिरादासक्ता सा कृशतनुरशक्ता धृतिकृतौ
तदा राधा बाधाशतवलितभावा प्रियसखि ।
क्वचित् कुञ्जे गुञ्जन्मधुपमुखरे धीरपवना-
श्रिते लीना दीना निजसहचरीं प्राह ललिताम् ॥ ८ ॥

मल्हाररागेण गीयते ।

सह विहरति युवतिभिरिह सहचरि हरिरतिकोमलानिले सेवति ।
किमु कथयामि वागविषयो मम मनसि परं खेलति ॥१॥ ध्रुवपदम् ।
वदनकमल एव रूचिरहसिते दृष्टिरपतदपगतधृतिगतिरेव ।
अङ्गमपरमनङ्गकोटिरूचिरतरं [१]मया न दृष्टमेव ॥ २ ॥
मदन एवायमिह प्रकट इति जाने नयनकुसुमशरैर्यदति दुनोति ।
इत्थमधीरराधिकाकथितं शुभं वितनोति ॥ ३ ॥

शिखरिणी - सकृद्दृष्टं दूराद्वदनकमलं गोकुलपतेः

---

[१] मयेति नास्ति ।

कथञ्चिन्मे मुग्धस्मितमनुपमं दर्शय पुनः ।
तदा किं ते देयं वद सखि वरीवर्ति भुवने
परं प्राणाः स्युर्मे मधुरिपुदृशा ते बत हृताः ॥ ९ ॥

गीति - इत्थमसकलाक्षरं तन्निगदितमाकर्ण्य सहचरी चतुरा ।
राधामवोचदारान्माधवमुपदर्शयन्त्यालिः ॥ १० ॥

वसन्तरागेण गीयते ।

हरिरिह व्रजयुवतीशतसङ्गे ।
विलसति करिणीगणावृतवारणवर इव रतिपतिमानभङ्गे ॥ १ ॥ ध्रुव०॥
विभ्रमसम्भ्रमलोलविलोचनसूचितसञ्चितभावम् ।
कापि दृगञ्चलकुवलयनिकरैरञ्चति तं कलरावम् ॥ २ ॥
स्मितरूचिरूचिरतराननकमलमुदीक्ष्य हरेरतिकन्दम् ।
चुम्बति कापि नितम्बवती करतलधृतचिबुकममन्दम् ॥ ३ ॥
उद्भटभावविभावितचापलमोहननि[१]धुवनशाली ।
रमयति कामपि पीनघनस्तनविलुलितनववनमाली ॥ ४ ॥
निजपरिरम्भकृतेनुद्रुतमभिवीक्ष्य हरिं सविलासम् ।
कामपि कापि बलादकरोदग्रे कुतुकेन सहासम् ॥ ५ ॥
कामपि नीवीबन्धविमोक्षससम्भ्रमलज्जितनयनाम् ।
रमते सम्प्रति सुमुखि बलादपि करतलधृतनिजवसनाम् ॥ ६ ॥
प्रियपरिरम्भविपुलपुलकावलिद्विगुणितसुभगशरीरा ।
उद्गायति सखि कापि समं हरिणा रति[२]रससरणधीरा ॥ ७ ॥
विभ्रमसम्भ्रमगलदञ्चलमलयाञ्चितमङ्गमुदारम् ।
पश्यति सस्मितमति विस्मितमनसा सुदृशः सविकारम् ॥ ८ ॥
चलति कयापि समं सकरग्रहमलसतरं सविलासम् ।
राधे तव पूरयतु मनोरथमुदितमिदं हरिरासम् ॥ ९ ॥

पुष्पिताग्रा -श्लोकः-कुवलयदलकोमलाङ्गसङ्गप्रकटमनोभवभावसुन्दरीभिः

---

[१] विधुवनेति पाठः ।
[२] रतिरणधीरेति पाठः सर्वत्र ।

विलसति सरसे कलिन्दकन्योपवनभवत्पवने वहत्यु[1]दारः॥११॥

हरिगीत - कलिन्दतनयातटोन्मदमधुव्रतास्वादित-
प्रसूननवपल्लवाञ्चितमनोहराकल्पकः ।
स्फुरन्मुरलिकाकलस्वनविमुग्धगोपीजनो
मनोरथशतं हरिः सखि त[2]नोतु पूर्णं तव ॥ १२ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचिते शृङ्गाररसमण्डने प्रथम उल्लासः ॥१॥

द्वितीय उल्लासः ।

शिखरिणी - विहारानान्दोलत्त्रुटदमलहारान् व्रजपते-
श्रियं दृष्ट्वा मत्तो रतिरतिशयान्यासु समभूत् ।
इतीर्ष्यार्तः स्थातुं न समशकदासक्तवशता
न गन्तुं चेत्थं सा चिरमभवदान्दोलितमनाः ॥ १ ॥
ततोन्यत्रागत्य क्वचिदपि लताकुञ्जभवने
मरन्दोन्मत्तालिध्वनितशि[3]खरे धीरपवने ।
निसर्गस्नेहार्द्रे सखि मुकुलयत्त्यम्बुजदृशौ
मुहुः काञ्चिद्राधा निजसहचरीं प्राह रहसि ॥ २ ॥

कल्याणरागेण गीयते ।

मानसमिदमपि क्षणमालि त्यजति न हरिमातुरमति ।
विविधविलसितचारुनयनविशिखविनिहतगति १ ध्रुवपदम् ।
कलमुरलीनादमोहितयुवतीवृन्दविलसितवशगम् ।
मम नयनयोरपि सुखमादधतं चित्रीकृतनरमृगविहगम् ॥ २ ॥

पृथ्वी - मदद्विरदमन्थरा सुमुखि सा गतिस्तत्स्मितं
मनो भवति मोहनं किमपि चारु चार्द्रेक्षणम् ।
मुखेन्दुसुषमा च सा वचनचातुरीमाधुरी-
जितामृतचया बत त्रिभुवनेपि नैवास्त्यहो ॥ ३ ॥

शिखरिणी - प्रियाया यो मुक्ताफलविरचितो बिन्दुरमलः

---

१. वहत्यभीक्ष्णमिति पाठः । २. करोतीति पाठः । ३. मुखरे इति पाठः ।

स्वभाले कस्तूरीतिलकरुचिरे केलिकुतुकात् ।
धृतः स्वप्रेष्ठेन प्रियसखि परीवर्तमुभयोः
स्वरूपस्य ब्रूते किमपरमितो वाच्यमधिकम् ॥ ४ ॥

गीति - उद्गायतोपि गोपीनिर्भरपरिरम्भविपुलपुलकालेः ।
स्थिरतरतरलग्रीवानासाभूषे मनो हरतः ॥ ५ ॥

शार्दूलविक्रीडित - वक्रग्रीवमुदञ्चदङ्गुलिचलद्भ्रूवल्लिवक्रेक्षणं
कुञ्चच्छोणतराधरं मुरलिकामुत्फुल्लनासापुटम् ।
व्य[1]त्यस्ताङ्घ्रि यदा मुदाधरसुधापूरैरलं पूरय-
त्यम्भोजाक्षि न लक्षसे त्रिभुवने किं कर्तुमिच्छत्यसौ॥६॥
आस्तां तावदनङ्गकोटिमदहृत्प्रत्यङ्गवार्ता हरेः
संस्थानं किमु वर्णयामि सुषमाधाम त्रिभङ्गस्य यत् ।
मद्दृष्टेर्वपुषो विवेकिमनसो मन्ये गतीनामयं
भङ्गः प्रादुरकारि कोपि विधिना येनाहमेतादृशी ॥ ७ ॥

गीति - सहासभाषणामोदमदान्धमधुपावृतः
न वेणुं पूरयत्येष किन्तु मामधरामृतैः ॥ ८ ॥

झूलणा - अपि च-मामेवाधरसीधुना मुरलिकाव्याजात् प्रियः पूरयं-
श्चेतोपि व्यवधायकं वरतनोर्मा भूदिहेत्यण्वपि ।
यच्चेतो हृतवान् स्वयं निजरसं चापूरयत्तेन मे
तद्भावस्तु सुदुर्निवारतर एवायं करोत्यालि किम् ॥ ९ ॥

केदाररागेण गीयते ।

कथमपि मधुमथनं मया सह मनोभवकोटिरुचिरम् ।
रमय कामरसमप्यारस नय रसिकं सुचिरम् । ध्रुवपदम् ।
कुञ्जे निलीय रचितकुसुमशयनं गतया कथमपि रहसि ।
रतिरभसेन हसन्तमीषल्लज्जितया चारुभावे चेतसि ॥ २ ॥
चाटुकृतावतिचतुरं मृदुतरमतिमन्दहासभाषितया ।

---

१. व्यत्यस्तां हीति पाठः ।

शिथिलीकृतमद्वसनं कुसुमितशयने निवेशितया ॥ ३ ॥
मदुरसि कृतशयनं कृतपरिरम्भणचुम्बनादिकया
कृतमधुराधरपानं रतिरणधीरातिधीरयोत्पुलकम् ॥ ४ ॥
विविधबन्धविशारदमानदं जितपिकध्वनिकूजितया सखि ।
श्रमकणाञ्चितमुग्धमुखाम्बुजं तदधरामृतपानमदश्रिया ॥ ५ ॥

शार्दूलविक्रीडित - अर्धस्रस्तदुकूलमर्धतिलकंस्वेदाङ्कुरार्धश्लथत्-
पुष्पालीरुचिरालिकातिमधुरेणास्येन्दुना मोहनम् ।
रासाधिक्यमदातिवक्ररुचिरभ्रूवल्लिमुद्वल्लवी-
वृन्दापाङ्गवशं सुनिर्वृतिपदं गच्छामि पश्यन्त्यपि ॥१०॥

अनुष्टुप् - कल्पप्रसूनसौरभ्यकालिन्दीकणवित्तवान् ।
सुखयत्यनिलो नापि तद्वारेणेव मन्थरः ॥ ११ ॥

पुष्पिताग्रा - विकचविविधपुष्पपालिरेषा सह शिशिरांशुकरैर्दहत्यमन्दम्।
कथमपि न सुखं करोमि किं वा वद सखि मत्प्रियसङ्गमः
कथं स्यात् ॥ १२ ॥

हरिगीत - क्रीडाम्भोधौ विविधतरुणीविभ्रमापाङ्गवीचि-
सन्दोहान्दोलितनवनवस्नेहपूरार्द्रसर्वः ।
अम्भोजश्रीमदनमदहृत्त्वन्मुखाब्जावलोक-
प्रोद्यल्लज्जास्मिरुचिरयं पूरयत्वाशिषं ते ॥ १३ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचिते शृङ्गाररसमण्डने द्वितीय उल्लासः ॥ २ ॥

तृतीय उल्लासः ।

गीति - मधुसूदनोपि राधामाधाय हृदि स्वकेलिमप्येनाम् ।
विजहौ रसिकशिरोमणिरत्यासक्त्या ह्यधीर इव ॥१॥
साक्षादनुनयकरणे सव्रीडः प्रणयकोपभीरुस्ताम् ।
परितोनुसृत्य [1]कुत्रचिदासीनोऽचिन्तयद्विविधम् ॥ २ ॥

पुष्पिताग्रा - हरि हरि किमभूदिदं नु कुर्यां किमु वानादरकोपश्च राधा ।

---

[1] कृत्यं नाविददत्रातिमुग्ध इवेति पाठः ।

चिरविरहभरेण किं करिष्यत्यहह कथं बत सा भवेत् प्रसन्ना ॥३॥

हरिणी - कुपितकुटिलभ्रूवल्ली सा सुशोणतराधर-
स्फुरणमरुणस्नेहार्द्रार्द्रातिचञ्चलमीक्षणम् ।
रभसचलितस्रंसच्चञ्चद्दुकूलनियन्त्रणं
त्यजति न मनस्तद्वक्त्राम्भोरुहश्रियमाग्रहि ॥ ४ ॥

गीति - कुपितारुणं तदीयं लोचनयुगलं विचारयामि भृशम् ।
कुवलययुगलमिवारुणपरागपूरारुणं चारु ॥ ५ ॥
त्वद्भ्रूचापाहितापाङ्गशरसन्दोहजा व्यथा ।
शाम्येत् त्वदधरास्वादभेषजेनैव नान्यथा ॥ ६ ॥
सुमुखि स्वीयं मत्वा मामिह निजवागमृतपूरैस्त्वम् ।
सिञ्चाद्य करसरसिजस्पर्शेनापाकुरुष्व तापं च ॥ ७ ॥
विना त्वत्करुणावीचीलसल्लावण्यसागरम् ।
न मन्मनोमहामीनो विहर्तुं कुत्रचित् क्षमः ॥ ८ ॥

शिखरिणी - वदत्येवं नाथे प्रणयभरभारातिशिथिले
रसाले कालिन्दीतटनवनिकुञ्जेतिविशदे ।
समासीने राधाप्रियसहचरी काचिदवदन्
निजस्वामिन्यास्तत्प्रचुरतरदुःखं प्रियकृतम् ॥ ९ ॥

कानररागेण गीयते ।

हे सुभग ते विरहे सा सीदति ।
अतिदीना सुकुमारी शीतांशुमपि परिनिन्दति । ध्रुवपदम् ।
त्रिगुणानिलमपि दहनमाकलयति चन्दनमपि विन्दति खेदम् ।
नामैव ते नाथ कथयति कथमपि निजदेहमपि जानाति नेदम् ॥१॥
त्वत्प्राणा जीवतीह त्वल्लीलाविष्टा विचेष्टते ।
त्वत्कूजितानुषङ्गेण गृह्णाति तव नाम सा ॥ २ ॥

हरिणी - चकितनयनं पश्यन्त्यूर्ध्वं निरीहतनुर्नभस् -
त्वदुदितमहाचिन्तामग्रा तिरोहितवाक् चिरम् ।

भुवनदहनत्रासाच्छ्वासं कथञ्चन मुञ्चति
त्वदमिलनदावाग्निज्वालाशिखामिव सुन्दर ॥ १० ॥

गीति - त्वद्विरहमर्ममारणमूर्छामाप्ता कथञ्चनोद्बुद्धा ।
भवति त्वदीयकृपया परं किमस्माकमुपाचारैः ॥ ११ ॥
पाटीरपङ्कमेषा विषमिव शीतांशुसरसिजे चाग्नी ।
कलयति पाशं कण्ठे स्रजमपि हारं महाभारम् ॥ १२ ॥
अधिधरणि लुठति नाथ त्वद्विरहेणातिविह्वला राधा ।
विलपति रोदिति पङ्कजसुकुमाराङ्गी त्वदीयापि ॥ १३ ॥
अतिदीना त्वामेव स्वहृदि पुरस्थं विधाय संनत्वा ।
न प्रार्थयते स्वीयं जीवनमधिकं किमु श्राव्यम् ॥ १४ ॥
निगदत्यनपदमचिरं त्वदीयपादाब्जमेव शरणं मे ।
जीवय वा मारय मां निजाङ्गसङ्गेन विरहेण ॥ १५ ॥
रोमाञ्चति सीत्कुरुते कृशतनुरुत्कम्पते चिरं सुभग ।
ताम्यति मीलति पतति प्रयाति मूर्छत्यतीवार्ता ॥ १६ ॥
एतावत्यतिविषमज्वरे त्वदीयाधरामृतेनैव ।
जीवेत् कृपयसि चेत्त्वं नो चेत् किमहं ब्रुवे दीना ॥ १७ ॥

वसंततिलका - आसारपीडितनिजव्रजरक्षणाय
लीलोद्धृताचलशिरोमणिरार्द्रचित्तः ।
कुर्यान्मनोरथशतं परिपूर्णमेनं
तापं हरत्वचिरतः सखि राधिकायाः ॥ १८ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचिते शृङ्गाररसमण्डने
(श्रीकृष्णचन्द्रं प्रति दूतिकावचनं नाम) तृतीय उल्लासः ॥ ३ ॥

चतुर्थ उल्लासः ।

मालिनी - अहमिह निवसामि स्वामिनीमानयेथा
मदनुनयवचोभिर्मा चिरं याहि राधाम् ।
इति मधुरिपुणा सा सार्द्रचित्तं नियुक्ता

स्वयम[1]तिचतुरेदं प्राह राधामुपेत्य ॥ १ ॥

कल्याणरागेण गीयते ।

नन्दसूनुरिह तव विरहे न राधे सुखयति कथमपि किमपि सम्प्रति ।
तव नामैव विलपति बहुतरमतिविषमं शशिनमपि निन्दति ॥ ध्रुव० ।
यदतिचिन्तनेन त्वदैक्यमाप स तेन त्वदार्तिमपि सकलां प्राप्नोति ।
किमधिकमालि कथयामि सुकुमारोति ॥ १ ॥
त्वत्सम्बुद्धौ हुङ्कृतिमपि कुरुते नन्दसूनुरायातः ।
इत्युक्ते स्वावस्थामनुसन्धत्ते सखि प्रेयान् ॥ २ ॥

वसंततिलका - रूपं तवैतदतिसुन्दरनीलमेघ-
प्रोद्यत्तडिन्मदहरं व्रजभूषणाङ्गि ।
एतत्समानमिति पीतवरं दुकूल-
मूरावुरस्यपि पितवरं दुकूल-
मूरावुरस्यपि बिभर्ति सदा स नाथः ॥ ३ ॥

औपच्छंदसिक - अधराञ्जनदीप्तिभिः सुनासापुटमुक्ताफलभूषणं तवास्य-
सदृशं भवतीति गोपि गुञ्जाफलमुच्चैरुरसि प्रियो
बिभर्ति ॥ ४ ॥

शिखरिणी - किमित्येतातवत्त्वं विषमशरतापं नु सहसे
चल प्राणप्रेष्ठं मिल विरहतापं च शमय ।
तमप्यन्तः सन्तोषय वचनपीयूषनिचयै-
र्मुदा गोविन्दाङ्गे विलस सखि कामं चिरमिह ॥ ५ ॥

मालिनी - अजनि रजनिरेषा सान्द्रमासीत्तमस्तत्
त्यज सुमुखि विलम्बं नीलनीवीं विधेहि ।
प्रतिपदमतियत्नं नूपुरे मूकयन्ती
चल कुरु वलयादीन्यञ्चलेनावृतानि ॥ ६ ॥

द्रुतविलंबित - विविधकोमलपल्लवनीरजस्थलजपुष्पदलैः सुभगः
स्वयम् ।

---

[1] स्वयमपीति पाठः ।

शयनमालि विधाय तवागतिं चकितदृष्टि मुहुर्मुहुरीक्षते ॥७॥

शार्दूलविक्रीडित - शनैर्गत्यायास्यत्यनु नतदृशा द्रक्ष्यति च मां
समालिङ्ग्य प्रीत्या रतमपि विधास्यत्यतिचिरम् ।
इति स्वान्तश्चिन्ताशतवलितभावोपि स मुदा
तदा तत्तद्रूपो भवति तदयं केवलरसः ॥ ८ ॥

गीति - एतादृशो हरिर्यद्यभिसरति त्रिगुणमारूते वहति ।
किमतः परमधिकसुरवं वद त्रिलोक्यां वरीवर्ति ॥ ९ ॥

स्रग्धरा - जानासि स्त्रेहरीतिं तदनु मधुरिपोर्निर्भरस्त्रेहमात्म-
न्यत्यन्तार्द्रार्द्रतां च प्रियतमहृदयस्यासि दूना स्वयं च ।
तत्रागन्तुं तथापि त्वमिह न मनुषे तत्र हेतुं न जाने
मानाम्भोधेरपीत्थं सरसिजनयने सेतुरूल्लङ्घितस्ते ॥ १० ॥

शिरवरिणी - इति श्रुत्वा तस्या वचनमरूणार्द्राञ्चलदृशा
[१]प्रपश्यन्ती दूतीं विरहभरदीनार्द्रकुपिता ।
शनैरर्धस्पष्टाक्षरमवददम्भोयुतदला-
न्युरस्यम्भोजानां प्रियसरिव वहन्ती कथमपि ॥ ११ ॥

किमेवं दूति त्वं वदसि युवतीयूथवलितः
स तु स्वच्छन्दं तद्विलसितवशो हन्त रमते ।
तदस्त्वेवं किन्तु प्रियविरहतप्तं तदधरा-
मृतं शीतं पातुं स्पृशति हि मनः किन्नु करवै ॥ १२ ॥

उपजाति - यदि त्वदुक्तं सरिव सत्यमेव नायाति नाथस्त्वरितं
नु कस्मात् ।
निर्दोषलेषामपि मां यदित्थमुपेक्षते तद्विधिवैपरीत्यम् ॥१३॥

गीति - यस्मिन् स्मृतेपि चन्दनपङ्को विषमास मारूतो दहनः ।
तदपि न जहाति तं प्रियमतिस्वतन्त्रं मनो हन्त ॥ १४ ॥

---

१. समीक्षन्ती

अत्रान्तरे च लक्ष्मव्याजात् कुलटाविलोचनाम्बूनि ।
सन्धारयन् कलानिधिधरूदगादनिलो वियोगाग्नेः ॥१५॥

कुलटाकुलकोपारूणकटाक्षमोक्षैरिवारूणं चन्द्रम् ।
दृष्ट्वा च हरिविलम्बितमनुतापं साऽकरोद्दीना ॥ १६ ॥

पञ्चमरागेण गीयते ।

हा हा कथं हरिर्मां कृपयिष्यति ।
अधरामृतमपि पाययित्वा जीवयिष्यति ॥ ध्रुवपदम् ।
सङ्गाशयापि साधु न जीवितमिह दूतिका मे वृथा वञ्चनमकृत ।
कं नु व्रजामि शरणं माधवं विना नाथ कृपानिधिरसि दीनायै वदनं
दर्शय प्रीतिवृत ॥ १ ॥

शिरवरिणी - परक्लिष्टामेवं सकृदपि हृदा यत् स्मरति ना-
प्ययोगाग्निज्वालाशबलितमनःस्पर्शमपि तत् ।
न जानाति प्रायस्तदिह सरिव साध्वेव समभूत्
सहन्ते न प्राणाः क्षणमपि विलम्बं परममी ॥ १७ ॥

स हि स्त्रीसम्भोगेष्वनुरतमना मन्मथमदो-
ज्झितव्रीडास्ता अप्यतिचतुरमागन्तुमपि न ।
ददत्यन्यत्रेति प्रियतमविलम्बोऽभवदथो
पथि ज्ञातः केनाप्यतिमधुरमूर्तिर्विधिवशात् ॥ १८ ॥

शार्दूल. - गोपस्त्रीनयनाञ्जनं व्रजवधूनेत्राम्बुजान्तर्गता
तारा तत्कुचचूचुकं मरकताकल्पः कुमारीहृदाम् ॥
गोपीबाहुलतातमालविटपी त्वत्सङ्गमाशाचलद्
वल्लीकल्पतरूः करोतु न चिराद्राधे त्वदिष्टं हरिः ॥१९॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचिते शृङ्गाररसमण्डने चतुर्थ उल्लासः ॥ ४ ॥

पञ्चम उल्लासः ॥

शिरवरिणी - अतीतायामित्थं कथमपि निशायामथ हरिं
दरव्रीडानम्रीभवदतिचलेक्षातिरूचिरम् ।

प्रभाते वाक्पेशैरनुनयकृते चातिमधुरं
वदन्तं खिन्नापि प्रणतमपि सासूयमवदत् ॥ १ ॥
गीति - यद्रसपूर्णो माधव बहिरन्तश्चापि वर्तसे नूनम् ।
तद्रसविरूद्धवचनं नोचितमृतभाषिणस्ते हि ॥ २ ॥
साधुरसि यत्स्वकीयं गुणमपि रागं तदीयलोचनयोः ।
दत्वा तन्मालिन्यं स्वयं विभर्षि व्रजाधीश ॥ ३ ॥
अधरगतं दशनपदं प्रथयति रसभङ्गनिश्चयं भवति ।
स्थाने स्थानेऽरूणिमानुरागविरलत्वमावहति ॥ ४ ॥
अनुष्टुप् - अद्यापि निर्भरध्यानप्रकटायास्तवान्तरे ।
बहिरप्याविरास्तेऽस्याः कुचकुङ्कमबिम्बितम् ॥ ५ ॥
भवान् सा सा भवानासीदिति तस्याः सुरञ्जनम् ।
वसनं वहति श्याम मदपेक्षा तदा कुतः ॥ ६ ॥
गीति - यस्तस्यामनुरागः स एव नेत्रारविन्दयोः प्रकटः ।
आसीज्जागरजनितस्तद्रोपनमत्र तेऽशक्यम् ॥ ७ ॥
मन्येऽहं माधव तव लोचनतारान्तरापि सैवास्ते ।
यदिह निमीलयसि मुहुर्गोपयितुं तां मदग्रे ते ॥ ८ ॥
का मम शङ्का वीरस्मररणजयलेखमावहस्युरसि ।
सापि प्रमदा नूनं लोकातीता ददौ यदिमम् ॥ ९ ॥
अनुष्टुप् - तस्या नखाङ्को नैवायं किन्तु त्वद्धृदयान्तरे ।
प्रवेष्टुं रचितं द्वारं तयैवाग्रिमशङ्कया ॥ १० ॥
त्वय्यतिप्रणता सास्ते वीर[1] यत्कुचकुङ्कमम् ।
त्वत्पादतलमायातं तदलं गोपनैस्तव ॥ ११ ॥
गीति - हृदयानुरूपमेव व्रजेश शीघ्रं विधेहि तामेव ।
अनुसर सरसिजलोचन या कामं तेऽकरोत् पूर्णम् ॥ १२ ॥
अवधीकृता निशा ते स्वागमनेऽद्यापि सा न जातेह ।

---

[1] वीक्ष्येति पाठः ।

अतिसाधुरसि किशोर प्रभात एवागतो यत्त्वम् ॥ १३ ॥
एतादृश्यामपि मयि यदि त्वत्कृतिरीदृशी ।
तदा वदामि किं नाथ किं वा भावि न वेद्मि तत् ॥ १४ ॥
ईषन्मुकुलितनयनं जृम्भन् राधाभयेन रत्यङ्कान् ।
सङ्गोपयन्नुदारः शमयत्वाधिं सरोजाक्ष्याः ॥ १५ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचिते शृङ्गाररसमण्डने पञ्चम उल्लासः ॥

षष्ठ उल्लासः ।

गीति - अथ तां विषादमूकां स्मरशरखिन्नां स्वरूपमाचरितम् ।
ध्यायन्ती स्वहृदि हरेः शनैरवोचत् सखी चतुरा ॥ १ ॥
शृणु सखि वचनमिदं मम मा कुरू मानं त्वमुन्मुखे
तस्मिन् ।
प्राणप्रियेऽनुरागिणि न ह्युचितं जातु मुग्धाक्षि ॥ २ ॥
वसंततिलका - मन्दानिले वहति माधव एष राधे
प्राप्तोभिसारपदवीं यदि काननेस्मिन् ।
लोकत्रये किमपरं सुखमस्ति तत्त्वं
जानास्यहं किमु वदामि तथापि तेस्मि ॥ ३ ॥
अनुष्टुप् - राधे त्वद्भाग्यमहिमा न वेदविषयोप्ययम् ।
यन्माधवस्त्रिलोकस्त्रीमृग्यस्त्वयि रतस्तराम् ॥ ४ ॥
गीति - किमिति विषीदसि मुग्धे मधुसूदनमाशु मिल मनस्तापम्।
मुञ्च विलोचनयुगलं सफलय तद्दर्शनेनाद्य ॥ ५ ॥
कतिधा कथितमिदं ते मा परिहर माधवं जातु ।
सागस्केपि प्रणयिनि हृदयस्याशक्यवृत्तित्वात् ॥ ६ ॥
कुचकुङ्कमपङ्क सखि लोचननीरेण सिञ्च मा यदयम् ।
प्रकटोनुराग एव प्रियतमविषयो हि नो दहनः ॥ ७ ॥
हरिरतिकोमलचित्तः सोढुमशक्तस्त्वदीयमानमपि ।
तदिहायात्वतिमधुरं वदतूदारो हरत्वार्तिम् ॥ ८ ॥

वसंततिलका - अत्रान्तरे प्रणयकोपभरस्मराधि-
निश्वासचञ्चदधरां शिथिलाभिमानाम् ।
राधानुरागभरसार्द्रहृदा स चाटु
सानन्दमिन्दुवदनीं निजगाद नाथः ॥ ९ ॥

कल्याणरागेण गीयते ।

सरसिजनयने मानं त्यज ।
मयि न तवोचितमसमशरे परिधावति । ध्रुवपदम् ।
निजाधरसुधया तापं मनसिजरचितं दूरीकुरू ।
निजवाचा सुखं तनु ॥ १ ॥

गीति - कुचकुम्भपरीरम्भारम्भसम्भावनैव ते ।
सुखयत्वालि मामेवंभूते किं नु विलम्बसे ॥ १० ॥
लोचनकुवलययुगलं तव नवराकाकलानिधिः किरणैः ।
रञ्जयतु तत्प्रभाप्रतिबिम्बात साङ्को भवत्वद्य ॥ ११ ॥
रतिपतिमङ्गलकलशे नवपल्लवपङ्क्तिरूल्लसत्वालि ।
तत्स्थितरसप्रकाशकमर्धं शशिबिम्बमाबिभृहि ॥ १२ ॥
यदि मयि कोपिन्येवं प्रणयिन्यसि चारूविविधबन्धांस्त्वम् ।
रदखण्डननखरशरान् घटय मुदाहं त्वदीयोस्मि ॥ १३ ॥
त्वद्भ्रूचापाहितौ नेत्रबाणौ कुसुमधन्वनः ।
अलक्ष्यौ किं नु कुरूषे मुग्धे मयि पुरः सति ॥ १४ ॥

अनुष्टुप् - सर्वांशेन सखि त्वं सख्यावयोरस्ति किं न वा ।
परिमाणेन धर्मैश्च तन्निर्धारय तत्त्वतः ॥ १५ ॥

शिखरिणी - परीरम्भाम्भोभिस्तव वचनमन्त्रैस्त्वदधरा-
मृतेन त्वन्नेत्राम्बुजमिलनतश्चापि सुमुखि ।
शमं प्राप्स्यत्येषः स्मरगरलतापः कथमपि
प्रयोगैर्नान्यैस्तत्त्यज सखि विलम्बं प्रियतमे ॥ १६ ॥
त्वयैवक्रान्तोस्मिन्मम हृदयदेशे न हि परः

समाक्रान्तुं शक्तस्तरूणि परमं दैवमसि यत् ।
अतो हित्वा शङ्कां मयि कुरू सरोजाक्षि विपुलं
प्रसादं मौनं च त्यज विमुखतां च व्रज मुदम् ॥ १७ ॥

गीति - दूरगगवां हरिः स्वप्रीत्या नवनीरदार्द्रया वाण्या ।
उद्धृतबाह्वाह्वानं कुर्वन् राधाप्रियं तनुतात् ॥ १८ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचिते शृङ्गाररसमण्डने षष्ठः उल्लासः ।

सप्तम उल्लासः ।

इत्थं प्रियामनुनयेन चिरं कथञ्चित्
राधावरे स्मितमुखीं सखि मानयित्वा ।
वेशं विधाय च लतागृहपुष्पशय्यां
प्राप्ते त्रपास्मितदृशीमवदत् सखी ताम् ॥ १ ॥

अनुष्टुप् - राधे त्वत्सदृशी लोकत्रये का नु नितम्बिनी ।
इत्थंभूतो हरिर्यस्यां तदलङ्कारमातनु ॥ २ ॥

गीति - इत्युक्त्वा सुमुखीमतिमुदिता पाटीरमृगमदागरूभिः ।
कर्पूरागरूसारैरकरोदुद्वर्तनं साऽस्याः ॥ ३ ॥

अनुष्टुप् - ततः केवलकाश्मीरपङ्केनोद्वर्तनं सखि ।
सर्वाङ्गे सहजामोदमोहने सुदृशोऽकरोत् ॥ ४ ॥

वसंततिलका - तस्यास्ततः कनकपट्टमयप्रसून-
गुच्छोल्लसत्तनुतरामलपीतदाम्ना ।
सानन्दतः कटितटे प्रकटार्धनाभि-
नीवीं बबन्ध वररञ्जनमोहनाङ्गी ॥ ५ ॥

गीति - माध्यमिकत्वान्मन्ये शून्यालम्बीह मध्यविज्ञानम् ।
स्वाधारं कुचकुम्भावनुमापयतः परं सत्त्वम् ॥ ६ ॥
विद्युति नीलो जलदस्तदुपरि तडितः स्थिरा यदि स्युरहो।
विविधाकल्पयुतायाः कञ्चुक्याः स्यात्तदा साम्यम् ॥७॥
परिधाप्यासितकञ्चुकमाकल्पांश्चात्र सहचरी चतुरा ।

तस्यै भावि द्विविधं रतमेव वरोरू सूचयति ॥ ८ ॥
सितपीतयूथिकानवमालत्यादि प्रसूननिकरैः सा ।
उद्ग्रथ्य चारूवेणीं मुक्तागुच्छान्यरचयत् प्रान्ते ॥ ९ ॥
मृगमदतिलकं विधाय तिर्यङ्मणिजटितामलमुक्तिकायुतं च।
तदुपरि विदधे ततश्च पुष्पाण्यलकशते विरलान्यकुर्वतास्याः १०
भ्रमरचये कमलारूणपरागरेखा यदि भवेत्तस्याम् ।
मकरन्दबिन्दवश्च स्यात् सीमन्ते तदा साम्यम् ॥ ११ ॥
शार्दूल. – न मुक्ताश्रेणीयं सुरसरिदये किं नु यमुना ।
न केशाः सिन्दूरं नहि सखि सरस्वत्यनुगता ।
तदेवं वेणीति स्मरविरचितं कामितफल-
प्रदानं तीर्थं माधवमुनिवरस्यैव मिलनात् ॥ १२ ॥
गीति – कनकमणिजटितविविधाभरणातिमनोज्ञकर्णयोरूपरि ।
अरूणे चकार कुसुमे मनोजबाणाविवाकृष्टौ ॥ १३ ॥
सततं नन्दकुमारस्वरूपचरितामृतश्रुतावनयोः ।
यो निर्भरोनुरागः प्रकटः सोऽयं न पुष्पयुगम् ॥ १४ ॥
मुद्रिकादिविविधाभरणानि प्रेयसीभुजयुगे परिधाप्य ।
अञ्जनं सखि चकार मृगाक्ष्या लोचनाम्बुजयुगे तनुरेखम् १५
कुवलयबाणावेतौ रतिपतिराज्ञो यदग्रतः कुटिलौ ।
विधिना रचितौ तत्सखि विद्धौ न बहिः समायातः ॥ १६ ॥
गीति – दलिताञ्जननीलः श्रीकृष्णः परमे तदीयदृशोः ।
विषय इति ज्ञापयति प्रियसखि परितोञ्जनं तस्याः ॥ १७ ॥
हरिगीत – आधिक्यान्नयनारविन्दगरसो मा यात्विति प्रेयसी
यत्नेनाञ्जनसेतुमत्र विदधे सम्प्रत्यभूद्विभ्रमः ॥
एतेनैव सरित्सहस्रमखिलास्वाशास्वयेऽचालत्

तद्युक्तं कुटिलस्य हि प्रियसखि स्वाभाविकोयं गुणः ॥१८॥
गीति – अञ्जनरञ्जितनयनं खञ्जनमेनं जयत्यये यदिदम् ।
स्थिरमपि सदा हरेर्हृदि तरलतरत्वं बिभर्त्येव ॥ १९ ॥
राधाकृपया यद्यपि वर्णयितुं शक्तिरस्ति मे तदपि ।
नो वर्णयामि सङ्गमकथाविलम्बोऽप्यसह्यो यत् ॥ २० ॥
अनुष्टुप् – अशेषभूषणं तस्या विधाय सुमनस्स्रजम् ।
कण्ठे चकार पाटीरकुङ्कुमादिविचित्रिताम् ॥ २१ ॥
तन्वङ्गमुत्तरीयं सा परिधाप्य सुरञ्जनम् ।
ददौ कर्पूरकस्तूरीयुतं ताम्बूलमुत्तमम् ॥ २२ ॥
शिखरिणी – ततश्चादर्शान्तः प्रतिफलितमेषा निरूपमं
स्वरूपं दृष्ट्वातिप्रमुदितमना व्रीडितदृशा ।
कपोले किञ्चित्स्वाञ्चलमनुचकारातिरूचिरे
स्मितस्मेरां काचित् सहचरि तदा तां समवदत् ॥ २३ ॥
मालवगौडीरागाभ्यां गीयते ।
राधिके सरसिजनयने, अनुसर मधुमथनम् । ध्रुवपदम् ।
सुमुखि तवानुनये कृतबहुतरयत्नं ।
सम्प्रति कुञ्जगतं व्रजरत्नम् ॥ १ ॥
घननिभहरिमिलने सफलय निजरूपं ।
सुन्दरि राधे विद्युल्लतासरूपम् ॥ २ ॥
गीति – त्वदनुगुणो मन्दोयं प्रेरयति प्रेष्ठसङ्गमे पवनः ।
शिक्षयति चातिमन्दं चरणन्यासं घने तमसि ॥ २४ ॥
अयमभिसारयोग्यः समय इति ज्ञापनाय पिकदूतः ।
त्वामाह्वयति कुशल सखि कुहूकुहूरित्युदारतरम् ॥ २५ ॥
युवजनहृदयविदारणकुसुमेषु विमुक्तकुवलयेषूणाम् ।
सन्ततिरलौकिकानां तम इत्यमिधीयते सुमुखि ॥ २६ ॥
चन्द्राभिसारिकाशावनितानेत्रार्थमञ्जनं रात्र्या ।

यद्रचितं वृन्दावनपात्रे स्थूले[1] सदुल्लसति ॥ २७ ॥
ज्ञातं निखिलसखीभिस्तवाङ्गमेतन्मनोजसमराय ।
उद्युक्तमित्यलज्जं तदभिसरारातिसरसहृदा ॥ २८ ॥
नूपुररशनानिःस्वनडिण्डिममुपयाहि माधवं राधे ।
ईषत्कुञ्चितकुटिलाञ्चलेन नयनेषुणा जय तम् ॥ २९ ॥
स्वागता - कुञ्चिताधरमुदञ्चितदृष्टि त्वां त्रपार्धनतसस्मिदृष्टिम् ।
कामभावचपलः सखि चुम्बत्वच्युतः सचिबुकग्रहमुच्चैः ॥३०॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचिते शृङ्गाररसमण्डने सप्तम उल्लासः ।

अष्टमः उल्लासः ।

गीति - काञ्चनकाञ्चीदामश्रवणाभरणांशुदीप्तकुञ्जस्य ।
द्वारे दृष्ट्वा नाथं सव्रीडां तां सखी प्राह ॥ १ ॥
ललित - प्रविश राधिके माधवान्तिकं मदनभूपते राजमन्दिरे ।
विलस राजिते विश्वगुल्लसत्कुसुमपल्लवैः कोकिलस्वने ॥२॥
गीति - मन्थरविपुलतडिन्निभघनजघने विविधकुसुमचयरचिते ।
शयने विलस चिरं शुचितरे नितम्बिन्युदारतरे ॥ ३ ॥
पिककलकूजितमुखरे सुखय [2]हरिं सालिकमलनिभनेत्रम् ।
विकसितसरसिजनयने प्रकटय गूढं रसं राधे ॥ ४ ॥
चिरचिन्तनसम्प्राप्तत्वदैक्ये को नु सम्भ्रमः ।
इन्दीवराक्षि कन्दर्पसुन्दरे नन्दनन्दने ॥ ५ ॥
प्रकटस्त्वद्भावोयं रसशतवलितः सरोजमुग्धाक्षि ।
श्रीकृष्णाख्यस्तमिह स्वस्थानगतं कुरुष्वाद्य ॥ ६ ॥
हरिगीत - ततः साकूतार्धप्रणतविपुलानन्दसहज-
स्मितस्मेरापाङ्गेक्षणमुदितमञ्जीरनिनदम् ।
विवेशानन्दार्द्रोत्पुलकितशरीरस्य सदनं
हरेर्विश्वड्मोदप्रसरमुदितालिध्वनियुतम् ॥ ७ ॥

---

[1] पांशूस्थले न तदुल्लसतीति पाठः । [2] हरिमालि इति पाठः ।

अनुष्टुप् - उद्वेलानन्दजलधितरङ्गपुलकोन्नतम् ।
राधैकतानहृदयं सा ददर्शालि माधवम् ॥ ८ ॥
गीति - अहमहमिकया राधासमा[1]गमेभ्युत्थितैरिवाङ्गरूहैः ।
प्रीत्या प्रथमागमने परिरब्धुमिवोत्सुकै रूचिरम् ॥ ९ ॥
राधेक्षणसुधावर्षप्रोद्यद्भावाङ्कुरैरिव ।
रोमभी रसधाराभिरिव राधान्तरोन्मुखैः ॥ १० ॥
प्रत्यङ्गान्तःस्थितप्रेष्ठा बहिरागमने सखि ।
वर्त्मसन्दर्शनायाङ्गरूहैरग्रेसरैरिव ॥ ११ ॥
सकुसुमकेशं राधा मञ्जीरनिनादसिद्धकलमन्त्रैः ।
अन्तर्गर्भितकुसुमस्तवकमिव स्मरतरूं सद्यः ॥ १२ ॥
राधाननराकेशप्रवृद्धसुषमाम्बुराशिमप्यल्पम् ।
मन्ये ते दृङ्मीनावुच्छालयतो यदम्ब्वग्रात् ॥ १३ ॥
वसंततिलका - राधागुणामृतसरोवरकर्णयुग्मात्
तद्दृष्टिवृष्टिभरतो बहिरागतौ तत् ।
त्यक्तुं च कुण्डलझषावसमर्थचित्ता-
वालम्ब्य सुन्दरि सपद्यपि तिष्ठतस्ते ॥ १४ ॥
रूचिराछंद - बहिर्दृष्ट्वा रूपामृतरससरस्तद्गुणसरो
हृदि स्मृत्वा चात्रागमनविषये संशयवशात् ।
चलावप्याधिक्यं श्रवणसरसि स्नेहशबला-
शयौ मन्वानौ तौ शशिमुखि न तज्जातु जहतः ॥ १५ ॥
गीति - राधागुणैः सहाविष्टे माधवान्तर्हृदि स्मरे ।
तत्र गन्तुमशक्तोयं केतुः कर्णेवलम्बितः ॥ १६ ॥
विविधलतागृहकुसुमप्रतिबिम्बमनोज(ज्ञ)चारूसर्वाङ्गम् ।
राधेक्षातिप्रकटितविचित्रकन्दर्पभावमिव (सहसा) ॥ १७ ॥
गौरांशुकेन निर्भरराधाङ्गालिङ्गनाशयैव वृतम् ।

---

[1] समभावे इति पाठः ।

किमधिकमालि प्रकटं रससर्वस्वं निजप्रणयम् ॥ १८ ॥
साकूतं पश्यन्त्याः प्रियवदनेन्दुं सखीजनस्तस्याः ॥
आदायेव व्रीडां सस्मितमागाद्बहिर्गेहात् ॥ १९ ॥
चिरसञ्चितभाग्यैर्निजपतिपरिरम्भेत्र राधायाः ।
अचिरेण चान्तरायान् हरिर्विहन्यान्नखशराजेयः ॥ २० ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचिते शृङ्गाररसमण्डने अष्टम उल्लासः ॥

नवम उल्लासः ।

अनुष्टुप् – निर्भरस्मरभावाब्धितरङ्गोत्क्षिप्तलज्जिताम् ।
तल्पार्पितस्मेरदृष्टिं राधिकां प्राह माधवः ॥ १ ॥
गीति – विततप्रसूनभूमौ कामिनि विविधत्वदीक्षणाम्बुरुहैः ।
रचिते शयने शमय प्रेमार्द्रैर्मनोजाग्निम् ॥ २ ॥
हरिगीत – मृदुत्वसुषमादिभिस्तव पदाम्बुजेनाखिल-
प्रसूननिचयो जितः कलमरालगामिन्ययम् ।
सपद्यनुभवत्वये सखि पराभवं त्वत्पदा-
म्बुजद्वयनिवेशनात् कुसुमकेलितल्पोत्तमे ॥ ३ ॥
अनुष्टुप् – विचित्रभावदलहृत्कमलेन विनिर्मिते ।
शयने विलस प्राणप्रिये त्वत्सङ्गशीतले ॥ ४ ॥
गीति – मदुरसि निजकुचकलशं निवेश्य राधे विषादमपि शमय।
मुखरय रशनां रचय प्रियसखि वचनं तदेकरसम् ॥५॥
चिरसञ्चितसुकृतैस्त्वं शान्तोग्रमहत्तपोभिराचरितैः ।
प्राप्तास्यन्यदुरापा मया त्वदाशावलम्बेन ॥ ६ ॥
सोहं त्वदीय एव त्वमपि मदीयैव संशयो नात्र ।
यत्त्वत्कृतेहमासं प्रकटस्त्वं मत्कृते राधे ॥ ७ ॥
क्षणमपि तिष्ठन्त्यां त्वयि कुचकलशरसस्तदपि नो सहते।
यत्तद्भरेण रोमाण्यपि बहिरासन्मुदा सङ्गे ॥ ८ ॥
रसमयमङ्गमुदारं माञ्चलपिहितं कुरुष्व मुग्धाक्षि ।

कनकाचलः परागाच्छन्नो न हि जायते जातु ॥ ९ ॥
अधरामृतेन मेऽन्तःस्पर्शेन बहिश्च सरसतां सद्यः ।
सम्पादय चिरसञ्चितकामं पूर्णं कुरुष्व निजम् ॥ १० ॥
शार्दुळ – गाढालिङ्गनचारुचुम्बनमिलद्दन्ताग्रदंशस्फुरत्-
सीत्काराधरसीधुपाननखरोल्लेखार्द्रोमाञ्चितैः ।
तत्तत्सौरतबन्धकेलिरभसोदारस्मितोत्कूजितै-
र्भावावेदकलोचनाञ्चलदृशा चारीरमत्तां हरिः ॥ ११ ॥
गीति – रतिरसतत्त्वज्ञानादुभयोरन्योन्यभावतादात्म्ये ।
युक्तः पुम्भावोऽस्या रतिश्रुतीनां चिरश्रवणात् ॥ १२ ॥
रतिरणधीरा राधा यन्मधुभिदनङ्गकरजशरपातैः ।
पुलकाञ्चितैव मोदं भजते सीत्कारजयनादैः ॥ १३ ॥
इंद्रवज्रा – अन्योन्यतादात्म्यवतोस्तयोर्यद्रसातिरेकात् सुनिसर्गकाले ।
अन्योन्यतादात्म्यमतः पुनः स्वं भावं रसज्ञौ भजतो मृगाक्षि ॥१४॥
गीति – मिलने मिथो मुदा सखि माधवराधारसोदध्योः ।
स्वेदविलासतरङ्गोत्क्षिप्तकणा रेजिरे तदङ्गेषु ॥ १५ ॥
माधवदृगञ्चलैकेक्षणरसजलधावपि प्रिया मग्ना ।
तत्परिरम्भरसाब्धावपि मज्जत्येतदाश्चर्यम् ॥ १६ ॥
समुद्रत्वोपचारो हि गोपीनाथरसेष्वयम् ।
तेषामवधिमत्त्वेन तद्राहित्यादिह प्रिये ॥ १७ ॥
निरवधि निजरसपूर्णावन्योन्यरसैश्च पूरितौ प्रेष्ठौ ।
कीदृक्सुखमनुभवतस्तन्नो जानेऽतिवैचित्र्यात् ॥ १८ ॥
इत्थं रमयति रमणे राधा स्वाधीनभर्तृका नाथम् ।
निजमण्डनरचनाय प्रोवाचानन्दिता मधुरम् ॥ १९ ॥
मानद मण्डनमखिलं रचय कचेषु प्रभिन्नकु[१]सुमेषु ।
रतिगलितेषु मनोहरमलयजकस्तूरिकाखाः ॥ २० ॥

---

[१] कुसुमानीति पाठः ।

मृगमदतिलकं ललितं विधाय मुक्ताफलमयं बिन्दुम् ।
कुरू सतडिद्घन इव नवसुधानिधानं सरोजाक्षि ॥ २१ ॥
त्वत्परिरम्भरसामृतभरितं कुचकलशमलसद्युचिरम् ।
मृगमदपत्रविचित्रं कुरू निजकरपद्मविश्रामम् ॥ २२ ॥
विविधाभरणमनोज्ञश्रवणयुगे चारूकुण्डले कृत्वा ।
तनुतरविकचेन्दीवरकुसुमे कुरू तत्र मुग्धाक्ष ॥ २३ ॥

वसंततिलका– त्वच्चुम्बनारूणकपोलतले मदीये
कन्दर्पगर्वहर तत्प्रतिबिम्बितेन ।
वक्त्रेन्दुरङ्कसुषमामयमावहत्व-
प्यत्यन्तनिर्मलतनुर्विकचाम्बुजाक्ष ॥ २४ ॥
त्वच्चुम्बनामृतसरोवरमज्जनेन
म्लिष्टाङ्गरागामिव लोचनभृङ्गयुग्मम् ।
आघूर्णमुज्ज्वलय साञ्जनरेखमात्म-
रूपामृताप्लुतमिवाङ्ग कुरूष्व नाथ ॥ २५ ॥

अनुष्टुप् – स्वपीतवसनेनाङ्ग नीवीं रचय सुन्दरे ।
नितम्बे शम्बराराातिजयनिस्वनमेखलाम् ॥ २६ ॥

गीति – कलसिञ्जितजितरतिपतिमञ्जीरयुगं च चरणयोः कृत्वा ।
रचयानल्पाकल्पाङ्गुलीष्वलक्तेन चित्राणि ॥ २७ ॥

वसंततिलका – प्राणप्रियानिगदितः सुमुखीत्थमङ्ग-
स्तन्मण्डनं व्यरचयन्मनसोऽप्यगम्यम् ।
मन्येऽहमालि विविधं निजभावपूगं
राधावशः स कृतवानिह तत्र तत्र ॥ २८ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचिते शृङ्गाररसमण्डने नवम उल्लासः ॥

दशम उल्लासः ।

शिखरिणी – इयं राधादेवी चिरमिह निजोपासनवशा-
दतिप्रीता दत्वा सुमुखि रससर्वस्वमखिलम् ।

स्वरूपं च श्रीमाधवमुनिवरे कण्ठनिहित-
प्रकोष्ठा स्वं सम्पादयितुमवदत्तद्वशगता ॥ १ ॥

अनुष्टुप् – त्वच्छृङ्गारं विरचयाम्यहं पुरूषभूषण ।
मुग्धाक्षि निजवेशं मे सम्पादय चिरेप्सितम् ॥ २ ॥

शार्दूलविक्रीडित– इत्युक्ता विविधप्रसूननिचयैरुद्ग्रथ्य वेणीं श्रुति-
द्वन्द्वे चम्पकपुष्पकुण्डलयुगं कृत्वा कपोलद्वये ।
चित्रं कुङ्कमतो विधाय तिलकं तिर्यग्द्विरेखं विभोः
पाटीरेण सकुङ्कमेन विदधे तस्मिन् स्वमुक्तामयम् ॥३॥

गीति – प्राग्रचिते सीमन्ते मुक्ताहारं विधाय तस्यादौ ।
हीरकहाटकजटितं भूषणमकरोत् कचाक्रान्तम् ॥ ४ ॥

वसंततिलका – दत्वाञ्जनं नयनयोरतिचारूसूक्ष्मरेखं कुरङ्गनयना
निजभभूषणानि ।
कण्ठे चकार सहजस्मितचारूवक्त्रचन्द्रस्य चन्दनकु
रङ्गमदादियुक्ते ॥ ५ ॥

अनुष्टुप् – प्राणप्रियापाणिपद्मस्पर्शोत्पुलकितोन्नते ।
उरस्युदारे काश्मीरचित्रं व्यरचयद्वधूः ॥ ६ ॥

गीति – एकां रेखामपि यत्कृत्वा तज्जातशोभया राधा ।
विस्मितमना द्वितीयां करोति तद्विस्मयोऽस्माकम् ॥७॥
निजनीवीमुपरि रणद्रशनां परिधाप्य चात्मभुजभूषाः ।
बाह्वोः कृत्वा तदुरस्यञ्चलमकरोद्विचित्रं सा ॥ ८ ॥
निजमञ्जीरमनोहरचरणाङ्गुलिपल्लवेषु वरभूषाः ।
कृत्वा स्वकुङ्कमश्रीष्वलक्तचित्रं न सा चक्रे ॥ ९ ॥
इत्थं त्रिभुवनसुन्दरगोविन्दगोपसुन्दरीवेषे ।
रचिते सहजमिवाभाति तद्युक्तं तस्य हि प्रेष्ठे ॥ १० ॥

वसंततिलका – दृष्ट्वैकमङ्गमपि पूर्वविलक्षणं सा राधा सुविस्मृततद
न्यरसा तदासीत् ।

राधाकपोलमुकुरप्रतिविम्बितं स्वं रूपं विलोक्य
हरिरप्यतिहर्षितोऽभूत् ।
अनुष्टुप् । - स्वरूपान्तर्निविष्टां तां चुचुम्ब स कचग्रहम् ।
तत्क्षणोद्भिन्नपुलके कपोले कामभावितः ॥ १२ ॥
गीति - जागरितेव तदेषत्त्रपास्मितस्मेरवीक्षणावक्त्रम् ।
पश्यन्त्यतिमुदिता नवनिर्भररागाऽवदद्राधा ॥ १३ ॥
किं वर्णयामि माधव तव स्वरूपं न वाङ्मनोगम्यम् ।
प्रत्यङ्गं सुषमाम्बुधिसहस्त्रमुद्वेलमास्ते यत् ॥ १४ ॥
झूळणां - नेन्दुर्मत्कुचकोकयोगकरणान्मल्लोचनेन्दीवरा-
नन्दान्नैव रविर्न पङ्कजवरं मद्वक्त्रचन्द्रोत्सवात् ।
एवं त्वद्वदनं कवीशवचसां नो गोचरः किन्तु मद्भाग्यं
यच्चिरसञ्चितं प्रकटितं सत्यं तदेतत्प्रिय ॥१५॥
शिखरिणी - विधुर्वा मन्नेत्रोत्पलवरविकासेन निजवाङ्-
मधुस्यन्देनाऽथो सरसिजवरं नाथवदनम् ।
न जाने लावण्यामृतरससरः किन्तु नयना-
म्बुजप्रादुर्भावादरविलसरूपं किमपि वा ॥ १६ ॥
गीति - सुन्दरयुवतीवदनं वदाम्यहो पुरूषभूषणस्याथ ।
उभयं प्रमाणसत्त्वादुररीकार्यं हि गोपीनाम् ॥ १७ ॥
प्रतिजानेऽहं प्रियं[1] मम हृदयं प्रकटं तवाननं नान्यत् ।
सहजत्वमितरथा मम वेषस्य कथं भवेद्भवति ॥१८॥
त्वं यद्यनया रीत्या त्रिभङ्गिरूपेण वेणुकलगानम् ।
कर्ता तदैव पुंसामपि युवतीभावमुद्वेलम् ॥ १९ ॥
यद्यपि युवतीवेशस्तथाप्यपाङ्गस्तवात्यमर्यादः ।
विहितस्मरशरलीलो हन्ति विवेकत्रपाधैर्यम् ॥ २० ॥
इति राधावचनसुधाधारोदजमन्दभावसुस्मेरः ।

---

[1] प्रियतम तवाननं नान्यविषयं हीति पाठः ।

उद्भटभावाधीरां गाढं तामलिलिङ्गायम् ॥ २१ ॥
सा रेमे सुचिरं सखि माधवमधरासवप्रमदा ।
रतिरसितौ तौ किद्दकसुखमनुभवतस्तदा न तज्जाने ॥ २२ ॥
खिरिणी - ततो मुक्त्वा नीवीं तदनुगुणभूषामपि तनु-
त्तरीयं प्रेष्ठायाः सुमुखिव परिधाय प्रियतमाम् ।
विहारान् श्रीकृष्णः कुचविलुलितस्त्रक्प्रियतमा-
भुजाश्लिष्टो मत्तद्विरद इव चक्रे निजवने ॥ २३ ॥
शिखरिणी - क्वचित् क्रीडां पुष्पापचयमपि च क्वापि शयनम्
स्त्रजां निर्माणं क्वाप्यधमधुपानं क्वचिदपि ।
क्वचिद्गानं प्रेष्ठांसनिहितभुजः सूर्यतनया-
तटे कुर्वन् कृष्णः स्खलितगतिरेनां सुखयति ॥ २४ ॥
हरिगीत - अहं त्वस्या दास्यात् त्रिजगति न निश्रेयसमपि
प्रमाणत्वेनान्यत्कथमपि विशङ्के सहचरि ।
कथा का वै तस्यास्तदिह हि यदस्मासु फलितं
तदेतासामेव स्वकृतपरमानुग्रहवशात् ॥ २५ ॥
गीति - इदमेव मे सदा सख्याशास्यं नन्दनन्दनो राधाम् ।
सुखयत्वनिशं सास्मास्वनुग्रह च प्रिया कुर्यात् ॥ २६ ॥
शिखरिणी - इति श्रीमद्गोपीजनचरणपङ्केरुहयुगा-
नुगाभिस्तत्प्रेमामृतजलधिमग्नाभिरनिशम् ।
बभूवेदं पूर्णं स्मितजितसुधाभिर्विरचितं
निकुञ्जे शृङ्गाराभिधरसवरे मण्डनमिदम् ॥ २७ ॥
गीति - यस्मात्सहायभूतौ दामोदरदासहरिवंशौ ।
श्रीविठ्ठलरचितमिदं तदभूच्छृङ्गारमण्डनं पूर्णम् ॥ २८ ॥
उपजाति - श्रीकृष्णदेवप्रियरामदासादिषु (भिः?) प्रकुर्वत्सु मुकुन्दसेवाम्।
गोवर्धनेशस्य सदा मदीयसर्वस्वरूपस्य कृतं मयेदम् ॥२९॥

इति श्रीमद्गोपीजनवल्लभचरणैकतानश्रीविठ्ठेश्वरविरचिते
शृङ्गाररसमण्डने दशम उल्लासः सम्पूर्णः ॥

श्रीकृष्णाय नमः
श्रीमद्विट्ठलेश्वरप्रभुचरणविरचितः

भक्तिहेतुनिर्णयः

श्रीकृष्णाय नमः
श्रीमद्विट्ठलेश्वरप्रभुचरणविरचितः

भक्तिहेतुनिर्णयः

ब्रह्मादिदुर्लभकथं राधामानापनोदकं कृष्णम् ।
तदनुग्रहैकलभ्यां भक्तिञ्च नुमस्तदीयांश्च ॥ १ ॥

ननु इदम् अनेकप्रमाणविसंवादी इव भाति यद् अनुग्रहेतरसाधनासाध्यत्वं भक्तौ । तथा हि एकादशस्कन्धे एकोनविंशे, 'श्रद्धाऽमृतकथायां मे' (भाग० ११/१९/२३) इत्युपक्रम्य, 'इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः ॥' (भाग० ११/१९/२३) 'एवं धर्मैः मनुष्याणाम् उद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥' (भाग० ११/१९/२४) इत्यत्र भगवद्धर्माणां यागदानादेश्च भक्तिहेतुत्वं श्रूयते । तत्र एव पूजाप्रकारम् उक्त्वा, 'भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्' (भाग०११/२७/५३) इति भगवता उक्तम् । दशमस्कन्धे सप्तचत्वारिंशे च, 'दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः । श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते' ॥' (भाग० १०/४७/२४) इति उद्धववाक्ये दानादेः तथात्वम् उच्यते । 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः । नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते ॥' इत्यत्र पापाभावस्य अपि तथात्वम् उच्यते । एकादशे एव, 'यथाऽनुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नुणां भवेत् । स्वधर्मेणारविन्दाक्ष ! तन्ममाख्यातुमर्हसि' ॥' (भाग० ११/१७/२) इति प्रश्ने, वर्णाश्रमधर्मान् निरूप्य, 'इति मां यः स्वधर्मेण भजेन्नित्यमनन्यभाक् । सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं लभतेऽचिराद् ॥' (भाग० ११/१८/४४) इत्युपसंहारात्, पूर्वोक्तधमोणां भक्तिहेतुत्वं निश्चीयते ।

न च, 'भक्त्युत्पत्तौ स्वरूपयोग्यता-सम्पादकत्वेन धर्मेषु तद्धेतुत्वम् उपचर्यते' इति वाच्यम्, जीवत्वेन एव तत्र स्वरूप- योग्यत्वात् सर्वेपाम्, 'देवोऽसुरो मनुष्यो वा' (भाग० ७/७/५०) इति वाक्याद्, आगन्तुकधमोणां क्वचिद् अपि तत्सम्पादकत्वादर्शनाच्च । 'धर्मवताम् अपि

भक्त्यभावेन व्यभिचाराद् अकारणत्वम्' चेद् ब्रवीति भवान्, तदा धर्मसहकारित्वम् अनुग्रहस्य अङ्गीकरोतु । न हि सहकारिविरहेण कार्याभावोऽकारणतासम्पादकः, दण्डादेः अपि घटादौ तथात्वप्रसङ्गात् । 'भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति विष्णुर्नान्येन केनचित्' 'भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय' (भाग० ७/९/९), 'प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्' (भाग० ७/७/५२) इत्यादिवाक्यैः वैपरीत्यश्रवणाच्च भक्तौ धर्मसम्पत्तिः हेतुः, भक्तिः अनुग्रहे, इति युक्तम् उत्पश्यामः । न च, 'धर्मरहितानामपि भाक्तिदर्शनात्, नैवम्' इति वाच्यम्, कार्येण जन्मान्तरीयतदनुमानसम्भवात् । न च अन्योऽन्याश्रयः, वाचनिकं हि एतत्, पूर्वोक्तवाक्यैः असन्दिग्धधर्मकारणतानिश्चयात् । न च 'अनुग्रहहेतुत्वेन तद्धेतुत्वं तेषु उच्यते इति' वाच्यम्, एवंबोधकप्रमाणाभावात्, साक्षात् तत्कारणत्वबोधकस्य उक्तत्वात् । किञ्च, अनुग्रहो नाम धर्मान्तरं फलदित्सा एव वा ? न आद्यः, मानाभावाद् गौरवाच्च । न इतरः, तस्याः नित्यत्वेन तत्सहकार्यनङ्गीकाराच्च, सर्गादौ एव भक्तिसम्भवेन अधुना एव भक्तिमत्त्वानुपपत्तेः, तस्याः मुक्तिचरमकारणत्वेन तेषां द्वितीयजन्मासम्भवेन आधुनिकभक्तदर्शनानुपपत्तेश्च । आद्यपक्षेऽपि इदं दूषणं ज्ञेयम्, भगवद्धर्माणां नित्यत्वाङ्गीकारात् । तस्य जन्यत्वोक्तौ तु परमतप्रवेशः । धर्माणामेव तज्जनकत्व-सम्भवाद्; इच्छायाः तथात्वे पूर्वोक्तदूषणापत्तिः नित्यत्वात् तस्याः। तस्याश्च ज्ञानजन्यत्वनियमेन नित्यसर्वविषयकज्ञानवदिच्छायाश्च जन्यत्वम् अनुपपन्नम् । किञ्च, अनुग्रहस्य अनियतत्वे निःशङ्का तदर्थिप्रवृत्तिः न स्यात्। स्वविषयकानुग्रहास्तित्वस्य ज्ञातुम् अशक्यत्वात् । ज्ञाने च प्रवृत्त्युच्छेदः । तथा च, 'अस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरूषे । भक्तिरूत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा ॥' (भाग० १/७/७) इत्यादिना तदर्थ व्यासस्य श्रीमद्भागवते प्रवृत्तिः इत्युक्तिश्च विरूद्धा स्यात् । किञ्च, त्वदुक्तरीत्या शास्त्रार्थज्ञाने श्रौतविधिनिषेधाङ्गीकारानुपयोगज्ञानाद् भक्त्यर्थिषु सदाचारोच्छेदप्रसङ्गः । न च इष्टापत्तिः भक्त्यतिशयोत्तरकालीनत्वाद्

एवंभावस्य । अतएव भरतस्य अतथात्वं पूर्व, तथात्वञ्च अग्रे । तस्माद् अकमोपहतारिवलवर्णाश्रमधर्मैः अनेकजन्मसञ्चितैः सत्त्वशुद्धौ, अञ्जनाभ्यासजनितनयनतिमिरोहतौ वस्तुतत्त्वज्ञानम् इव, भगवद्भक्तिः एव परमपुरूषार्थः इति शास्त्रार्थज्ञानम् । ततः तदर्थम् एव वर्णाश्रमधर्मकरणे भगवद्भक्तिः; तया च अनुग्रहः; तेन च मुक्तिः; इति राजवर्त्मविदुषां न ज्ञानधनमोषः कथञ्चन; इति स्थिते वदामः ।

त्वदुक्तचित्तशुद्धौ अपि एकेषां ज्ञानमार्गिता, केषाञ्चिद्
भाक्तिनिष्ठता एव इति अत्र को हेतुः इति उच्यताम् । न च शुद्धौ तारतम्यं वाच्यम्, तत्तुल्यता, यतो ज्ञानस्य अपि अन्यथा उत्पत्तिः न स्याद् इति विचारय । तस्मादाद्यप्रवृत्तिर्या भक्तावनुपपत्तितः । केवलानुग्रहात् सेति मन्तव्यं प्रतिवादिना ॥

ननु 'एवम् अपि मदुक्तम् एव अनुवदति भवान्; यतः अनुग्रहरूपसहकारिविशेषं प्राप्य सत्त्वशुद्धिः एव भक्तिं जनयति, अप्राप्य तं न ताम् इति वदति, अन्यथा शुद्धेः पूर्वम् एव भक्त्युत्पत्तिप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वम्,' इति चेत्, तर्हि आवश्यकत्वात् लाघवाच्च अनुग्रह एव तद्धेतुः अस्तु, कृतं शुद्ध्यादिभिः । न च विनिगमकाभावाद् दण्डचक्रादेः घटकारणतावद् अत्र अपि वाच्यम् । तत्र अन्योऽन्यसापेक्षतया एव कार्यजनकत्वात् तथात्वम् उच्यते, न इह तथा, साधनरहितानाम् अपि भक्तिदर्शनात् । न च जन्मान्तरीयतदनुमानं तेषु इति वाच्यम्, इतरसाधननिषेधश्रवणात् । तथा हि, 'न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव । न स्वाध्यायः तपः त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणाः ॥' (भाग० ११/१२/१) 'व्रतानि यज्ञः छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः । यथावरून्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥' (भाग० ११/१२/२) 'सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधानाः खगा मृगाः ।' (भाग० ११/१२/३) इति उपक्रम्य, अग्रे भगवता उच्यते, 'ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः । अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः ॥' (भाग० ११/१२/७) 'येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥' (भाग० ११/१२/८) इति । अत्र पूर्वोक्तानां

जन्मान्तरीयतत्सत्त्वे, ‘ते नाधीत’ (भाग० ११/१२/७) इत्यादिना तन्निषेधो नोपपद्यते । किञ्च ‘यन्न योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः । व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि ॥’ (भाग० ११/१२/९) इति साधनरहितप्राप्तस्वरूपस्य इतरसाधनाप्राप्यत्वं श्रीगोकुलप्राणनाथेन उक्तम् इति अन्वयव्यतिरेकव्यभिचारोक्तेः न तद्धेतुत्वगन्धोऽपि । अत्र निःसाधनानां ‘केवलेन हि भावेन’ (भाग० ११/१२/८) इत्यादिना स्नेहभक्तिनिरूपणाद् भक्तेः तदसाध्यत्वम् अवसीयते । ननु ‘जन्मान्तरसहस्रेषु’ इत्यादिवाक्यानां का गतिः ? उच्यते । भगवता स्वप्राप्त्यर्थ मार्गद्वयं प्रकटितम्, मर्यादा-रूपं पुष्टिरूपञ्च ।

तत्र येषां जीवानां मर्यादायाम् अङ्गीकारः तेषां साधनक्रमेण एव भगवत्प्राप्तिः। यथा आसुरावेशिनाम् अपि मुक्तिं ददत् (ददतः) स्वरूपं दृष्टवतोऽपि मुचुकुन्दस्य दोषवर्णनपूर्वकं तद्रहिताग्रिमजन्मनि स्वप्राप्तिकथनम् । येषाञ्च पुष्टिमार्गेऽङ्गीकारः तेषां केवलानुग्रहेण एव, न साधनापेक्षा इति सिद्धान्तः । यथा व्रजादिस्थिताः ।

तत्र तत्र अङ्गीकारे च इच्छा एव हेतुः । स्वतन्त्रेच्छत्वात् नान्यनियम्यता । तथा च साधनवाक्यानि मर्यादामार्गपराणि इति ज्ञेयम् । तत्र अङ्गीकृतानां तथा एव प्रवृत्तिः, तथा एव फलञ्च । एतेन ‘भक्त्यर्थिषु सदाचारोच्छेदप्रसङ्गः’ इति दूषणं निरस्तं वेदितव्यम्; येषु जीवेषु यथा भगवदिच्छा तथा एव तेषां प्रवृत्तेः आवश्यकत्वात् । अत एव भक्त्यर्थिनां निःशङ्कप्रवृत्त्यभाव-प्रवृत्त्युच्छेदौ अपि निरस्तौ । अपरञ्च, ‘तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥’ (भाग० ११/२०/३१) ‘यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥’ (भाग० ११/२०/३२) ‘सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा । स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति ॥’ (भाग० ११/२०/३३) ‘न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम । वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥’ (भाग० ११/२०/३४) इत्यादिवाक्यैः ज्ञानवैराग्यरहितानाम् एव भक्तिकथनाद् भक्तेः कल्पतरूस्वभावत्वेन इतरसकलसाधनसाध्यसाधकत्वोक्तेश्च नेतरसाधनसापेक्षता भक्तौ । ‘भगवान् भजतां मुकुन्दो, मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्’ (भाग० ५/६/१८) इति श्रीशुकवचनैः मुक्तिसाधनपूर्णानामपि भगवद्दाने भक्तिप्राप्तिः, अदाने च अप्राप्तिः, इति निरूपणादपि अनुग्रहेतरसाधनासाध्यत्वं भक्तो निश्चीयते । उक्तमार्गद्वये च अङ्गीकारोऽनुग्रहेण एव इति न मर्यादामार्गेऽपि भक्तेः साधनबलसाध्यत्वम्; अन्यथा ‘जायस्व म्रियस्व’ (छान्दो०उप० ५/१०/८) इति तृतीयमार्गे एव अङ्गीकारं कथं न कुर्यात्?

पुष्टौ साधनानां व्यभिचाराद् एव न हेतुत्वं शङ्कितुम् अपि शक्यम् इत्यलम् उक्तिभिः । एवं सति साधनमार्गकरणं यतः तद्वक्ष्यते । ‘पोषणं तदनुग्रहः’ (भाग० २/१०/४) इति वाक्यात् पोषणलीलायाः स्वतन्त्रत्वात् ‘यस्यानुग्रहमिच्छामि’ इति वाक्याच्च अनुग्रहो धर्मान्तरम् एव । अनुग्रहानुरूपा च इच्छा सर्वत्र सहकारिणी । सहकारिनिरपेक्षानुग्रहसाध्या भक्तिः इत्यपि गुडजिह्विका । वस्तुतः तु कार्यमात्रम् इच्छाधीनम् एव इति त्वया अपि उररीकार्यम् । तथा हि, यदा यदा यद् यत् कार्यं भवति, भावि, अभूद्वा, तत्तत्कालोपाधौ क्रमिकेण एव तेन तेन हेतुना तत्तत् कार्य करिष्य इति ततः पूर्वं भगवदिच्छा अस्ति, आसीद् इति वा मन्तव्यम् । अन्यथा तच्चिकीर्षामात्रस्य नित्यत्वेन युगपत् सकलकार्योत्पत्तिप्रसङ्गः ।

न च इतरकारणासमवधानात् न तथा इति वाच्यम्; तस्य अपि कार्यत्वेन तच्चिकीर्षाया अपि पूर्वम् अवश्यं वाच्यत्वात्, तस्याः कार्यमात्रे कारणत्वात् तदपि युगपत् स्यात् । न च तत्पूर्वक्षणः प्रतिबन्धक इति वाच्यम्, तत्प्रागभावकालेऽग्रिमकार्योत्पत्तिप्रसङ्गात् । न च तत्तत्क्षणाधिकरणकतत्तत्कार्यं प्रति तत्तत्प्रागभावावच्छिन्नस्थूलकालोपाधिस्तथा, सृष्टौ प्रलयकाल इव इति वाच्यम्, एवं हि प्रलयाभावस्य सृष्टौ हेतुत्वमिति तत्पूर्वकालसत्त्वनियमेन तदधिकरणकालस्य प्रलयसृष्टिकालातिरिक्तत्वापत्तेः, प्रतिबन्धकाभावस्य

कारणत्वेन तत्पूर्वक्षणवर्त्तित्वस्यावश्यं वाच्यत्वात्, कार्यतदभावातिरिक्तकालस्य च उक्तान्यतराभावेन एव परास्तत्वात्, न चैवं वक्तुं शक्यम्, अप्रसिद्धेः । न च तत्तत्कालोपाध्यभाव एव प्रतिबन्धकः, तस्य प्रागभावरूपत्वेन प्रतियोगिसामग्र्या एव च तन्नाशकत्वेन तत्सत्त्वे तत्सत्त्वासम्भवात् । न च उत्तरक्षणचिकीर्षितघटस्य अधुना एव अकरणे उत्तरक्षणाभाव एव त्वयापि प्रतिबन्धको वाच्यः, इच्छाभावस्यैव तथात्वेऽपि 'सविशेषणे हि' इतिन्यायेन क्षणाभाव एव पर्यवसानाद् इति वाच्यम् । क्लृप्तकारणैः कार्योत्पत्तिसम्भवे येन कार्याभावः तदभावस्य हि प्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणत्वं दाहे मण्यभावस्य इव; दण्डाद्यभावे घटानुत्पादेऽपि न तेषां प्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणता, किन्तु दण्डत्वादिना।

प्रकृतेऽपि तत्क्षणविशिष्टेच्छाया हेतुत्वेन पूर्वं तदभावात् तद्विशिष्टतल्लक्षणहेत्वभावादेव कार्याभावः ।

ननु एवमपि 'सविशेषणे हि' इति न्यायेन क्षणस्यैव कारणत्वम् आयाति । किञ्च, इच्छात्वेन एव लाघवात् कारणत्वम् इच्छायाः, न तु तद्विशिष्टत्वेन, गौरवात् । तथा च तत्क्षणलक्षणसहकार्यभावात् न इच्छामात्रेण अन्यदा तत्कार्यम् इति चेद्, अत्र वादी प्रष्टव्यः, तत्क्षणाभावे को हेतुः इति । तत्साधनाभावः इति चेद्वदेत् तदा तत्रापि एवं प्रश्ने, तेन तत्तत्साधनपरम्पराभावः एव हेतुः वाच्यः । साधनपरम्परा च साध्यपरम्परायाम् । एवञ्च सति तत्तत्परम्परासत्त्वासत्त्वयोः भगवदिच्छैव केवला हेतुरिति तेनापि मन्तव्यम्, अन्यथा तयोराकस्मिकत्वप्रसङ्गात् ।

ननु अजन्यायास्तस्याः केवलायास्तथात्वे सर्वाभाव एव स्यात् सर्वं वा युगपत् स्याद् इति चेत्, अत्रैवं ज्ञेयम् । त्वदुक्तरीत्या हि सर्गादिकारणे विमर्शः पर्यवस्यति । तच्च, श्रुतिसिद्धप्रकारकम् एव अङ्गीकर्त्तव्यमास्तिकैः । तत्र च केवलेच्छाया एव हेतुत्वम् उच्यते । तथा हि वाजसनेयिशाखायां, 'आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरूषविधः, सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यद्' (शतपथब्रा० १४/४/२/१; बृह० उप० १/४/१) इत्युपक्रम्य, अग्रे पठ्यते 'स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्, स हैतावानास यथा स्त्रीपुंमासौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधा पातयत्, ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्' (शतपथब्रा० १४/४/२/४; बृह० उप० १/४/३) इत्यादि । अत्र द्वितीयसृष्टौ इच्छामात्रस्य एव हेतुत्वम् उच्यते रमणेच्छायाश्च तदिच्छाप्रयोजकत्वम् । तथा च स्वक्रीडार्थमेव जगत्करणमित्यर्थ सम्पद्यते। अत एव श्रीभागवतेऽपि 'क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं यस्य विभूमन्' (भाग० ४/७/४३), क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते, स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः । ' (भाग० ८/२२/२०) इत्याद्युक्तम् । एवं सति वस्तुनियमाभावे वैचित्र्याभावेन क्रीडाऽसम्भवात् तदर्थं कालावच्छेदे सति तदा तां तां लीलां करोति, करिष्यति, अकरोदिति। अन्यज्ञापनार्थं च तदवच्छेदकां सूर्यादिगतिं विधाय तथा करोति इति श्रुत्यर्थापत्त्या अवसीयते ।

एवं सति यदा यथा येन यत्र यद् भवति नश्यति न भवति वा, तदा तथा तेन तत्र तद्भवतु नश्यतु मा भूदिति सृष्टेः पूर्वमेव नियमः कृतः, इति न सर्वस्य अभावो युगपद्भावो वा प्राप्तावसरः । यतः साधनानां साध्यसाधनक्षमत्वं तत्तत्साध्यसाधकत्वनियमश्च तत्कृत एव, न तु स्वाभाविकः । अत एव कर्तृत्वमपि ईश्वराधीनमेव इति श्रुतिराह 'एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति' (कौषी० ब्राह्म० उप० ३/८) इत्यादिना ।

व्यासोऽपि 'परात्तु तच्छ्रुतेः' (ब्रह्मसूत्र २/३/४१) इत्यादिना इममेवार्थं निर्णीतवान् । यथा च एतत् तथा 'विद्वन्मण्डने' प्रपञ्चितम् अस्माभिः ।

ननु न इदं मदुक्ते बाधकम्, ईदृशस्य एव साधनत्वस्य कर्मसु अपि वक्तुं शक्यत्वाद् इति चेत्, स्याद् एतद् एवं यदि तन्निषेधो न स्याद् इत्युक्तम् । श्रुतिश्च ' नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' (कठोप० १/२/२२, मुण्ड० उप० ३/२/३) इति इतरसाधननिषेधं कृत्वा 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (कठोप० १/२/२२, मुण्ड० उप० ३/२/३) इत्यादिना भगवदनुग्रहैकलभ्यत्वं भगवति आह ।

किञ्च,

‘न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नोऽनिमिषो लेढि हेतिः । येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरूः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥’ (भाग० ३/२५/३८) ‘तान्नोपसीदत हरेर्गदयाऽभिगुप्तान् नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे ॥’ (भाग० ६/३/२७) इत्यादिवाक्येषु भक्तानां कालानधीनत्वश्रवणादपि न कर्मसाध्यत्वं भक्तौ, कर्मणां तत्तत्काल एव विधानेन तदधीनत्वात् ।

कालसाध्यसाधनसाध्यफलस्य अपि तत्परिच्छेद्यत्वनियमात् स्वर्गादिः इव ब्रह्मभावस्य अपि कालसाध्यत्वात् तत्साध्यमुक्तौ अपि तथात्वम् ।

अपरञ्च,

‘यदा यमनुगृह्णाति भगवान् आत्मभावितः ।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥’ (भाग० ४/२९/४६) इति वाक्यात् तादृशानुग्रह एव भक्तिमार्गे लोकवेदातीतत्वज्ञानं विश्वासश्च इति तद्रहितेषु तदधिकनिरूपणं व्यर्थम् इति तद्वत्सु स्वज्ञानलेशमात्रम् एतेन प्रकाशितम् इत्यलं विस्तरेण ।

गोपीशपदसर्वस्वः पितृपादाब्जसेवकः ।
निर्णीतवान् भक्तिहेतुं निगूढाशयविट्ठलः ॥ १ ॥
अहं कुरङ्गीदृग्भङ्गिसङ्गिनाङ्गीकृतोऽस्मि यः ।
अन्यसम्बन्धगन्धोऽपि कन्धरामेव बाधते ॥ २ ॥

इति श्रीमद्विट्ठलदीक्षितविरचितो
भक्तिहेतुनिर्णयः
सम्पूर्णः ।

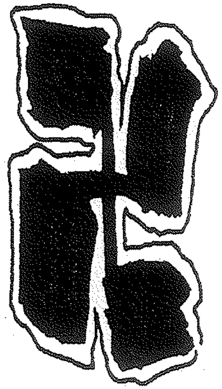

श्रीकृष्णाय नमः
श्रीमद्विठ्ठलेशप्रभुचरणप्रणीतो

भक्तिहंसः

श्रीवल्लभाचार्यमते फलं तत्प्राकट्यमत्राव्यभिचारिहेतुः प्रेमैव ।
तत्रोपयुक्ता नवधोक्तभक्तिस्तत्रोपयोगोऽखिलसाधनानाम् ॥
(श्रीमद्विठ्ठलेशप्रभुचरणाः)

श्रीकृष्णाय नमः
श्रीमद्विठ्ठलेशप्रभुचरणप्रणीतो

भक्तिहंसः

जयन्ति पितृपादाब्जरेणवो यत्प्रसादतः ।
भक्तिः प्राप्ता तदन्याध्वमोहाभावश्च पण्डितैः ॥ १ ॥
मन्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविधिभिर्यः ।
अस्पृष्टो रमते निजभक्तेषु स मेऽस्तु सर्वस्वम् ॥ २ ॥

ननु किमिदमपूर्वतरमिवोच्यते ?

सत्यम्, अपूर्वतमपि श्वभ्रकूपपतितभेकसदृशां त्वादृशाम्, न तु विदुषाम्, पूर्वमेवानेकप्रमाणसिद्धत्वात् । तथाहि-

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (कठोप० १/२/२३; मुण्ड० उप० ३/२/३) इति श्रुतौ 'यमेव' इति सामान्योक्त्या अग्रिमेण च भगवदङ्गीकारमात्रैकलभ्यत्वोक्त्या प्रवचनादिपदानि आत्मीयत्वेन भगवदङ्गीकारातिरिक्तयावत्साधनोपलक्षकाणि इति ज्ञायते । तेन जीवकृतिसाध्यसाधनैः अप्राप्यत्वमुक्तं भवति । पूर्वं जीवगतोत्कर्षोऽपि अप्रयोजक इत्यपि । वरणोक्त्या यथा कन्यका स्वाभिमतमेव स्वपतित्वेन वृणुते, वरो वा तादृशीमेव कन्यां स्वस्त्रीत्वेन, तथा भगवान् स्वदासत्वेन आत्मीयत्वेन अङ्गीकरोति इत्युच्यते । तथा च यथा तदनन्तरं नान्यत्र विनियोगः तस्याः तथा एतस्यापि इति ज्ञापितं भवति ।

पूर्वं केनापि ज्ञातुमशक्यमित्यपि ।

एवं सति विहितक्रियाफलत्वेन स्वर्गादिवद्भगवति पूर्वोक्तविधिसम्बन्धस्तु न शक्यवचनः । स्वकृत्यसाध्यत्वाद् यागादिवदपि न तथा ।

अतः परम् इन्द्रादिवदुद्देश्यत्वेन तत्सम्बन्धोऽवशिष्यते । तत्रापि वदामः ।
'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान (बृह० उप० ४/४/२२) इत्यादिश्रुतिभ्यो,

'देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा ।
भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद् यथा वयम् ॥' (भाग० ७/७/५०),
'को नु राजन् ! इन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम् ।
न भजेत् सर्वतोमृत्युः उपास्यममरोत्तमैः ॥ (भाग० ११/२/२),
'मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥' (गीता ९/३२)

इत्यादिस्मृतिम्यश्च जीवमात्रस्य भगवान् पतिः इति स्त्रियाः स्वपतिभजनवज्जीवमात्रस्य भगवद्भजनम् इष्टम् इष्टसाधनञ्च इत्यङ्गीकार्यं सर्वथा । तच्च श्रवणादिरूपम् ।

एवं सति भगवानिव तन्नामादिकमपि सर्वान् प्रति अविशिष्टम् इति मन्तव्यम् । मन्त्रशास्त्रे तु निगद्यते, 'राममन्त्रः तदधिष्ठातृभजनञ्च कस्यचिन्मित्रं कस्यचिदरिः कस्यचित्सिद्धं कस्यचित्साध्याम्' इत्यादि। एवमेव गोपालादिमन्त्राः तदधिष्ठातृभजनानि च इति । एवं सति तदधिष्ठातृरूपस्य पुरुषोत्तमत्वे पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतिन्यायेन सर्वान् प्रति भजनीयत्वेन अविशिष्टं स्यान्नतु तथा इत्यन्यथानुपपत्त्यैव तत्पुरुषोत्तमस्य विभूतिरूपं भिन्नमेवेति मन्तव्यम् ।

ननु विहितप्रकारेण भजन हि सर्वस्यापि इष्टदम् अतो नानुपपत्तिः काचिद् इति चेद्, उच्यते ।

'यानास्थाय नरो राजन् ! न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥ ' (भाग० ११/२/३५)

इति वाक्ये भगवद्धर्मास्थितिमात्रेणैव भगवत्प्राप्त्यर्थमत्यार्त्या नित्यसाधनपरित्यागे शास्त्रगुरूल्लङ्घनेऽपि फलविलम्बः फलाभावो वा न भवतीति निरूप्यते । आस्थितिः तु कायवाङ्मनसां तदीयत्वम् ।

एवं सति मन्त्रोपासनाया अपि भगवद्धर्मत्वं स्यात् तदा तत्परत्वमात्रेणैव यस्य कस्यचिदिष्टमेव फलं भवेन्न तु अन्यथा ।

ननु,

'सर्वेषु वर्णेषु तताऽऽश्रमेषु नारीषु नानाह्वयजन्मभेषु ।
दाता फलानामभिवाञ्छितानां द्रागेव गोपालकमन्त्र एषः ॥'

इतिवाक्यात् सर्वाभीष्टदत्वं गोपालमन्त्रोपासनायामस्ति नोक्तरूपता इति चेत् ?

सत्यम्, अस्ति सर्वाभीष्टदत्वं, न तु उक्तरूपतापि, उपासनामार्गीयत्वात् । न हि कर्माङ्गत्वेन क्रियमाणस्य भगवत्स्मरणस्य भक्तिरूपत्वं वक्तुं शक्यम्, कर्ममार्गीयत्वात् । अपरञ्च तत्र वराङ्गनावशीकरणादिकं फलत्वेन श्रूयते, न हि पुरुषोत्तमभक्तेः तत्फलीभवितुमर्हति, अनर्थरूपत्वात्,
'अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे' (भाग० १/७/६),
'तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत्' (भाग० ११/२०/३५)
इत्यादिवाक्यविरोधात् ।

अतएव शूद्रप्रतिष्ठापितमूर्तौ ब्राह्मणनमस्कारनिषेधो धर्मशास्त्रे युज्यते,

'यः शूद्रस्थापितं लिङ्ग विष्णु वा विनमेद द्विजः ।
स याति नरकं घोरं यावदाहूतसम्प्लवम् ॥'

न हि ब्राह्मणानामीश्वरो न नमस्यः क्वचित्, 'किं पुनः ब्राह्मणाः पुण्याः' (गीता ९/३३) इति वाक्यात् ।

किञ्च, मन्त्राधीनत्वं तत्तद्देवताया उच्यते । पुरुषोत्तमस्तु,

'न साधयति मां योगो न साङ्ख्य धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायः तपः त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥' (भाग० ११/१४/२०)
'न रोधरति मां योगो न साङ्ख्य धर्म एव च ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ।
व्रतानि यज्ञाश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ॥' (भाग० ११/१२/१-२)

इति ।

'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥' (गीता ११/५३)
'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।

ज्ञातुं द्रष्टु च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप ॥' (गीता ११/५४)

इत्यादिवाक्यैः 'नायमात्मा' (कठोप० १/२/२३; मुण्ड० उप० ३/२/३) इत्याद्युक्तश्रुत्या च न मन्त्रोपासनाद्यधीन इति महद्वैलक्षण्यम् ।

'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना ।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा ॥
ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम् ।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः ।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥'

(भाग० ९/४/६३-६६) इत्यादिभिः,

'नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः ।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम् ॥' (भाग० ७/७/५१-५२)

इत्यादिभिः, 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' (भाग० ११/१४/२१)
'भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय' (भाग० ७/९/९)
इत्यादिवाक्यसहस्रैः भक्तिमात्राधिनत्वोक्त्या च ततो वैलक्षण्यं पुरूषोत्तमेऽवधेयम् ।

ननु मन्त्रादेरपि भगवदीयत्वात् तत्सम्बन्धि सर्वं भक्तिरूपमेव इति नोक्तानुपपत्तिरिति चेत्, हन्त इदं पाण्डुमृत्पानीयमेव शुनः तक्रम् इत्याभाणकमनुहरति । ननु, कथमेवम् ? इत्थम् । श्रीमदुद्धवपृष्टेन यदुवंशोदयाचलचूडामणिना पूजामार्गं निरूप्य,

'प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम् ।
पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिः मत्सार्ष्टितामियात् ॥' (भाग० ११/२७/५२)

इति प्रत्येकसमुदायाभ्यां फलभेदं निरूप्य,

'मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति ।
भक्तियोगं स लभत एवं यः पूजयेत माम् ॥' (भाग० ११/२७/५३)

इति निरूपितम् । अत्र पूर्वार्द्धे एवकारेण पूर्वोक्तपूजाफलव्यवच्छेदपूर्वकं स्वस्य भक्तियोगफलत्वमुक्तम् इति फलभेदादपि स्वरूपभेद आयात्येव ।

उत्तरार्द्धे च पूजायाः साधनत्वं भक्तेश्च फलत्वञ्च इति स्पष्ट एव पूजादेः भक्तेर्भेदः । भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलके कर्मणि ज्ञाने वा न भक्तित्वम्, भक्तौ च न स्वरूपातिरिक्तफलकत्वम् । अतो न पूजादिः भक्तिः इति निरूपणार्थम् एव 'मामेव' (भाग० ११/२७/५३) इत्यादि निरूपितम् इति वेदितव्यम् । अन्यथा पूजाप्रकरणे तन्निरूपणमसङ्गतं स्यात् ।

'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन. मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।' (भागा० ११/२०/३२-३३)

इति तु भक्तिसाध्यं नान्येन सिद्ध्यत्यन्यसाध्यं भक्तेरानुषङ्गिकम् इति कथनार्थम्, कल्पतरूस्वभावत्वज्ञापनाय चोक्तम्, अग्रे

'स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति ॥' (भाग० ११/२०/३३) इति वचनात् । तेन भक्तिरेव कार्या नान्यद् इति फलितं भवति ।

'दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ॥' (भाग० १०/४७/२४)

इतिवाक्याच्च न मन्त्रजपादेर्भक्तित्वम् । भगवदर्थमेव कृता भगवत्पूजा भक्तिर्भविष्यति इत्याशङ्कानिरासाय उत्तरार्द्धे तादृश्यास्तस्यास्तत्साधनत्वम् उक्तम्, अन्यथा 'पूजादिना' (भाग० ११/२७/५२) इत्यादिना विरोधः स्यात् । एतेन लोके शास्त्रे वा क्वचित् तादृश्यां तस्यां भक्तिपदप्रयोग औपचारिक इति ज्ञापितम् ।

न च, 'माम्' (भाग० ११/२७/५३) इति पदेन पूजाया अपि विषयः पुरूषोत्तम एव इति वाच्यम्, विभूतिरूपस्यापि भगवद्रूपत्वात् तथा उक्तम् ।

पुरूषोत्तमत्वे बाधकम् उक्तमेव 'मन्त्रशास्त्रे' इत्यादिना । अन्यफलाद्यनुसन्धान-राहित्यपूर्वकं भगवद्भावनायां क्रियमाणायां पुरूषोत्तमावेशोऽप्यन्तःकरणे पूज्ये च भवतीति ज्ञापनाय वा 'माम्' (भाग०११/२७/५३) इत्युक्तम् ।

अत एव भक्तिस्तया फलिष्यति । 'यमेवैष वृणुते' (कठोप०१/२/२३; मुण्ड० उप० ३/२/३) इति श्रुतेः तदैव तद्वरणात् । अत्र अधिकारिभेदेन पूजा-फलभेदोक्त्या 'यमेव' (कठोप० १/२/२३; मुण्ड० उप० ३/२/३) इति श्रुतौ कर्मज्ञानभक्तिषु निःशङ्क फलार्थिप्रवृत्तिरनुपपन्ना इत्यनुपपत्तिर्निरस्ता वेदितव्या । कर्मादिविधिषु विविधफलश्रवणात्तत्तत्फलरागवांस्तत्र तत्र यतिष्यत इत्युपपत्तेः ।

ननु एवं पुरूषोत्तमार्थिप्रवृत्त्यनुपपत्तिः । मैवम् । तदर्थित्वस्यैव वरणकार्यत्वात्, अन्यथा तदनुत्पत्तेः । वरणे चास्ति प्रकारद्वयम्, मर्यादापुष्टिभेदेन । आद्यस्तु तत्साधने भवति प्रवृत्तः, तथैव तद्वरणात् । परन्तु स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधिरेव तत्र प्रयोजकः । तदुत्पत्त्यनन्तरञ्च रागादेव तत्सम्बन्धिपदार्थे यतिष्यत इति विधेरप्रयोजकत्वम् । द्वितीयस्य तु प्रवृत्त्यप्रवृत्ती अप्रयोजिके, भगवता स्वस्यैव साधनत्वेनाङ्गीकारात् । अत एव,

'अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण' (भाग० २/७/३१)

इति गोकुलविशेषणं द्वितीयस्कन्धे ब्रह्मणोक्तम्, इति सर्वमवदातम् ।

किञ्च; विष्णुविषयकत्वेनैव भक्तित्वे कर्माङ्गत्वेन क्रियमाणविष्णुस्मरणादेः अपि भक्तित्वापत्तिः । कर्ममार्गीयत्वान्न तथा । पूर्वोक्तन्यायेन विभूतिरूपस्यैव विष्णोः स्मरणादेः तत्र विहितत्वाच्च न तथा । कर्ममार्गे भगवद्विभूतीनामेव इज्यत्वात् । अतएव राजसूयं चिकीर्षुणा धर्मराजेन प्रभुं प्रति विज्ञापितम्, 'यक्ष्ये विभूतीर्भवतः तत्सम्पादय नः प्रभो,' (भाग० १०/७२/३) इति, अन्यथा साक्षाद् हरिं विज्ञापयन् 'त्वाम्' इत्येव वदेत् । एतेन भगवदिच्छायां सत्यामेव भक्तस्य कर्मकरणम्, तत्र चोक्तानां देवानां तद्विभूतित्वेनैव यागः, अन्यथा अनन्यत्वभङ्गप्रसङ्गः इत्यपि सूचितम् ।

अपरञ्च । तत्तदुपासकस्य तत्तत्सायुज्यं परमफलम्, 'देवान् देवयजो यान्ति' (गीता ७/२३) इति वाक्यात् ।

'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥' (गीता ८ /६)

इति वचनात् । एवञ्च सति एकादशस्कन्धेऽस्मत्प्रभुणा,

'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः ।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥' (भाग० ११/१२/८)

इति महता प्रबन्धेन गोकुलवासिनां स्वप्राप्तिं निरूप्य,

'यन्न योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः ।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि ॥' (भाग० ११/१२/९) इति

इतरसाधनवदप्राप्यत्वं स्वस्य निरूपितम् इति भक्त्यतिरिक्तसाधनप्राप्यं न पुरूषोत्तमस्वरूपमिति निश्चीयते ।

गीतासु च पार्थेन,

'एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥' (गीता १२/१) इति प्रश्ने कृते,
'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेताः तेमे युक्ततमा मताः ॥' (गीता १२/२)

इति भक्तिमार्गीयोपासनस्य ज्ञानमार्गादुत्कर्षमुक्त्वा, 'ये त्वक्षरम्' (गीता १२/३) इत्यादिना ज्ञानमार्गिणामपकर्षम् उक्तवान् भगवान् इति न ज्ञानमार्गस्यापि पुरूषोत्तमविषयत्वम् ।

अत्र 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव' (गीता १२/४) इत्यत्र अक्षरस्यापि पुरूषोत्तमाधिष्ठानत्वेन तद्विभूतिरूपत्वान् 'माम्' (गीता १२/४) इत्युक्तम् । न च अक्षरमेव पुरूषोत्तम इति वाच्यम्, 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' (गीता १५/१६) 'उत्तमः पुरूषस्त्वन्य' (गीता १५/१७), 'अक्षरादपि चोत्तमः' (गीता १५/१८) इति भगवद्वचनात् ।

कर्ममार्गोऽपि एवमेव ज्ञेयः । तथा हि,

'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः॥'(गीता२/४२) इत्यादिना,
'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम्, अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥' (गीता ९/२०-२१)
इत्यादिभगवद्गीतासु, श्रीभागवते च,
'अथ यो गृहमेधीयान् धर्मानेवावसन् गृहे ।
काममर्थञ्च धर्मान् स्वान् दोग्धि भूयः पिपर्ति तान् ॥
स चापि भगवद्धर्मात् काममूढः पराङ्मुखः ।
यजते क्रतुभिर्देवान् पितृंश्च श्रद्धयान्वितः ॥' (भाग०३/३२/१-२)
'ये त्विहासक्तमनसः कर्मसु श्रद्धयान्विताः ।
कुर्वन्त्यप्रतिषिद्धानि नित्यान्यपि च कृत्स्नशः ॥
रजसा कुण्ठमनसः कामात्मानोऽजितेन्द्रियाः ।
पितृन् यजन्त्यनुदिनं गृहेष्वभिरताशयाः ॥
त्रैवर्गिकास्ते पुरूषा विमुखा हरिमेधसः ।
कथायाः कथनीयोरुविक्रमस्य मधुद्विषः ॥' (भाग० ३/३२/१६-१८)

इत्यादिना 'जायस्व म्रियस्व' इति तृतीयमार्गप्रवेशो निरूपित इति । ननु, नवविधभक्तौ अर्चनस्यापि उक्तत्वात् कथं न पूजायाः तथात्वम् इति चेत् ? अत्र वदामः । श्रवणादिनवकमपि अधिकारिभेदेन क्रियमाणं सत् कर्मज्ञानोपासनाभक्तिमार्गीयत्वेनानेकविधं भवति । तथा हि श्रीभागवतसहस्रनामादिश्रवणकीर्तनयोः फलत्वेन हि चत्वारोऽप्यर्था उच्यन्ते । तत्र (१) त्रिवर्ग-कामेन क्रियमाणः श्रवणादिः कर्ममार्गीय एव । तत्रापि अर्थाद्यर्थिभिः विहितत्वेन कृतः चेत् तदा स तथा; वृत्त्यर्थं चेत्, कृषिवल्लौकिक एव । शौचार्थिगङ्गास्पर्शवच्च । न हि तस्य मलनिवृत्त्यतिरिक्तो धर्म उत्पद्यते, प्रत्युत निषिद्धाचरणात् पापमपि ।

एतेन विहितजातीयं कर्म यथाकथञ्चित्कृतम् उक्तफलाय इति निरस्तम् । (२) तुरीयाश्रमे ज्ञानोदयहेतुचित्तशुद्धिहेतुत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः ज्ञानमार्गीयः 'यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः' (भाग० ११/१४/२६) इत्यादिवाक्यैः ।

(३) साक्षान्मोक्षसाधनत्वेन तान्त्रिकदीक्षापूर्वकं विहितत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिरूपासनामार्गीयः । अयमेव वैष्णवमार्ग इत्युच्यते विष्णुधर्मेष्वेव निष्ठावत्त्वात् । मुक्तिसाधनत्वप्रतिपादकवाक्यैरेवमवसीयते ।

'अर्चायामेव हरय' (भाग० ११/२/४७) इत्यादिवाक्यानामयमेव विषयः ।

(४) भक्तिमार्गीयभक्तकृतभक्तिसाम्प्रदायिकदीक्षापूर्वकं मोक्षसाधनत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः प्रावाहिकी भक्तिः उच्यते । अत एव कपिलदेवेन, 'न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि । सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥' (भाग० ३/२५/१९) इत्युपक्रम्य सतां लक्षणमुक्त्वा,
'त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः ।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ॥' (भाग० ३/२५/२४)
'सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥
(भाग० ३/२५/२५) इत्यादि निरूपितम् । अत्र 'अपवर्गवर्त्मनि' इति पदेन उक्तरूपत्वमवधेयम् ।

(५) प्रेमात्मकभक्तिसाधनत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः भक्तिमार्गेमर्यादाभक्तिरित्युच्यते, 'श्रद्धामृतकथायां मे' (भाग० ११/१९/१०) इत्युपक्रम्य,
'एवं धर्मैर्मनुष्याणाम् उद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥' (भाग० ११/१९/२४),
'भक्त्या सञ्जातया भक्त्या' (भाग० ११/३/३१)
इत्यादिवाक्यैः तत्साधनत्वं ज्ञेयम् ।

(६) स्नेहोत्पत्त्यन्तरं स्वव्यसनतः स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाण उत्तमः पुष्टिभक्तिरूपः ।

‘मत्सेवया प्रतीतञ्च सालोक्यादिचतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कृतोऽन्यत्कालविप्लुतम् ॥’ (भाग० ९/४/६७),
‘नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।’ (भाग० ३/२५/३४)
‘महतां मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः ॥’ (भाग० ५/१४/४४),
‘नारायणपरा लोके न कुतश्चन बिभ्यति ।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥’ (भाग० ६/१७/२८) इत्यादिवाक्यैः तथात्वं ज्ञैयम् । तेन भक्तिपदस्य शक्तिः स्नेह एव ।
श्रवणादिषु तद्धेतुत्वेन तत्प्रयोगो भाक्तः । अत एव,
सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥ (भाग० ३/२९/१३)
इति लक्षणमुक्त्वा ‘स एव भक्तियोगाख्य’ (भाग० ३/२९/१४)
इति लक्ष्यमुक्तम्, अन्यथा आख्यापदमनर्थकं स्याद् एवकारश्च ।
एवं सति पूर्वोक्तेष्वौपचारिको भक्तिपदप्रयोग इति ज्ञापितं भवति । स्नेहवशेन क्रियमाणाः ते स्नेहमध्यपातिन एव ।
अथवा, साक्षात्पुरूषोत्तमप्रापकत्वेन विहितत्वं भक्तिपदप्रवृत्तिनिमित्तं श्रवणादिषु भिन्नम् । न च तत्प्रापकत्वमेव तथेति वाच्यम्, द्वेषादेर्भगवदनुग्रहस्य च भक्तित्वापत्तेः ।
न च ‘साक्षात्’ पदमनर्थकम्, विभूतिभजनकर्तुरपि तद्द्वारा तत्प्राप्तेः,
‘यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो ।
विशन्ति सर्वतः सिन्धु तद्वत् त्वां गतयोऽन्ततः ॥(भाग०१०/४०/१०)
इत्यादिप्रमाणसिद्धत्वेन तद्द्वारकत्वात् ।

श्रीकृष्णरस्नेहत्वमेव फलरूपायां तस्यां तन्निमित्तम्, इत्यनेकार्थो भक्तिशब्दः । प्रवृत्तिनिमित्तभेदेऽपि रविचन्द्रयोः पुष्पवच्छब्दवाच्यत्वमेकस्यामेवोक्तौ यथा तथा क्वचिद्भक्तिपदं ‘भक्त्याहमेकया ग्राह्यः’ (भाग० ११/२४/२१) इत्यादिषु उभयवाचकमपि । उक्तरूपता तु, ‘मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति’ (भाग० ११/२७/५३) इत्यादिभिः, ‘एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्यु पासते । ये चाप्यक्षरमव्यक्तम्’ (गीता १२/१) इति पार्थप्रश्नेन एतदुत्तरेण च, ‘नालं द्विजत्वम्’ (भाग० ७/७/५१) इत्युपक्रम्य ‘प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्’ (भाग० ७/७/५२) इति प्रह्लादवाक्येन, ‘न रोधयति मां योगः’ (भाग०११/१२/१) इत्यादि-श्रीमन्मुखोत्थवाक्यैः, ‘भक्त्याहमेकया ग्राह्यः’ (भाग०११/२४/२१) इत्यादिवाक्यसहस्रैश्च भक्तौ अवधार्यते । मन्त्राधिष्ठातुस्तु पुरूषोत्तमविभूतिरूपत्वं पूर्वमुपपादितम् इति तत्प्रापकतज्जपार्चनादेः न भक्तित्वं वक्तुं शक्यम्; भक्तिसाधनत्वोक्तेश्च ।

एवं सति भक्तिमार्गीयभजनप्रकारेषु स्नेह एव नियामकः स्नेहवताम्, कर्मणि विधिवत्; तद्रहितानां तु तद्वत्कृत उपदेश एव । स च वेदाविरूद्ध एव इति ज्ञेयम् ।

विधिमजानता बालेन पित्रादिशिक्षया कृतसन्ध्यावन्दनादेः कर्मत्ववदुपदेशानुसारेण कृतेरपि भक्तित्वम्, तन्मार्गीयत्वात् । एवम्भूतस्याग्रे स्नेहोऽवश्यं भावी इति ज्ञेयम् । यथा तादृग्बालकृतकर्मणोऽप्युक्तफलसाधकत्वं तथा तादृग्भजनस्यापि पुरूषोत्तमप्रापकत्वम् इति किमन्यद् अवशिष्यते?

आधुनिकानामुपदेष्टृणामपि स्नेहाभावेऽपि तन्मूलभूतानां प्राचाम् आचार्याणां तद्वत्त्वेन तदनुगृहीतत्वेन सर्वोपपत्तेः । स्वानुगृहीतभक्तप्रवर्तितत्वेन यतः तन्मार्गे पक्षपातो भगवतः, अतः
श्रीभागवते ब्रह्मादिवाक्यम्,

स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः ।
भवत्पदाम्भोरूहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान् ॥

(भाग० १०/२/३१) इति ।
अत्र भगवत्पदाम्भोजस्य भक्तिमार्गत्वेन तद्रूपस्वसम्प्रदायप्रवर्तनमेव तन्निधानम् । तत्प्रवर्तितसम्प्रदाये प्रवृत्तानां तादृक्साधनाभावेऽपि साक्षादनुगृहीतेषु पक्षपातेन तत्सम्बन्धिषु अपि अनुग्रहं करोषि इत्याभिप्रायेणोक्तम्, सदनुग्रह इति । सत्सु अनुग्रहो यस्य इत्यर्थः ।

अस्मिन्नर्थे प्रामाण्यार्थ भगवत्सम्मतिरेव दर्शिता, ‘भवान्’ इत्यनेन । तत्सम्प्रदायस्थानां तरणावश्यम्भावाय नौत्वनिरूपणम् । तेन अनायासेन भवाब्धितरणं सूचितम् । बाहुभ्यां तरणे ह्यायासो नावा तरणे न तथा इत्येतत्सर्वं विवरणे पितृचरणैः विवृतमिति नात्र लिरव्यते। भगवद्भजने परमियं व्यवस्था । अग्निहोत्रादीनां प्रभ्विच्छां ज्ञात्वा यदानुष्ठानं तदा यथाकल्पसूत्रमेव । एतेन अप्रामाणिकत्वेन अन्धपरम्परात्वशङ्का निरस्ता, प्रमाणसिद्धत्वात् ।

प्रेम्णश्च फलत्वेन स्वकृत्यसाध्यत्वेन च न विहितत्वं सम्भवति किन्तु तस्यानुवाद एव ।

‘य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः ।’ (भाग०१०/८/१८)

‘माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥’ (शास्त्रार्थप्र०का०४२)

तृतीयस्कन्धे च, ‘देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् ।’ (भाग०३/२५/३२) इत्यादि, ‘मद्गुणश्रुतिमात्रेण’ (भाग०३/२९/११) इत्यादि ।

साधनरूपा श्रवणादिलक्षण तु,

‘तस्माद्भारत! सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥’ (भाग०२/१/५)

इत्यादिवाक्यैर्विधीयत एव इति सर्वम् अनवद्यम् इति दिक् ।

उपास्तिं मन्यन्ते मधुमथनभक्तिं निजकृता-
र्थतां तत्रोपास्यं परमपुरूषञ्चापि सुविदः ।
द्वयोः सारूप्यात्तद्भ्रमहतिकृते मानसगतम्
मुदा भक्तेर्हंसं प्रकटमकरोद्विट्ठलकृती ॥ १ ॥
व्रजामि चरणं मुदा शरणमैहिकामुष्मिके ।
निरस्तनिजसंशयो य इह भाग्यवद्भिः स्मृतः ।
व्रजेशसुतपादपङ्कजपरागरागाञ्चितम् ।
करोतु सततं स मां निजतनूजवात्सल्यतः ॥ २ ॥

इति श्रीमद्गोपीजनवल्लभचरणैकतानश्रीविट्ठलेश्वरविरचितो
भक्तिहंसः
समाप्तः ॥

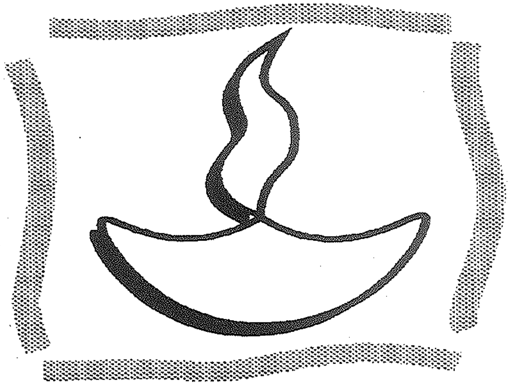

।। अथ श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचिता श्रीगायत्रीव्याख्या ।।

।। अथ श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचिता श्रीगायत्रीव्याख्या ।।

श्रीकृष्णः स्वात्मनः सर्वमुत्पाद्य विविधं जगत् ।
तदासक्तांशबोधाय शब्दब्रह्माभवत्स्वयम् ॥ १ ॥
तत्र सर्गादिभिः क्रीडन्नित्यानन्दरसात्मकः ।
निजभावप्रकाशाय गायत्रीरूप उद्बभौ ॥ २ ॥
सा षड्गुणयुतं सर्ववेदबीजं गुणातिगम् ।
सर्वावताररूपं हि सर्वतत्त्वोपबृंहितम् ॥ ३ ॥
शृङ्गारैश्वर्यसंयुक्तं पुरूषद्वयपूरणम् ।
भक्त्या सर्वेन्द्रियाह्लादि चतुर्विंशाक्षरं ततः ॥ ४ ॥
मार्गत्रयप्रकटनं भावत्रयविवर्धनम् ।
सच्चिदानन्दपूर्णं च त्रिपदेति प्रकीर्त्यते ॥ ५ ॥
छन्दो मन्त्रस्य गायत्री प्रेमोल्लासादहर्निशम् ।
गायंतं त्रायते भावमाच्छादयति चैव हि ॥ ६ ॥
विश्वामित्रो जगन्मित्रमृषिरत्न हरिः स्वयम् ।
'मित्रे चर्षा'विति प्रोक्तः पूर्वाच्चापि प्रतीयते ॥ ७ ॥
सविता सर्वबीजानां निजानां देवतास्य हि ।
आचार्यो भगवानाग्निर्मुखमस्य प्रकीर्तितम् ॥ ८ ॥
गतिज्ञानार्थधातूक्त्या न लोपाच्च प्रतीयते ।
लोपस्यादर्शनात्मत्वात्प्राकृतानुकृतिर्मता ॥ ९ ॥
'ब्रह्मा शिरो' जगद्बीजं सत्यलोकस्थितेरपि ।
यज्ञात्मको जगद्व्यापी शृङ्गाररसविग्रहः ॥ १० ॥
'विष्णुहृदयमित्युक्तं हृद्यं हृदयं श्रुतौ ।
तत्तद्धर्मप्रधानत्वात्सर्वं च स्वयमेव हि ॥ ११ ॥
'रूद्रः शिखे'तिकथनात्क्लेशात्मा स निरूपितः ।
अहङ्कारो बन्धरूप इति बद्धा शिखा मता ॥ १२ ॥

मुखस्याग्नित्वकथनात्तज्जवाला च शिखा मता ।
लौकिकी दुष्टदाहाय 'घोरातनु'रितिश्रुतेः ॥ १३ ॥
पृथिवी भगवत्कीर्तेरूत्पत्तेः कारणं मतम् ।
भक्तिबोधाय चरणरेणुरूपत्वकीर्तनम् ॥ १४ ॥
प्रियप्त्वाय हरेः सर्वप्राणात्मत्वेन वर्णनम् ।
शुक्लभास्वररूपं तु श्वेतवर्णेति कीर्तितम् ॥ १५ ॥
भगवद्योग्यतासिद्ध्यै श्वेतः सर्वाधिको मतः ।
साङ्ख्याय्यनसगोत्रत्वं भगवद्भोगसिद्धये ॥ १६ ॥
स हि ब्रह्म परं जीवः सच्चिदातन्दतोभयोः ।
सगोत्रत्वमतः प्रोक्तं न वैलक्षण्यमण्वपि ॥ १७ ॥
भगा देशादयो वापि शक्त्यश्चेन्द्रियाणि च ।
ज्ञानानि खण्डाखण्डानि कुक्षौ सर्वविनिश्चयात ॥ १८ ॥
धर्मान्यर्था विभावाश्च सर्वोपनिषदः शिरः ।
समीपनयने विष्णोर्विनियोगः प्रकीर्तित ॥ १९ ॥
सप्त व्याहृतयः प्रोक्ता भूरैश्वर्वमुदाहृतम ।
सर्वाधारत्वस्तावच्छक्तित्वान्नास्य बाधनम् ॥ २० ॥
अन्तरिक्षत्वकथनाद्भवो वीर्यं निरूपितम् ।
सुवः श्रीः श्रीर्मनुष्यस्य कथनादवसीयते ॥ २१ ॥
महो यशः परं प्रोक्तं सुखं तेजस्ततोत्र हि ।
जनो वैराग्यमित्युक्तं तापनाशकता यतः ॥ २२ ॥
जनतायां तु तन्मुख्यमतो जन इतीरितम् ।
यस्य ज्ञानमयं प्रोक्तं तपस्तस्मात्तदेव हि ॥ २३ ॥
सत्यं परमितिप्रोक्तं स्वरूपमिति निश्चितम् ।
लोकवेदप्रसिद्धार्थकथनाय तदीयताम् ॥ २४ ॥
द्वादशात्मत्वकथनात्सविता पुरूषोतमः ।

रूपमासक्तिजनकं वरणीयमितीरितम् ॥ २५ ॥
वरणे स्वार्थपरता निवृत्त्यै वृणुते यतः ।
अन्योन्यरसबोधाय तथा वा समुदीरितम् ॥ २६ ॥
भयकामाद्यभावाय भोग्यत्वाय च भर्जनम् ।
दशलीलावबोधाय देवत्वं दुर्लभत्वतः ॥ २७ ॥
दशावस्थावबोधाय प्रीतिर्ध्यानं च कीर्तितम् ।
स्वस्यायोग्यत्वतो बुद्धिप्रेरणं ध्रुववन्मतम् ॥ २८ ॥
निरोधसिद्धये धीषु बहुत्वं परिकीर्तितम् ।
जीवे बहुत्वकथनं तत्सम्बन्धिषु सिद्धये ॥ २९ ॥
नित्यसम्बन्धसिद्ध्यर्थं षष्ठी जीवेशयोर्मता ।
उत्सिक्तभावबोधाय स्वभावत्याजनाय च ॥ ३० ॥
वाञ्छाधिक्यज्ञापनाय प्रकर्षः परिकीर्तितः ।
आशीरन्ते पूर्णतायै प्रेरणं सर्वतोधिकम् ॥ ३१ ॥
आपः श्रद्धा धर्ममूलं ज्योतिरप्यस्फुटौ परौ ।
भावास्त्रयोमन्त्रपूर्तौ प्रोक्ता व्याहृतिभिः स्फुटाः ॥ ३२ ॥
दोषाभावाय सर्वस्य ब्रह्मात्मत्वेन कीर्तनम् ।
नवीनभावजनक उभयो रतिवर्धनः ॥
तस्मात्प्रणव इत्युक्तस्तरयाप्यर्थोयमेव हि ॥ ३४ ॥
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ ३५ ॥

॥ इति श्रीमद्विठ्ठलेश्वरचरणकृताः
श्रीगायत्र्याद्यर्थप्रकाशकारिकाः समाप्ताः[१] ॥

---

[१] आदर्शग्रन्थेषु 'इति श्रीमद्द्विठ्ठलेश्वरदीक्षितानां हस्ताक्षरेषु लिखितान्येतानि पद्यानि गायत्र्यर्थोपनिबन्धनानि पूर्णानी' त्युपलभ्यते ।

श्री विट्ठलेश्वरप्रभुचरण प्रणीतम्

॥ विद्वन्मण्डनम् ॥

श्री विट्ठलेश्वरप्रभुचरण प्रणीतम्

॥ विद्वन्मण्डनम् ॥

निजमुरलिकानादाह्वानागतव्रजसुन्दरी-
निरूपमनवस्नेहाम्भोधेर्विचित्रतरोर्मिभिः ।
किमपि परितश्चार्द्रार्द्रोऽस्तु प्रभुः प्रकटीभवन्
प्रतियुवतिसंभेदेनाऽस्मद्दृशां विषयः सदा ॥ १ ॥
पितृचरणान् नत्वाऽहं हरिरतिमार्गाम्बुजातमार्तण्डान् ।
तदनुग्रहतः किंचिल्लिखामि यत्नाद् यथाबुद्धि ॥ २ ॥
श्रुतिसूत्रादिमणिभिर्जटितं युक्तिमौक्तिकैः ।
ग्रथितं कुरूते विद्वन्मण्डनं विट्ठलः सुधीः ॥ ३ ॥

इह हि विविधवृजिनतापोपतप्यमाननिखिलजनापवर्गाय श्रुतिपुराणेषु श्रवणादयः प्रतिपाद्यन्ते । तेषां विषयश्च ब्रह्मैवोच्यते । तन्निर्धर्मकं सधर्मकं वेति भवति विप्रतिपत्तिर्जिज्ञासूनाम् । उभयरूपत्वेनापि श्रूयमाणत्वात् ।

(१) तथाहि-‘अथात आदेशो नेति नेति’ ‘ अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः’ स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि !

विप्रतिपत्ति-विषयवाक्य-प्रदर्शनम् ।

ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमस्पर्शमगन्धमरसमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनामाऽगोत्रमजरममरमभयममृतमरजोऽशब्दमविवृतमसंवृतमपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्’

‘न तदश्नोति कश्चन’ ‘न तदश्नोति कञ्चन’ ‘दिव्यो ह्यमूर्तः पुरूषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः’ । ‘अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति’ ‘अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः’ ‘असङ्गो ह्ययं पुरूष’ इत्यादिश्रुतिभिः । ‘अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम्’ ‘न सत्तन्नासदुच्यते’ । ‘स वै न देवाऽसुरमर्त्यतिर्यङ् न स्त्री न षण्ढो न

पुमान् न जन्तुः । नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्निषेधशेषो जयतादशेष' इत्यादिपुराणवाक्यैश्च निर्विशेषं ब्रह्म, प्रतिपाद्यते ।'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि ।'स ईक्षां चक्रे स आत्मानमेवावैदहं ब्रह्मास्मीति' । 'सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः' ।'यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः' । 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् । सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैः, द्यावाभूमी जनयन् देव एकः' 'सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरस' इत्यादिश्रुतिभिः । 'सर्वतःपाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति' 'निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः । आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा' इत्यादिस्मृतिभिश्च सविशेषं प्रतिपाद्यते ॥

किमत्र युक्तम् ? निर्विशेषमेवेति । कुतः ?

(२) उपजीव्यत्वतः श्रौतवाक्यैश्चान्यपरत्वतः ।
अन्तरङ्गत्वतश्चापि निर्विशेषं निरूप्यते ॥

निर्विशेषप्रतिपादकवाक्यविचारः ।

तथा हिसविशेषवादिनाऽपि विशेषाधारत्वेनावश्यं ब्रह्मस्वरूपमप्यङ्गीकर्तव्यम् । अन्यथा कुत्र विशेषा निरूपिताः स्युः । तथा चाऽऽधारनिरूपिका श्रुतिराधेयनिरूपिकया नान्यथयितुं शक्या, उपजीव्यत्वात् । न च धर्मिस्वरूपं निरूप्य धर्मनिरूपणेनोभयसार्थकत्वमिति वाच्यम् । अस्थूलाद्युक्तश्रौतवाक्यैर्धर्मनिषेधश्रवणात् । ननु निर्विशेषब्रह्मनिरूपिका श्रुतिर्धर्मान् विना न तन्निरूपयितुं शक्ता । तथा हि–निरूपणं हि लक्षणैः, तानि चासाधारणधर्मरूपाणि । अत्र च धर्माभावात् तन्निरूपणपूर्वम[१]भावमुखेनाऽस्थूलादिवाक्यैर्निरूपयन्त्या धर्मनिरूपिका श्रुतिरूपजीव्या, अभावस्य प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात् । तथा च श्रौतत्वोपजीव्यत्वयोरविशेषादन्यतरबाधो न युक्तः, विरोधात्; तथाकरणे तूभयबाधो युक्तः, उक्तयुक्तेः । तथा च शून्यवाद

---

[१] पूर्वकमिति पाठः ।

आपद्येतेति वृश्चिकभिया पलायमानस्य विषमाशीविषमुखे निपातः । न चैवमपि वक्तुं शक्यम्। ''असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चे'' दिति निन्दाश्रुतेरिति चेत्, मैवम् । न हि श्रुतिसिद्धा धर्मा निषिध्यन्ते, किन्त्वनुवादपूर्वं लौकिकाः स्थौल्यादयः । तथा च क्व धर्माणां श्रौतानामुपजीव्यत्वम् । न चैवं निषेधस्य भिन्नविषयत्वाद् विरोधाभावेनैकतरबाधो न युक्तः, तथा चोभयवत्त्वं सिद्धमिति सांप्रतम् । श्रौतानामप्यर्थानां श्रोतव्यत्वादीनां 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिना निषेधात् । न चोपजीव्यत्वबाधः । एवंविधस्य तस्याऽप्रयोजकत्वात् । अन्यथा अभावनिरूपणोच्छेदप्रसङ्गात् । नन्विदमसंगतम् । न हि लोके यस्मिन् यदा ये धर्माः सत्वेन निरूपितास्ते तस्मिन्नेव तदैव निषेद्धुं शक्याः, विरोधात् । कालभेदेन तु शक्या निषेद्धुम् । पूर्वं श्यामत्वेन निरूपिते पाकरक्ते घटे श्यामत्वस्येव । न चैवं ब्रह्मणि संभवति, सदैकरसत्वात् । अतः कथं धर्मनिरूपणं, कथं वा निषेध इति तप्तसंदंशपतितो मिथ्यावादीति चेत्, न । धर्मनिरूपिकायाः श्रुतेरन्यपरत्वात्। तथाहि–सोपधि ब्रह्म निरूपयति धर्मनिरूपिका श्रुतिरुपासनार्थम्, तया चित्तशुद्धौ सत्यां निर्विशेषं ब्रह्म प्रतिपत्स्यते इति तात्पर्येण । ततस्तादृशब्रह्मज्ञापनाय पूर्वोक्तान् निषेधति, तेषामविद्याकल्पितत्वेनाङ्गीकारात् । अतोऽपवादार्थं कर्तृत्वाद्युक्त्वा निषेधतीति कल्पने सर्वं समञ्जसमिति चेत् ?

अत्र ब्रूमः ।

उपहितकर्तृत्वनिरास : ।

(३) अभेदादनुपाधित्वाज्जगदप्रत्ययाश्रितः ।
सर्वाधारत्वतस्तावच्छक्तित्वान्नास्य बाधनम् ॥

अत्र मिथ्यावादी प्रष्टव्यः, –जगत्कर्तृत्वेशितृत्वादिविशिष्टनिर्विशेषयोर्भेदमङ्गीकरोष्युताऽभेदम्? । भेदपक्षेऽपि तात्त्विकमतात्त्विकं वा ? न तावदाद्यः, 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशा' दित्यधिकरणविरोधात् । अस्यार्थस्तु–सर्वत्र वेदान्तेषु प्रसिद्धस्य ब्रह्मण एवोपास्यत्वेन उपदेशान्मनोमयत्वादिविषयवाक्योक्तधर्मविशिष्टं ब्रह्मैवास्मिन् वाक्ये उच्यते इत्येतत्सर्वं व्याससूत्रभाष्ये विस्तृतं पितृचरणैर्विस्तरभियाऽत्र न लिख्यते । किञ्चैवं, जीवे नितरां

तथाऽऽयातमिति 'तत्त्वमसी'त्याद्यभेदबोधकश्रुतिविरोधः । ब्रह्मानेकत्वापत्त्या चैकमेवेत्यादितद्विरोधः । तथा त्वयाऽनङ्गीकाराच्च । येऽप्य (त्व) ङ्गीकुर्वन्ति, तेषां मते वेदान्तानां ताद्द-ग्भावनापरत्वमेव, न तु वस्तु तादृशमित्युच्यते । तदग्रे निराकरिष्यते । न द्वितीयः, स तूपाधिकृत एव सम्भवति, घटादिकृत इवाकाशस्य । प्रकृते तादृश उपाधिः कः? सोऽप्यनादिः सादिर्वेति विचारणीयम् । अविद्यैवोपाधिः, सा चानादिरेवेति पक्षस्त्वसंगतः । तथा हि-उभयोरप्यनादित्वेन उपहितस्याप्यनादितया तादृशस्यैव च त्वन्मते कर्तृत्वेन अविरतं सर्गः स्यान्न जातु प्रलयः । श्रुतौ ब्रह्ममात्रस्यैवेच्छाविशिष्टस्य कारणत्वोक्त्या कारणान्तरानपेक्षणात् । स्मार्तमतमवलम्ब्य गुणापेक्षाकथने तु गुणानां पौर्वापर्येणाविर्भावे हेतोरवश्यवाच्यत्वे तदिच्छैव तादृशी वाच्या । तथा सति तद्धेतोरेवति न्यायेनेच्छैव तथास्तु, कृतं गुणैः । न चैवमपि त्वन्मते वक्तुं शक्यम् । उपहितस्येच्छाक्रमे हेत्वपेक्षाया तस्योपाध्यधीनतया इच्छायामपि तद्गुणा एव हेतुत्वेन वाच्याः । गुणानां क्रमे चैवं स्वभाव एव हेतुर्वाच्यः । तथा च तादृक्स्वभावविशिष्टा गुणा एव कारणानि सन्तु, कृतं तदधीनब्रह्मणेत्यनीश्वरवादः प्रसज्जयेत । 'स-देव सौम्येदमग्र आसी'दिति श्रुतिविरोधश्च । एवकारेण सतो ब्रह्मणोऽन्यस्य व्यवच्छेदात् । न च कालवाचकाग्रपदेन तस्याऽप्युक्तत्वाद् एवकारो नान्ययोव्यवच्छेदकः, किन्तु तदानीमपि ब्रह्माऽऽसीदेवेत्ययोग- व्यवच्छेदक इति वाच्यत् । बोधनार्थमेव तथोक्तेः । अन्यथा 'सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्य'दिति श्रुतिविरोधः । एतच्छ्रुत्यनुरोधेन अग्रपदेन च यदि कालस्यापि ब्रह्मत्वमेव मनुषे; तदोमिति ब्रूमः । अत एव 'कालोस्मी' ति भगवद्वाक्यम् । 'कालरूपोऽवतीर्ण' इत्याद्यपि । इदमेवोपक्रम्य 'सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा' इत्यादिश्रुतिभिः सत एव कर्तृत्वोक्तेश्च ॥

किञ्च, त्वन्मतेऽप्युपहितस्योपाध्यधीनतया स्वातन्त्र्याभावात् कर्तृत्वानुपपत्तिः । भवेद्वा, उपाधावेव स्यान्न तूपहिते घटक्रियेव । एवमस्त्विति चेत्, न; 'यतो वा इमानि भूतानि' 'सन्मूलाः सौम्ये' ति 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि

भूतानि जायन्ते' 'अहं सर्वस्य प्रभवः' 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायव्याकोपात् । न चायमुपचार एव सर्वत्रेति वाच्यम्, मुख्ये संभवति तथा कल्पनस्यायुक्तत्वाद्, मुख्याबाधाच्च । अत एव व्यासोऽपि इममर्थमसूत्रयत् - 'गौणश्चेन्नात्मशब्दा' दिति । श्रुतावात्मपदमप्युपचारादुपाधिपरमेवेत्याशङ्कायां पुनराह- 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशा'दिति । यदात्मशब्देनोक्तं तन्निष्ठस्यैव श्रुतौ मोक्षोक्तेर्नौपचारिकमात्मपदं, किन्तु शुद्धब्रह्मपरमेवेत्यर्थः । किञ्च, त्वन्मते उपहितस्य जीवत्वेन पुत्रादितुल्यतया तद्धेयत्वोपदेशवन्मुमुक्षुसाधनोपदेशेषु तस्यापि तथात्वं वदेन्न तु तदुपासनाम् । इतोऽपि हेतोर्निर्गुणमेव ब्रह्म जगत्कार- णमित्याशयेन हेत्वन्तरमाह सूत्रकारः- 'हेयत्वावचनाच्चे'ति । किञ्च 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यत्र निर्गुणब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय, किंलक्षणं तदित्याकाङ्क्षायां 'जन्माद्यस्य यत' इत्यवदत् । तच्च सगुणनिरूपकमिति वदन् व्यासस्य प्रतिज्ञाहान्युपक्रमविरोधावपश्यन् हृदयशून्यो भासि । किञ्चैवं 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृदित्यादिश्रुतिस्मृतिविरोधोऽपि । अतो भेदपक्षस्त्वसंगत एव । द्वितीयस्तु स्यात् । न स्याद्विरोधादिति चेन्मैवम् । अस्थूलादिवाक्यैर्जडजीवधर्मा एव ब्रह्मणि निषिध्यन्ते, न श्रुतिसिद्धा जगत्कर्तृत्वादयः । तथा सति 'प्रक्षालननाद्धी'ति न्यायेन प्रतिपादनवैयर्थ्यापातात् । किञ्च, ब्रह्मनि- रूपकमहावाक्ये त्वन्मते सृष्टिनिरूपकाणि वाक्यानि असंगतानि स्युः, तदनिरूपकत्वात ॥

अध्यारोपापवादविचारः

(४) नन्वस्ति संगतिरध्यारोपापवादलक्षणा । तथाहि-शुद्धब्रह्मणो दुर्ज्ञेयत्वेन तज्ज्ञापनाय जगज्जननमुक्त्वा, तत्कर्तृत्वभोक्तृत्वे प्रतिपाद्य, तद्द्वारा सोपाधिके ब्रह्मणि बुद्धौ सिद्धायां शाखाऽरून्धतीन्यायेन पूर्वोक्तमपोह्य कर्तृत्वाद्यपेतं ब्रह्म पश्चाद् बोध्यते इतिचेत्, नैवं वक्तुं युक्तम् । जगदप्रतीतिप्रसङ्गात् । तथा हि-न हि जगत्प्रतीतिः श्रुतिसिद्धा, येन पूर्वं बोधयति, पश्चान्निषेधतीत्युच्येत । किन्तु लोकसिद्धा । तथा च तत्र कर्त्रपेक्षायां कर्तारमेवोपदिशतीति वक्तुं युक्तम्, न तु लोकसिद्धमेव जगदनूद्य, तत्कर्तृत्वं बोधयित्वा, पश्चान्निषेधतीति । तथा सति कार्यस्य प्रतीतिसिद्धत्वेन

कर्त्रन्तरस्याभावाच्च जगत एवासंभवेन अनुवादो बाधितविषयः स्यात्। स्वारूढशाखाछेदनवन्माता वन्ध्येतिवाक्यवच्च सर्वार्थतत्त्वप्रतिपादिका श्रुतिः कथमेवं वदेत् । सर्वतो बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिः । ननूपलब्धि-मात्रेण न वस्तुसत्त्वं वक्तुं शक्यम्, स्वप्नादिषु तथा प्रसङ्गात् । तथा च निषेधिकायाः श्रुतेः प्रपञ्चासत्त्वमेवाभिप्रेतमिति चेत् । तर्हि प्रतीतिमुपपादयतु देवानांप्रियः । न तावद्वासनयेति वक्तुं शक्यम्, तस्या अनुभवजन्यत्वेन जगतश्चासत्वेन पूर्वमनुभवाऽसंभवात् । न चानादित्वेन तदुपपत्तिः, सर्वेषामनुभवानां वासनाजनकत्वाऽनियमेन कदाचित् कस्यचिदर्थस्याप्रतीतिप्रसङ्गात् । नियमे वा, सर्वदा तदुद्बोधानियमेनापि तथा प्रसङ्गः । उद्बोधकं च न दृष्टम्, अन्योन्याश्रयप्रसङ्गात् । नाप्यदृष्टम्, दृष्टसामग्रीसंपादनद्वारैव तस्य कारणत्वात् । 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिव' दिति तत्त्वसूत्रविरोधश्च ।

अविद्याकृतं सर्वमिति विचारः ।

(५) ननु जीवाविद्यैव जगत्प्रतीतौ हेतुः । तथा हि-जीवब्रह्मणोरभेदबोधकश्रुत्या, भेदस्य च तत्रैव ज्ञाननिवर्त्यत्वोक्त्या भेदस्यातात्त्विकत्वम्, अज्ञानकृतत्वं च निरूपितम् । यतः परमार्थतो भिन्नस्याऽभेदासंभवो, ज्ञानमप्यज्ञानस्यैव निवर्तकम् । तथा च अनादिरविद्यैवाज्ञानरूपा 'अहमज्ञ' इत्यनुभवसिद्धा भावरूपा तदवच्छेदिका मन्तव्या । जीवब्रह्मविभागस्यानादित्वात् । 'बन्धो-ऽस्याविद्ययाऽनादि'रिति वचनात् । तथा च विचित्रपरिणामशीलया अविद्ययैव दोषरूपया विचित्रं जगत् प्रतीयते । युक्तं चैतत् । कार्यस्य तुच्छत्वेन तत्कारणेनापि तादृशेनैव भवितव्यम् । कारणसजातीयत्वात् कार्यस्य । यथा च मुखसम्बन्धमात्रेण दर्पणादिकं बिम्बप्रतिबिम्बभेदनिमित्तं, तथा चिद्रूपब्रह्मसम्बन्धमात्रेण तद्भेदनिमित्तं सा । तत्कृततदध्यासवशात् स्वस्मिन्नज्ञत्वं, कर्तृत्वभोक्तृत्वे, मन्यमानो जीवो विधिनियोज्यादिभावं मनुते । ततः शमदमादिभिर्गुरूपसत्तितदुपदेशश्रवणमनननिदिध्यासनैश्चाविद्याधिष्ठानरूपस्वात्मनोऽद्वैतकूटस्थचिदेकरसत्वलक्षणस्वरूपज्ञानेन अज्ञाननिवृत्त्या तत्कार्यरूपप्रपञ्चस्यापि निवृत्तेः 'ब्रह्मवेद

ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतिनिरूपितो मोक्षः संपद्यते । रज्जुस्वरूप-ज्ञानेन प्राचीनसर्पाऽनुभवतत्कृतभयनिवृत्त्या स्वास्थ्यमिव । ननु ब्रह्मणः सर्वज्ञस्याविद्यासम्बन्धोऽशक्यवचनः, अज्ञत्वाऽऽपादकत्वात्। न च जीवाश्रयैव सेति वाच्यम्, ऐक्याङ्गीकारात्तयोः । एतेनैव जीवस्याऽप्यज्ञत्वमनुपपन्नमिति चेत् । न, जपाकुसुमाऽरूणस्फटिकस्तम्भश्रेणिगतपुरूषप्रतिबिम्बस्यारूणत्ववज्जीवस्याज्ञत्वावभासोपपत्तेः । तद्बिम्बस्योज्ज्वलतेव, ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वोपपत्तेः । अविद्याश्रयत्वेन नाभेदानुपपत्तिरिति ॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः ।

जीवस्वरूपविचारोपक्रमे बिम्बप्रतिबिम्बभावखण्डनम् ।

(६) पूर्वं जीवस्वरूपं विचारणीयम्, यस्य सा शक्तिः । तत्र न तावद् ब्रह्मप्रतिबिम्बो जीव इति पक्षो युक्तिसहः । तथा हि-ब्रह्मणो नीरूपत्वेन प्रतिबिम्बाश्रयस्याऽज्ञानस्य च अस्वच्छत्वेन क्व कस्य प्रतिबिम्बः स्यात्। रूपवत एव प्रतिबिम्बनियमात्। दृष्टानुसारिणी हि कल्पनोचिता । अन्यथा वायुदारूणोरपि बिम्बत्वप्रतिबिम्बाश्रयत्वप्रसङ्गात्। ननु दर्पणादावाकाशप्रतिबिम्बो दृश्यते। न। तावद्देशीयप्रभामण्डलस्यैव रूपवत्त्यवेन प्रतीतेः। किञ्च, यत्र यदस्ति तत्र तन्न प्रतिबिम्बते, दर्पणरेखावत् । तथा च सर्वगतस्य ब्रह्मणोऽविद्यायामपि सर्वगतायां सत्त्वेन कथं प्रतिबिम्बः स्यात् । न च संयोगसम्बन्धेन तत्र वर्तमानत्वमप्रतिबिम्बे प्रयोजकम्, एतयोश्च न संयोगो, विभुत्वादतो नानुपपत्तिरिति वाच्यम्। संयुक्तस्यापि प्रभामण्डलस्य तथा प्रतीतेः । न च यदंशे संयोगस्तदंशे न तथेति वाच्यम् । बिसिनीसूत्रमात्रान्तरिताङ्गुलीतलभागस्थप्रभाया अपि दर्पणे प्रतिबिम्बात् । किञ्च 'द्वा सुपर्णा सयुजा', 'गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे' 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शना' दित्यादिश्रुतिन्यायनिर्णीता जीवपरमात्मनोरेकत्र स्थितिर्बिम्बप्रतिबिम्बपक्षे न संगच्छते । तयोर्लोके तथाऽदर्शनात् । अपरं च, अविद्यायां ब्रह्मप्रतिबिम्बो जीव इति, मोक्षश्चाविद्यानाश इति वदतस्तव मते जीवखरूपनाश एव मोक्ष इति संपद्यते। तथा च 'आत्महानमपुरूषार्थ' इति मोक्षस्यापुरूषार्थत्वमापद्येत। जीवस्यालीकत्वमपि स्यात्। तथा सति कोऽपि पारलौकिकप्रयत्नं न

कुर्यात् । तथा हि-मुमुक्षुर्हि मोक्षस्वरूपं, बद्धत्वेन स्वस्वरूपं च ज्ञात्वा तत्साधने यतिष्यते । तथा चोक्तोभयखरूपज्ञाने सर्वं मिथ्येति ज्ञात्वा, प्रवृत्तिश्चाविद्याध्यासकृतैवैहिकी पारलौकिक्यपीति ज्ञात्वा च, वरमैहिक्येव, न तु पारलौकिकी, स्वरूपहानिहेतुत्वादिति सर्वप्रवृत्तौ निवृत्तिमार्ग एवोच्छिद्येत । तूष्णीं वा तिष्ठेत् सर्वोऽपि । निषिद्धविहितयोश्चाविशेषात् कुतोऽपि न निवर्तेतैवेति सन्मार्गमात्रोच्छेदनायेदृशं मतं प्रवर्तयन्, व्यवहारमात्रे वेदमपि प्रमाणत्वेनोररीकुर्वन् प्रच्छन्नबौद्धोऽसि । वेदमपि स्वाज्ञानकल्पितं ब्रुवन्नतिधृष्टोऽसि । नन्वखिलप्रपञ्चस्यैव तथात्वात्तन्मध्यपातित्वेन वेदेऽपि तथात्वं ब्रवीमि; बाढं ब्रवीषि; निरङ्कुशत्वात् ते तुण्डस्य, न तु युक्तियुक्तं ब्रीवषि । तथाहि-न हि प्रतिबिम्बिताम्रतरूकदम्बफलादानाय प्रसारितबाहुः प्रतिबिम्बितत्वं जानन् दृष्टचरः कश्चित् । एवं वेदे तथात्वं जानन्, तदुक्तस्वर्गाऽपवर्गादिफलकयागसंन्यासादिषु बह्वायाससाध्येषु सर्वबन्धुपरित्यागेन सर्वसुखवैमुख्येन च को वा प्रवर्तेत । ननु स्वप्ने स्वाप्निकफलार्थं प्रवृत्तिर्दृष्टचरी । सत्यम् दृष्टचरी? तदा तत् सत्यमेवेति विदुषो, न तु स्वप्नमिमं पश्यामि, न पारमार्थिकमिति स्वप्न एव विदुष इति गृहाण । ननु विशेषदर्शनस्य स्वसजातीयस्यैव भ्रमस्य निवर्तकत्वात् प्रकृते च प्रापञ्चिकभ्रमस्यापरोक्षरूपत्वाच्छाब्दं ज्ञानं न तन्निवर्तनसमर्थमिति प्रवृत्तिरूपपद्यत इति चेद्, नैतत् सारम् । प्रतिबिम्बत्वेनानुमिताऽसत्त्वानामपि तरूणां चाक्षुषप्रतीतिवत्, शाब्दज्ञानानन्तरमपि प्रपञ्चप्रतीतिरास्तां नाम, न तु जातु प्रवृत्तिः । अन्यथा तत्फलार्थापि प्रवृत्तिः स्यात् । प्राग् जातस्य च यागब्रह्मज्ञानयोः स्वर्गमुक्तिफलकत्वज्ञानस्य पश्चाज्जातेन तन्मिथ्यात्वज्ञानेन बाधे बाधकाभावः, उभयोरपि शाब्दत्वात् । ननु द्वैतप्रतीतिरेवानर्थरूपा, तन्निवृत्तिश्च अपरोक्षब्रह्मज्ञानं विना न भवतीति तदर्थं प्रवृत्तिरिति चेत् ॥

(७) अत्र मिथ्यावादी प्रष्टव्यः,-तदनर्थत्वैतत्कार्यकारणभावावगतिस्तव कुत इति । श्रुतित इति यदि ब्रूयात् तदा स वक्तव्यः । 'निश्वसितमस्य वेदाः' यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' 'वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुमः' 'वेदेश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्' इत्यादिखस्मृतिविरूद्धं म[1]दज्ञानकल्पितत्वं स्वस्य लौकिकवाक्यावैशिष्ट्यापादकं कथं श्रुतिर्वक्तुमर्हतीति स्वयमेव विचारय। किञ्च, पूर्वं वेदानां पारमार्थिकसत्त्वं ज्ञात्वा तदौदासीन्येन वा तच्छ्रवणे प्रवृत्तस्त्वदुक्तरीत्या च श्रुतेस्तदुक्तसाधनानां च अज्ञानकल्पितत्वं श्रुत्वा स्वाप्निकभोजनेन परमार्थतस्तृप्तिवदसत्तुल्यैर्गुरूतद्वाक्यैः कथं परमार्थसद्रूपं ब्रह्म फलिष्यतीति शङ्कया अवधारणेन वा न कश्चित् प्रवर्ते-त । ननु यत एवावधारणं तत एव प्रवृत्तिरपीति चेत्, मैवम् । पूर्वं तथाऽवधारणेऽपि तादृशानामेव तदुक्तसाधनानामतादृशब्रह्मफलकत्वं श्रुत्वा उक्तदृष्टान्तन्यायेन बाधितार्थत्वं जानन्नेकतरबाधोऽप्यशक्यः, श्रुतित्वाविशेषादित्यपि जानंस्तदर्थं संदिहानस्तन्निर्णयार्थं प्रवृत्तो 'निःश्वसित'-मिति 'यो ब्रह्मण' मिति 'नामरूपे व्याकरवाणी' ति 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं' 'तत्सत्य' मिति 'तदात्मानँ स्वयमकुरूत' 'तत् सत्यमित्याचक्षते' 'कथमसतः सज्जायेते'ति, 'वेदो नारायणः' 'वेदेश्च सर्वैः' 'अहं सर्वस्य प्रभवः' 'तेने बह्म हृदा' 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' 'जन्माद्यस्य यतः' 'आनन्दमयोऽभ्यासा' दित्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायसहस्त्रैर्बाधितत्वावधारणात् त्वदुक्तरीत्या न विचारकस्य प्रवृत्तिः संभवति । संप्रति तु विचारकाणामप्यासुरगोत्पन्नत्वेन भगवन्मायामोहितानां न बाधज्ञानं पूर्वोक्तमिति तथैव प्रवृत्तिः । अत एव 'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा । बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छती' ति मार्कण्डेयेनोक्तम् । यतस्तथैव हरीच्छा । तदुक्तं पाद्मादौ- 'द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु । स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान् मद्विमुखान् कुरू । मां च गोपय येन स्यात् सृष्टिरेषोत्तरोत्तरे' त्यादि । फलं च तेषामन्धंतम एव । 'मामप्राप्यैवे' तिवचनादित्यलमतिप्रसङ्गेन ॥

मायिकसिद्धान्तरीत्या न वैधप्रवृत्तिः संभवतीति ।

---

१. यदज्ञानेति पाठः ।

प्रकारान्तरेणबिम्बप्रतिबिम्बभावखण्डनम् ।

(८) अपरं च लोके हि द्रष्टुरेव दर्पणादिदोषसम्बन्धात् प्रतिबिम्बदर्शनं दृश्यते। तथा च परमात्मन्यविद्यासम्बन्धानङ्गीकाराज्जीव-द्रष्टृत्वं तस्य न स्यात् । तथा सति श्रुतिर्द्रष्टृत्वनियामकत्वबोधिका बाधितविषया स्यात्। एतदनुरोधेन द्रष्टृत्वाङ्गीकारे पूर्वोक्तन्यायेन अविद्यासम्बन्धित्वे जीवतुल्यतापत्तिरिति महद्व्याख्यानकौशलं प्रच्छन्ननास्तिकस्य । किञ्चैवं 'गुहां प्रविष्टा' वितिश्रुत्यर्थबाधः । जीवाज्ञानकल्पितत्वात् गुहायाः, परमात्मनस्तददर्शित्वेन सहप्रवेशानुपपत्तिः । जीवन्मुक्त्यनुपपत्तिश्च । तथाहि-अन्तःकरणे अविद्यायां वा त्वया प्रतिबिम्बो वाच्यः । अन्तःकरणपक्षे जीवन्मुक्तस्य तत्सत्वे संसारित्वमेव स्यात् । तदसत्वे परममुक्तिरेवेति क्व जीवन्मुक्तिः? अविद्यापक्षस्तु सुतरामसङ्गतः । तस्य अपरोक्षब्रह्मज्ञानवत्त्वेन अज्ञानस्य निवृत्त्या तत्प्रतिबिम्बरूपजीवरूपस्यापि निवृत्तत्वाज्जीवन्मुक्तस्य देहः स्पन्दितुमप्यसमर्थः स्यात् । न च प्रारब्धमात्रशेषाऽविद्या तदाऽस्तीति सर्वमुपपद्यते इति वाच्यम् । ब्रह्मसाक्षात्कारैकनाश्यायास्तस्यास्तस्मिन् सति वक्तुमशक्यत्वात्, प्रतिबन्धकाभावात् । तेनानिवृत्तौ कदाप्यनिवृत्तिप्रसंगश्च । भोगैकनाश्यं तदिति चेत् । तर्ह्यविद्यातत्कार्यातिरिक्तं तदिति किं वक्तुमुद्यतोऽसि । न हि रज्जुज्ञानानन्तरं केनाप्यंशेन तस्मिन् सर्पज्ञानं, तत्कृतभयादिकं चानुवर्तते । अनुवर्तते कम्पादिरिति चेद्, अनुवर्ततां नाम पूर्वकारणजः स्वरूपसन्कम्पो, नतु तेनाऽन्यत् किञ्चित् कर्तुं शक्यम् । एवं प्रारब्धेनापि देहविद्यमानतैव संपादयितुं शक्या, न तु भोगादिरपि अध्यासाभावात् । सुषुप्तौ तथोपलम्भात् । अपरञ्च, सर्पज्ञानजनितः कम्पो वेगाख्यसंस्कारवशा दनुवर्तते । प्रकृते चाज्ञानकार्ये प्रारब्धे संस्काराऽभावात्, ज्ञाननाश्यतावश्यंभावाच्च, ज्ञाने सति कथं तदनुवृत्तिर्भवेत् । प्रवचनानुपपत्तिश्च । जीवन्मुक्तिनिरूपकश्रुतिस्मृतिपुराणविरोधोत् सा नास्तीति न वक्तुं शक्यम्। तस्मात्प्रतिबिम्बो जीव इति पक्षोऽसङ्गतः ॥

जीवस्याभासता, तन्निरासमुपक्रम्य आभासकसम्बन्धतदनादित्वादिखण्डनम् ।

(९) स्यादेतत्, न वयं प्रतिबिम्बं जीवं ब्रूमः । किन्त्वङ्गुल्यादिसंपर्काच्चन्द्रादिद्वैताभासवदविद्यातो ब्रह्माप्यनेकवदवभासमानं द्वित्रादिसंख्यायोगि जीवपदवाच्यमिति । नैतद्विद्वदादरणीयम् । तथाहि-अविद्यासंबन्धाद्ब्रह्मणोऽनेकवदाभासः कस्येति विचारणीयम् । न तावद्ब्रह्मणः, तत्र भ्रमायोगात् । नापि जीवस्य, तादृशावभासविषयत्वात् । न हि दोषवशाद्गृहीतचन्द्राणामेव[1] स्वानेकत्वावभासः संभवति, चन्द्रस्य वा । तेषामलीकत्वात्, द्रष्टरि सत्येव तेषां भानाच्च । दोषासम्बन्धादेव न तस्य । किञ्चैवं, जीवात्मनियामकत्वस्य परमात्मन्यसं-भवः । तथा च 'य आत्मानमन्तरो यमयती' त्यादिश्रुतिर्बाधितविषया स्यात् ॥

अपरञ्च, अविद्याब्रह्मणोः कः सम्बन्धः ? । न तावत् संयोगः, तयोर्विभुत्वेन तदनङ्गीकारात् । नाप्यध्यासः, तस्याऽप्यभावात् । नापि स्वरूपलक्षणः, मुक्तात्मन्यपि तत्सम्भवेन संसारित्वापादकत्वप्रसंगात् । आस्तां वा यः कश्चित् सम्बन्धः, सोऽप्यनादिर्वाच्यः । तथा च ब्रह्माविद्यातत्सम्बन्धानामनादित्वेन जीवविभागस्याप्नादित्वादविद्यासम्बन्धजीवविभागयोः कार्यकारणभावासंगतिः । एककालीनत्वात् । ननु श्रुतिबोधितः कार्यकारणभावः, तर्हि तन्निर्वाहाय जीवविभागस्यार्वाचीनतामूरीकुरू । 'बन्धोऽस्याविद्ययाऽनादि' रितिवाक्यात् सोऽप्यनादिरेव मन्तव्य इति चेत्, मैवम्; न हि सर्वात्मना तत्र सादित्वनिषेधः, किन्तु घटपटादिसाधारणतन्निषेधः । यथा देवेषु मरणनिषेधोऽमरनाम्ना । अन्यथा अविद्ययेति करणत्वबोधकं तृतीयान्तं न वदेत् । तच्च बन्धलक्षणकार्यात्पूर्वकालीनत्वं विनाऽस्या न निर्वहति ॥

ननु बन्धनैकस्वभावायास्तस्या जीवस्य चानादित्वे किञ्चित्कालं न बन्ध इत्यत्र को हेतुः । तदा जीवस्वरूपं कीदृशमित्यपि विचारणीयम् । मुक्तमिति तु न वक्तुं शक्यम्, साधनाभावदग्रे बन्धाच्च । न वा बद्धम्, तस्य भावित्वात् । एतदुभयातिरिक्तावस्था चाप्रसिद्धेति नैवं वक्तुं युक्तमिति चेत्; नैतत्साधु ।

---

[1] मिव पाठः । [2] 'अजन्यत्वेने' ति पाठः ।

'श्रिया पुष्ट्ये' तिवाक्ये मुख्यासु द्वादशशक्तिषु गणनादविद्याया भगवच्छक्तित्वेन तदिच्छाधीनत्वात् । तथा च यद्बन्धने तदिच्छा तमेव सा बध्नाति, नान्यम् । अत एव शुकसनकादीनां सर्वदा मुक्ततैव । तेषु तथेच्छाभावात् । अत एव श्रुतिरपि 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं, यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति, एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं, यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषती'ति तदिच्छाऽधीनत्वमेवाह । जीवस्वरूपं चाग्रे वक्ष्यामः ॥

अन्यच्च, अविद्यासम्बन्धमात्रेण जीवभावं वदतः, शुद्धब्रह्मण्येव च तत्सम्बन्धं वदतस्तव मते जीवभावानापत्तौ हेत्वभावान्निरवयवत्वाच्चांशभेदेन तथात्वस्य वक्तुमशक्यत्वाच्च सर्वज्ञत्वादिविशिष्टपरमात्माऽसिद्ध्या सर्वश्रुत्युपप्लवः ॥

किञ्च, जीवपरमात्मनोरनादिसिद्धं भेदं वदन् पारमार्थिकं कुतो न ब्रूषे । यतः श्रुतिरनयोरभेदं बोधयति, स च परमार्थतो भिन्नयोर्न सम्भवतीत्यवास्तवो भेदोऽत्र वाच्यः । तादृशश्च भेदो बिम्बप्रतिबिम्बयोराभासतदाश्रययोश्च दृष्टचरो लोके इति तथाऽत्रापि ब्रवीमि । अत एव महावाक्ये भागत्यागलक्षणापि । बाढं ब्रवीषि, परं पूर्वाऽपरालोचनरहितः । तथा हि, - स्यादेतदेवम्, यदि 'तत्त्वमसी'त्येतन्मात्रं महावाक्यं स्यात् । न त्वेवम्, किन्तु संपूर्णः प्रपाठक : । तत्रोपक्रमे 'अपि वा तमादेशमप्राक्षो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञात' मित्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातम् । तदेकमेव चेत् सर्वं भवेत्, तदोपपद्यते । यथा सुवर्णखण्डाः सुवर्णकार्यं च सर्वं सुवर्णमिति सुवर्णज्ञानेन तज्ज्ञ[1]तं भवति । अतो ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानं वक्तुं सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वं 'सदेव सौम्ये' त्यारभ्य निरूपितम् । तत्र 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इति जडस्य सर्वस्यापि तदात्मकत्वमुक्तम् । ततो जडस्य विनाशित्वदर्शनेन अब्रह्मत्वशङ्कानिरासायाह- 'तत्सत्यम्' इति। तेनाविर्भावतिरोभावावेव श्रुत्यभिमतौ, नाशोत्पत्तिप्रतीती भ्रान्ते । तथा च विष्णुपुराणे प्रथमेंऽशे- 'तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम् । आविर्भावतिरोभावजन्मनाश-विकल्पवदि'ति ॥

---

१. ज्ञानमिति पाठः ।

अविर्भावतिरोभावखण्डनम्। (१०) नन्वाविर्भावतिरोभावौ नित्यावनित्यौ वा ? नाद्यः, सततं घटोपलम्भानुपलम्भप्रसङ्गाभ्यामनिर्वाच्यतापत्तेः । तयोर्धर्मत्वेन विरोधात् । तादृग्धर्म्यसिद्धौ तयोरपि वक्तुमशक्यत्वेन शून्यवादश्चापद्येत । साधने प्रवृत्तिश्चानुपपन्ना स्यात् ॥ किंच, वर्तमानस्य वस्तुनो दर्शनयोग्यतातदयोग्यतात्मकौ हि तौ, । तथा सति क्व भगवच्छक्तित्वम् । एवं सति घटोपलम्भानुपलम्भयोः कादाच्त्कित्वे हेतावुच्यमाने तत्तत्कारणस्तोमपरंपरयोस्तथात्वं तथेति वाच्यम् । एवमीश्वरेच्छापर्यन्तं धावने तस्या अपि नित्यत्वेन न पूर्वोक्तदूषणोद्धारः, अपसिद्धान्तश्च । न चेतरसहकार्यभावान्नोक्तदूषणमिति वाच्यम् । उक्तरीत्या तस्यैव निरूपयितुमशक्यत्वात् । नाप्युक्तयोग्यतात्मकत्वं तत्त्वमिति वक्तुं शक्यम् । वाय्वाद्यव्यापकत्वात् । न च दर्शनपदमनुभवपरमिति वाच्यम् । अतीतानागतयोरपि चाक्षुषत्वप्रसङ्गात् ।

एवं सति तिरोभावोच्छेदश्च । किञ्च, तौ प्रतिव्यक्ति भिन्नावभिन्नौ वा ? नान्त्यः, युगपत् सकलोपलम्भप्रसङ्गात् । न चावच्छेदकभेदान्न तत्प्रसङ्ग इति वाच्यम् । विचाराक्षमत्वात् । तथाहि-अवच्छेदको हि घटादिः । तथा च तत्तदवच्छिन्न आविर्भाव इत्यागतम् । तथा चावच्छेदकस्य नित्यत्वात्सदोपलम्भः स्यात् । अनुपलम्भो वा । न च तत्तत्कालोपाध्यवच्छेदभेदान्न तत्प्रसङ्ग इति वाच्यम् । तस्यापि त्वन्मते घटतुल्यत्वात् । न ह्येकदोपलभ्यमानानां तथात्वमनुपपन्नम् । आविर्भावस्याविर्भावस्तत्तदवच्छेदेनेति न वक्तुं शक्यम् । तत्राप्युक्तविकल्पैरनवस्थापातात् । तिरोभावोऽप्येतेन व्याख्यातः । नाद्यः, 'आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिण' इतिवाक्यविरोधात् । न चानन्तशक्तिमत्त्वेन तदुपपत्तिः । एकजातीयकार्यकरणे एकयैव संभवति सत्यनेकतत्कल्पने मानाभावाद्, गौरवाच्च । उक्तरीत्या कादाचित्कत्वहेतुरपि न निरूपयितुं शक्यः । न द्वितीयः, उक्तविरोधात् । भगवद्धर्माणां नित्यत्वात् । तथा सति उत्पत्तिस्तयोर्वाच्या । तर्हि घटादीनामेव तामङ्गीकुरु,

किमन्तर्गडुभ्यामेताभ्याम् । अपसिद्धान्तश्च । तदुत्पादकं च दण्डमुद्गरादिकमेवत्वया वाच्यम्, तच्च घटतद्ध्वंसोत्पादकमेव । तिरोभावश्च घटादेर्न वक्तुं शक्यः । तथा सति वस्तुसत्तया लौकिकप्रत्यक्षा विषयत्वेऽपि ध्वस्तो घटो योगिनोपलभ्येत। रूपवतः सतो योगिप्रत्यक्षविषयत्वनियमात् । न चैवम्, प्रमाणाभावात्, 'प्रजाश्च तुल्यकालीना नाधुना सन्ति कालिता' इति श्रीभागवतवाक्याच्चेति प्राप्ते-

आविर्भावतिरोभावयोर्लक्षणनिरूपणमुखेन मण्डनम् ।

(११) अत्रोच्यते तत्स्वरूपं तच्छ्रुत्वाऽपास्य संशयान् । ब्रह्मवादे कृतात्मानः प्राप्नुव[1]न्तु हरिं बुधाः ॥ अनुभवविषयत्वयोग्यता आविर्भावः । तदविषयत्वयोग्यता तु तिरोभावः । ते च वस्तुत्वेनैवावच्छिद्येते । न ह्यलीके ते संभवतः, तयोर्धर्मत्वन निराश्रयत्वासंभवात् ॥

किञ्च, भावित्वेन भूतत्वेन च व्यवह्रियमाणयोर्वस्तुनोः सत्ता त्वयाऽप्युररीकार्या, तयोर्घटादिधर्मत्वेन तदभावे निराश्रयत्वप्रसङ्गात् । एतेन वर्तमानप्रागभावप्रतियोगित्वं भावित्वम्, वर्तमानध्वंसप्रतियोगित्वं ध्वस्तत्वमिति निरस्तम् । न च कालोपाधिरेव तदाश्रय इति वाच्यम् । तत्र तद्वैशिष्ट्यप्रतीतिप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ननु यथा तन्त्वधिकरणकपटनिरूपितसमवायस्य काले सत्वेऽपि तत्समवेतत्वेन न पटे प्रतीतिः । तेन सम्बन्धेन तत्रासत्त्वात् । तथात्र तत्प्रतियोगित्वाभावान्न तथा प्रतीतिरिति चेत्, न । प्रतियोगित्वस्य स्वरूपसम्बन्धविशेषत्वेनाङ्गीकारत् । तस्य च स्वरूपद्वयात्मकत्वात्, तस्य चात्रापि सत्वात् ॥ ननु तत्सत्त्वेऽपि स विशेषो नात्रेति चेत्, हन्त? स को वा ? यत्रेदृशी तव श्रद्धा । न दृष्टः, प्रमाणाभावात् । ननु तद्द्वयसत्त्वेऽपिवैशिष्ट्याप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या सम्बान्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्वलक्षणः स कल्प्यते इति चेद्, मैवम् । उक्तरूपस्यापि काल एव सत्त्वं त्वया वाच्यम् । तथा चोक्तदूषणभिया तत्समवायस्य प्रयोजकत्वं वाच्यम् । तथा च तदा समवाय्यभावेन उक्तयोग्यत्वसमवायस्य कुत्रापि वक्तुमशक्यत्वात् कालश्रयत्वस्याप्यसिद्धेः। जन्यभावस्यान्यत्र

---

[1] वन्ति इति पाठः ।

समवेतस्यैव कालाधारत्वनियमात् । अन्यथा असतोऽप्याश्रयः काल इत्यङ्गीकार आपद्येत । न ह्यन्यधर्मस्य कालाश्रयत्वेनैव सिद्धिः क्वचिद् दृष्टचरी । तथा सत्वन्यधर्मत्वव्याहतेः । अतो भवित्वभूतत्वव्यवहारकालेऽपि घटादिसत्ता ऊरीकार्या ॥ किञ्च, त्वदुक्तयोग्यता केनावच्छिद्यत इति पृच्छामः । तत्र चेद्यदा कदाचिद्वस्तुसत्तयैवावच्छिद्यत इति ब्रवीषि, तदा 'यदा कदाचिद्' इति त्यज । अप्रयोजकत्वाद्, गौरवाच्च । तथा, सम्बन्धान्तरन्तरेणेति च । स्वरूपस्य सम्बन्धत्वे सिद्धे सम्बन्धान्तरपदं सार्थकं भवेत् । तथा चात्माश्रयः । न च षोढासन्निकर्षाभावेऽपि तथात्वं तदर्थ इति वाच्यम् । योगजधर्मेऽतिव्याप्तेः । न च लौकिकतज्जननयोग्यत्वं विवक्षितमिति वाच्यम् । सव्याप्तिवैशिष्ट्यज्ञानजनकसामान्यप्रत्यासत्तावतिव्याप्तेः । न च (अ) जन्यलौकिकप्रत्यासत्तिं विनापि तथात्वं तदर्थ इति वाच्यम्, योगजधर्मेऽतिव्याप्तेः । न च सामन्ययोगजधर्मज्ञानलक्षणषोढाप्रत्यासत्त्यभावेऽपि तथात्वं तदर्थ इति वाच्यम् । असिद्धेः । न ह्युक्ततदभावे तथात्वं क्वचित् सिद्धम् । विवादास्पदीभूतभावित्वादेस्तु पूर्वोक्तयुक्त्या निराश्रयत्वप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वेन तदाऽपि धर्मिसिद्धावनुमानादिना तज्ज्ञाने तत्समवेतोक्तप्रतियोगित्वमपि विषयीभवतीति नोक्तप्रत्यासत्त्यभाव इति सर्वमनवद्यम् ॥

(१२) ननु मम तु यथाकथंचिद् गतिः काचन भवित्री, तव तु न काऽपि।

भावित्वानुपपत्तिपरिहारपूर्वकाविर्भावतिरोभावनिष्कृष्टलक्षणप्रदर्शनम् ।

तथा हि-त्वन्मते घटादेः सदा सत्वेन भावित्वं न वक्तुं शक्यम् । श्रुतिस्मृतिलौकिकव्यवहारसिद्धत्वेन नेष्टापत्तिः कर्तुं शक्या । न च लौकिकप्रत्वक्षविषयत्वगतं भावित्वं घटादावुपचर्यत इति वाच्यम् । तस्यापि घटसमानयोगक्षेमत्वात् ।

न हि प्रपञ्चातिरिक्तं तत् । स्वोक्तदूषणभियापि नैवं वक्तुं शक्यम् । तथा सति घटस्यापराधः को वेति न विद्मः । तथा च जीर्णतार्णपर्णाकीर्णविविधमतभवनमये वर्णपुरे स्वयमपि वसन् दूषणदहनमुद्भावयन् निजभवनदाहं किं नानुसंधत्स इति चेत्, ॥ वत्स ! न वेत्सि किं,

युक्तिकनकपङ्कसंघट्टितविविधनिगममहामणि विरचितब्रह्मवादभवनं मम । तथा हि- 'स हैतावानास' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' 'तत्सत्यम्' 'पुरूष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्' इत्यादि श्रुतिभ्यः प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मत्वमवगम्यते। अत्र सर्वपदेनासंकुचितवृत्तिना भूतभव्ययोरपि प्राप्तावपि तदुक्तिर्या सा पुरूषस्य नित्यत्वेन तदात्मकस्य वर्तमानदशैव संभवतीति भावित्वभूतत्वव्यवहारोऽप्रामाणिक इतिशङ्कानिरासायेति ज्ञायते । तथा धर्माणामपि ब्रह्मरूपत्वाद्घटादिषु तदात्मकतत्सत्त्वं न विरूद्धम् । स्वतः सिद्धप्रामाण्यश्रुतिवाक्यबलात् ॥

नन्वेवं दर्शनसमयेऽपि तद्व्यवहारापत्तिर्वैपरीत्यापत्तिश्च विरोधोच्छेदश्चेति चेत् न। यथा पृथिव्यात्मक एव तस्मिन् गन्धात्मकतत्सत्ता, नापरस्मिँस्तथा यदा यस्मिन् यथा व्यवहाराभावनियमस्तदा तस्मिन्नेव तथविधविरोधात्मकतत्सत्त्वमिति तथेति नोक्तदूषणगन्धोऽपीति बुद्ध्यस्व। यत्रोक्तनियमाभावस्तत्र तु न तथा । तथा चोक्तमाश्रमवासिके पर्वणि गान्धारीं प्रति बादरायणेन - 'देवाश्च दानवाश्चैव तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः । त एते निधनं प्राप्ताः कुरक्षेत्रे रणाजिरे' इत्युपक्रम्य, धृतराष्ट्रादिभीष्मान्तानां स्वरूपमुक्त्वा गान्धार्यादिदुःखनिवारणायाह 'सर्वे भवन्तो गच्छन्तु नदीं भागीरथीं प्रति । [1]ततो द्रक्ष्यथ सर्वाँस्तान् ये हताः स्म रणाजिर' इति। ततो धृतराष्ट्रपाण्डवादयः सस्त्रीकास्तत्र गत्वा स्नात्वा निशायां जातायां व्याससमीपं गताः । 'ततो व्यासो महातेजाः पुण्यं भागीरथीजलम् । अवगाह्याजुहावाऽथ सर्वांल्लोकान् महामुनिः। पाण्डवानां च ये योधाः कौरवाणां च सर्वशः। राजानश्च महाभागा नानादेशनिवासिनः । ततः सुतुमुलः शब्दो जलान्ते जनमेजय ! । प्रादुरासीद् यथा पूर्वं कुरूपाण्डवसेनयोः । ततस्ते पार्थिवाः सर्वे भीष्मद्रोणपुरोगमाः । ससैन्याः सलिलात्तस्मात्समुत्तस्थुः सहस्त्रश' इत्यादिना सर्वान्नामपूर्वकं निरूप्याह- 'एकां रात्रिं विहत्यैवं ते वीरास्ताश्च योषितः । आमन्त्र्यान्योन्यमाश्लिष्य ततो जग्मुर्यथागतम्' । एतच्छ्रुत्वा जनमेजयः पप्रच्छ-

---

[1] तत्रेति पाठोऽधुनोपलभ्यते ।

'कथं च त्यक्तदेहानां पुनस्तद्रूपदर्शन'मिति । तदा वैशम्पायन आह- 'अविप्रणाशः सर्वेषां कर्मणामिति निश्चयः। कर्मजानि शरीराणि तथैवाकृतयो नृप। महाभूतानि नित्यानि भूताधिपतिसंश्रया' दित्यादि। एतदग्रे '*अविनाशी तथा नित्यः क्षेत्रज्ञ इति निश्चयः। भूतानामात्मभावो यो ध्रुवोऽसौ संप्रजानताम्' इत्याद्यनेकमुक्त्वाह- 'अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः । नाहं तं वेद्मि, नासौ मां, न च मेऽस्ति विरागते'ति । न चेदं * मायया प्रदर्शितं व्यासेनेति वाच्यम्। तथा वचनाभावात्। 'प्रसादात्तस्य वै मुने' रिति वाक्याच्च। पव्रितानां तासां स्वस्वभर्तृभिः सह विहारकथनाच्च । गङ्गास्नानादिसाधनोपदेशानुपपत्तेश्च । 'अदर्शनादापतित' इत्यत्र ल्यब्लोपे पञ्चमीति, पुनःशब्दाच्च दर्शनात्पूर्वं वस्तुसत्ता प्राप्यते। एवं सति यद्यद्देशकालावच्छेदेन यस्य यथा प्रतीतिर्भगवतेच्छाविषयः कृताऽस्ति, तत्तद्देशकालावच्छेदेन तथा प्रतीतिर्भवतीति सिद्धम्। इदं तु यथा तथा 'परात्तु तच्छ्रुते' रित्यधिकरणे निरूपयिष्यामः । एतेन घटोपलम्भानुपलम्भयोः कादाचित्कत्वमनुपपन्नम्, तादृशतद्धेतोर्वक्तुम-शक्यत्वादिति निरस्तम् । लौकिकप्रत्यक्षाविषयत्वेऽपि वस्तुसत्तया योगिप्रत्यक्षविषयत्वं स्याद्भूतभाविनां वस्तूनामित्यपि। यतस्तथा तदिच्छा न तत्र चकास्ति। फलबलकल्प्या हि सा। अस्तु वा तद्विषयत्वम्, बाधकाभावात् । उक्तप्रमाणैर्वस्तुसत्वे सिद्धे तस्य न्यायप्राप्तत्वाच्च । 'अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियम्। विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिन' इति वचनाच्च । एवं सत्यस्मिन् कालेऽस्मिन् देश इदं कार्यमेवं भवत्वितीच्छाविषयत्वमाविर्भावः, तदा तत्र तथा तन्मा भवत्वितीच्छाविषयत्वं तिरोभाव इत्यपि सुवचम् । एतयोरेवोक्तयोग्यतारूपत्वात् ॥ न च तत्तद्देशकालयोरपि नित्यवाद् युगपत्सकलोपलम्भप्रसङ्गोऽनुपलम्भप्रसङ्गो वा स्यादिति वाच्यम् । अस्मिन् सृष्टिकालात्मके स्थूले कालोपाधौ तदवयवात्मकतत्तत्कालोपाधौ क्रमिके तस्य तस्य पुरूषस्य तत्तदुपलम्भो भवत्वितीच्छाविषयत्वस्य तत्त्वात् । अत्रैतदिच्छाप्रकारत्वा[1]पन्नानां

---

* इषदन्योऽपि पाठोऽधुनोपलभ्यते

[1] मापन्नामिति पाठः ।

तत्तद्देशकालादीनामाविर्भावात्म-कैतदिच्छाविषयत्वादेतदेवाविर्भावरूपं तेषामपीति बुद्ध्यस्व । भगवदाविर्भावस्य भगवच्छक्तित्वमिति नानुपपत्तिः काचित् ॥

एवं सति यत्कालावच्छेदेन सर्वेषां मिथोऽनुभवाविषयत्वं भगवदभिमतं, स प्रलयकाल इति निगद्यते । यदवच्छेदेन सर्वेषां मिथोऽनुभवविषयत्वं तथा, स सृष्टिकाल इत्युच्यते । सर्वत्र विशिष्टेच्छैव नियामिकेति सर्वमनवद्यम्

॥ आविर्भूयारविन्दाक्षे भक्तिमाविष्करोति यः
सोऽव्यान्नः पितृपद्रेणुस्तिरोधानं च दुर्हृदाम् ॥

क्रमिकदेशकालनित्यत्वमूलकसर्वोपलम्भापत्तितत्परिहारौ ।

(१३) ननु तत्तद्देशकालयोरपि नित्यत्वाद्युगपत्सकलोपलम्भप्रसङ्गोऽनुपलम्भप्रसङ्गश्च स्यादिति चेत्, ननु तत्तद्देशकालावच्छिन्नतत्तत्पुरूषवत्तद्व्यवहारावपि स्त एवेति किमनुपपन्नम् ? तर्हि तावधुनाप्युपलभ्येतामिति चेत्, मैवम्; अनुपलम्भावच्छेदककालावच्छिन्नत्वात् पुंसां तदनुपलम्भात् तत्तत्कालस्य भिन्नत्वात्तत्तदवच्छिन्नपुरूषस्यापि भिन्नत्वाद्युगपत्सत्वाच्च तदुपलम्भानुपलम्भयोर्युगपत्सत्वं न विरूद्धम्। न च योहं पूर्वं घटमन्वभवं स एवाहमधुना नाऽनुभवामीतिप्रत्यभिज्ञानुपपत्तिः । सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वेन तस्य चैकत्वेन तदुपपत्तेः । न चैवमतिप्रसङ्गः । उपलम्भानुपलम्भयोरपि ब्रह्मात्मकत्वात्। स्वेच्छया यत्र यदुपलम्भरूपेणाविर्भवति तत्र तथा, यत्र च यदनुपलम्भरूपेणाविर्भवति तत्र तथेति नियमात् । यथा पृथिव्यामेव गन्धरूपेणाविर्भावो, न जलादिषु ॥

अत एवाचार्यैः श्रीभागवततत्त्वदीपे ‘अथ वा सर्वरूपत्वान्नामलीलाविभेदतः । विरोधांशपरित्यागात् प्रमाणं सर्वमेव हि’ इति निरूपितम् ।‘ब्रह्मणः सर्वरूपत्वेनानुष्णत्वरूपत्वेनापि, वह्निरनुष्ण’ इत्यादिवाक्यान्यपि प्रमाणानि । कुतः ? यतः सर्वत्राखण्डब्रह्मभानेन विरोधांशास्फूर्त्या विरोधांशस्त्यक्त एवेति वाक्यार्थः ॥

महावाक्यार्थनिरूपणम् ।

(१४) अत एव, पूर्वमेव ‘वाचारम्भणं विकार’ इति निरूपितम् । ततः पूर्वोत्तरयोर्जडजीवयोः सदात्मकत्वे मध्ये हेतुमाह- ‘स आत्मे’ति । एवं जडस्य तदात्मकत्वमुक्त्वा जीवस्याप्याह - ‘तत्त्वमसी’ति ।

अस्योपदेशत्वान्मुहुरुक्तवान् । ‘आवृत्तिरसकृदुपेशा’दिति ब्रह्मसूत्रात् । अतः सम्पूर्णं महावाक्यमुपदेशः । तत्र यथा- ‘ऐतदात्म्य’ मित्यत्र न भागत्यागलक्षणा सदंशे, तथा- ‘तत्त्वमसी’त्यत्र चिदंशेऽपि न सेत्यवगन्तव्यम्। तथा च सर्वस्यैव ब्रह्मवाक्यत्वात्तदेकदेश एव ‘तत्त्वमसी’ति वाक्यं जीवब्रह्मणोरभेदं बोधयतीति न वक्तुं शक्यम् । वाक्यभेदप्रसङ्गाद्, उपक्रमविरोधाच्च ॥ अपरं च, त्वन्मते जीवस्याभासत्वेन अलीकत्वात् ‘स आत्मे’ त्यन्तेन तत्पदार्थं निरूप्य ‘न त्वमसि’ इत्येव वदेन्न तु ‘तत्त्वमसी’ति । सत्तावाचकधातोर्मध्यमपुरूषप्रयोगानुपपत्तिश्च ॥

जगदाविद्यकतानिराकृतिमुखेन ब्रह्माकर्तृत्वनिरासः ।

(१५) किंच, अविद्यया कृत्वा ब्रह्मण्यारोपितं जगत्प्रतीयते रजतमिव शुक्तिकायामिति हि तव मतम्। तदसंभवि । आरोपे ह्यधिष्ठानज्ञानं कारणम् । अत्र च ‘पराञ्चि खानी’तिश्रुतेस्तस्याविषयत्वात्क्वारोपः? न च ज्ञाननाश्यत्वोक्त्या, अस्य ज्ञानस्य चाज्ञानमात्रनिवर्तकत्वेनाप्यज्ञानकार्यत्वमुच्यत इति वक्तुं युक्तम्। विष्णुस्मरणादिना अतद्रूपाणां पापानां नाशात् ॥ अस्तु वा ब्रह्मज्ञानस्याज्ञानमात्रनिवर्तकत्वम् । तच्च संसाररूपमेव, न तु प्रपञ्चः । भगवत्कार्यत्वात् । तथा च स्वरूपाज्ञानदेहेन्द्रियान्तःकरणप्राणाध्यासरूपपञ्चपर्वात्मकाऽविद्यानाशे तत्कार्यरूपाहन्ताममतारूपसंसारनाश एव ज्ञानकार्यं, न तु प्रपञ्चनाशोऽपि। ब्रह्मविदः स्वपुत्रादिदर्शनाभावप्रसङ्गाद् । नचैवमित्येतत्सर्वं भागवततत्त्वदीपनिबन्धे प्रपञ्चितं पितृचरणैरिति नात्र वितन्यते ॥

वस्तुतस्तु ब्रह्मज्ञानस्य नाज्ञाननिवर्तकत्वम् । ‘क्षीयन्ते चास्य कर्माणी’ति श्रुतिस्मृतिवचनात्पुण्यपापयोरपि निवृत्तिः । एतयोरप्यज्ञानकार्यत्वं पुरस्तादेव निरस्तम् ॥

किञ्च, अविद्याया असत्वेनाङ्गीकारात्तशोऽप्यशक्यनिरूपणः । इतोऽपि ब्रह्मणि तत्सम्बन्धोऽप्यशक्यवचनः, सम्बन्धस्य द्विनिष्ठत्वात्, प्रकृते चासम्भवात् । तथा च कस्य केन कस्य प्रतीतिः स्यात् । विभाजिकाया एवाभावेनैव विभागस्याप्यभावात् । अत एवासन्नेव प्रतीयत इत्युच्यते इति चेद्, अहो मूढता!! यत्स्वप्नप्रतीततरणिकिरणतापतप्तस्य तत उत्थितस्य जागरितदशादृष्टमरूमरीचिजलधिवीचिविभ्रमैस्तदुपशमाभिमानेन सुखिताभिमानो मिथ्यावादिनः । असतोऽपि प्रत्यायिका ह्यविद्या, सा चासतीति का प्रत्याययेदिति पूर्वोक्तं श्रुत्वाप्येवं वदन् मूर्खतां नातिवर्तसे । एतेनैव कार्यानुरूपेण कारणेन भाव्यमिति कार्यस्य तुच्छत्वेन तत्कारणं तादृश्यविद्योच्यते इत्यपि निरस्तम् । कार्यस्य तु तुच्छत्वातुच्छत्वे पश्चाद्विचारयिष्यामः ॥

संप्रति त्वद्रीत्यैव विचार्यते । कल्पना हि लोकानुसारिणी । तथा च यत्र मायाविनो नटा मणिमन्त्रादिना आम्रकदम्ब[१]तरूकदम्बं दर्शयन्ति, तत्र तद्दर्शिताम्रादिकमेवासद् दृष्टमिति ज्ञायते, तत्क्षणमेव तददर्शनात्, न तु तन्मन्त्रादिसामर्थ्यमपि । तथा सति तद्दर्शनमपि न स्यात् । सर्वोऽपि च तथा प्रदर्शयेदविशेषात् । तस्मात्त्वदभिमताविद्यया जगत्प्रतीतिर्जीव-विभागो वा न युक्तिसह इति न कर्तृत्वनिषेधो ब्रह्मणि शक्यनिरूपणः ।

जीवब्रह्माभेदानुपपत्तिप्रदर्शनपुरःसर उपहितकर्तृत्वविचारः ।

(१६) नन्वास्तां शुद्धमेव ब्रह्म जगत्कारणम्, तेन सहाभेदो जीवस्य कथं श्रुत्या बोध्यते । परस्परं विरूद्धधर्मत्वादुभयोः, परमार्थतो भिन्नयोरभेदासम्भवश्च । न चौपाधिकत्वेन भेदस्य, तदपगमे तत्सम्भव इति वाच्यम् । पूर्वोक्तन्यायेनोपाधेरेव निर्वक्तुमशक्यत्वात् । न च तात्त्विकभेदवतोरपि पाथसोर्मिलने सत्यभेदप्रतीतिवत् प्रकृतेऽपि 'नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे' इति वचनाद् ब्रह्मसम्बन्धे सति जीवस्तस्माद् भिन्नतया न प्रतीयत इत्याशयेनाभेदः श्रुत्या बोध्यत इति वाच्यम् । तयोरनन्त्यावयविसावयव्येकजातीयद्रव्यत्वेनोभाभ्यामेकं स्वसजातीयं कार्यमुत्पाद्यत इति युक्तं तदभेददर्शनम् । प्रकृते तूभयोरपि महत्वे सति निरवयवत्वेनारम्भकत्वासंभवाच्च न तथा वक्तुं शक्यम् । 'अविनाशी वाऽरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मे'ति श्रुतेर्नाशासंभवाच्च ॥

किञ्च, जीवब्रह्मणोः कः सम्बन्धः ? । न तावत् संयोगः । तयोर्विभुत्वेन तदनङ्गीकारात् । न समवायः । अनाश्रितत्वादुभयोः । नापि स्वरूपसम्बन्धः। तस्य सार्वदिकत्वेन सर्वदा जीवानुपलब्धिप्रसङ्गात् ॥ किञ्च, अणुजीवपक्षेऽपि ब्रह्मणो व्यापकत्वात्सकलजीवसम्बन्धस्य सार्वदिकत्वात्कदापि न ते प्रतीताः स्युः । नापि ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरमेव जीवस्य ब्रह्मभावो 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती' त्यादिश्रुत्या प्रतिपाद्यत इति ज्ञातृज्ञेयभाव एव सम्बन्धो वाच्यः । पारमार्थिकभेदस्यैतदनपनोद्य-त्वात् । अन्यथा देवदत्तविष्णुमित्रयोरप्यभेदापत्तिः ॥

किञ्च, सम्बन्धस्य द्विनिष्ठत्वात्संसारिणमपि जीवं ब्रह्म जानातीति ज्ञातृत्वसम्बन्धस्य तादृशे जीवेऽपि सत्वात्तस्याप्यभेदापत्तिः । ब्रह्मनिरूपितमेव तत्तदभेदसाधकमिति चेत्, न, 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' 'अदृश्यं द्रष्टृ' इत्यादिश्रुतिभिस्तस्य ज्ञेयत्वनिषेधात्। अभेदोऽपि जीवब्रह्मणोर्न तादात्म्यरूपः । स हि धर्मधर्मिभावे भवति, तस्यात्रासम्भवात् । पारमार्थिकभेदवतः पारमार्थिकाभेदोऽसंम्भावित इत्युक्तम् । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाऽनुपपत्तिश्च । एतेनैव चेतनत्वा-दिधर्मसारूप्येणौपचारिक एवाभेद उच्यत इत्यपि निरस्तम् । न च तद्विकारित्वेन प्रतिज्ञोपपत्तिः । तस्याऽविकारित्वश्रुतेः । जीवोऽपि 'न जायते म्रियते वा कदाचि' दित्यादिवाक्यैर्न विकार्यः । नापि जीवो ब्रह्मणोंऽशः । तस्य निरवयवत्वात् । 'अंशो नानाव्यपदेशा' दिति तत्त्वसूत्रादिकं त्वौपचारिकमंशत्वमाह । मुख्ये बाधकमुक्तमेव । तस्माद् ब्रह्मोपाधिरेव जीव इति मन्तव्यम् । अभेदबोधकश्रुत्यनुरोधात् । न चोक्तन्यायेनाविद्याया उपाधित्वासम्भवान्नैवं वक्तुं शक्यमिति वाच्यम् । श्रौतानुपपत्तेर्बलिष्ठत्वात् । तथा चोपहित-

---

१. तरूंदर्श' इति पाठः ।

स्यैवाभेदासम्भवादभेदसिद्ध्यर्थमुपाधेरपि प्रातीतिकमेव सत्त्वमुरीकार्यम् । पारमार्थिकसत्त्वे ज्ञाननाश्यत्वासम्भवात् । तथा च, 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यती'त्यादिना, अविद्यावस्थायामेव द्वैतदर्शनमुक्त्वा तदभावदशायां 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्ये' दित्यादिना च तन्निवारयति श्रुतिरित्याविद्यकत्वं प्रपञ्चस्यापि सिद्ध्यतीति, 'यतो वा इमानि' इत्यादिना च ब्रह्मकर्तृकत्वं प्रपञ्चस्य वदतीत्युभयसामञ्जस्यनिमित्तमविद्योपहितमेव ब्रह्म जगत्कारणमुच्यताम् । अत एव 'नान्योतोऽस्ति द्रष्टे' त्यादिश्रुतिरप्युपपद्यत इति ॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः -

जीवांशत्वोपपादनम् ।

(१७) श्रुतितस्तत्त्वसूत्रेभ्यः स्मृतिभ्यश्चांश एव सः ।
स्वार्थे प्रामाण्यतस्तेषां तेभ्य एवाणुरेव च ॥

भवेदेतदेवम्, यद्याविद्यकं जीवत्वं स्यात् । न त्वेवम्, किन्तु पारमार्थिकम् । न चाभेदबोधकश्रुत्यनुपपत्तिः, अंशांशिभावेनैव तदुपपत्तेः । ननु निरवयत्वं बाधकमुक्तमिति चेत्, सत्यमुक्तम् । तत्रैवेदं विचार्यते,-ब्रह्मस्वरूपं च श्रुतिगम्यं लौकिकप्रमाणगम्यं वेति? तत्र न द्वितीयः । तथाहि-न तावच्चाक्षुषम्, अरूपिद्रव्यत्वात् । नापि स्पार्शनम्, तद्रहितत्वात् । नापि गन्धादिवद् घ्राणेन्द्रियादिप्रत्यक्षम्, अगुणत्वात् । नाप्यनुमानगम्यम् । परिशेषेण ज्ञानप्रयन्ताधारत्वेनात्मसाधने आवश्यकत्वाल्लाघवाच्च तादृक्प्राणसिद्ध्यैवार्थान्तरत्वेन तदसिद्धेः । यथा कथंचित् सिद्धावपि नोपनिषद्विचारितरूपस्य सिद्धिः । तथा च स्वतःसिद्धप्रामाण्यैतद्विरोधेन बाधितत्वादनुमानस्य न तत्साधकत्वम् । नापि शब्दगम्यम् । तस्याप्तोक्तिरूपत्वेन [1]'तस्य च यथादृष्टार्थवादित्वेनात्मनश्चादृश्यत्वेन तदनुपपत्तेः । अत एव नोपमानगम्यमपि, किन्तु श्रुत्येकसमधिगम्यम् । 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी' ति श्रुतेः । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य' इति स्मृतेश्च । तदर्थश्च न लौकिकरीत्या निर्णेतुं योग्यः, अलौकिकत्वात् । तस्य च लोकविलक्षणत्वात् । किन्तु स्वयमेव वेदव्यासं कृत्वा तन्मीमांसां

---

[1] तत्त्वस्येति इति पाठः ।

च प्रतिज्ञापूर्वकं कुर्वतो वेदव्यासस्य सूत्रैः । तस्यैतदर्थाभिज्ञत्वात् । तत्र च जीवब्रह्मसम्बन्धविचारे ब्रह्मणोंऽश एव जीव इति निर्णीतम् । 'अंशो नानाव्यपदेशा' दिति । अस्यार्थः - जीवो ब्रह्मणोंऽश एव । कुतः ? नानाव्यपदेशाद्, नानाविधो यो व्यपदेशः । क्वचिद् ब्रह्मत्वेन, क्वचिदुत्पन्नत्वेन, क्वचिदज्ञत्वेन, क्वचिच्चिद्रूपत्वेन, क्वचिदीशितव्यत्वेन अणुत्वेन च, व्यापकत्वेन च निरूपणादेकस्यैव विरुद्धधर्माश्रयत्वं ब्रह्मातिरिक्तस्य न सम्भवतीति ब्रह्मांश एव जीव इत्यर्थः । अथवा, नाना व्यपदेशाद्भेदेन व्यपदेशात्तथेत्यर्थः । श्रुतिश्च 'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवाऽस्मादात्मनः सर्वे प्राणा' इत्युपक्रम्य 'सर्व एवात्मानो व्युच्चरन्ती'ति 'कपूयचरणा रमणीयचरणा' इति च ॥ यत्तु जीवस्य ब्रह्मोपाधिकत्वमङ्गीकृत्य विस्फुलिङ्गस्यौष्ण्यमिव चेतनत्वं साधारणो धर्मो जीवेश्वरयोरित्यौपचारिकमंशत्वं व्याख्याय नानाव्यपदेशदर्शनं श्रुतौ 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः' 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयती' त्यादेः । तत्तूपेक्ष्यं विद्वद्भिः । पूर्वापरविरोधात् । तथाहि - न हि तन्मतीयजीवस्याभासत्वेन प्रतिबिम्बत्वेन वाऽलीकस्य नियमनमतस्तस्मिन् स्थितिर्वा ज्ञानैकधनस्य परमात्मनः सम्भवति । न वा विस्फुलिङ्गौष्ण्यदृष्टान्तेन चेतनत्वं साधारणं धर्ममादायौपचारिकमंशत्वमपि व्याख्यातुं शक्यम् । तत एवांशत्वावगमप्रकारस्तु श्रुत्यैव 'यथाग्नेः क्षुद्रा' इत्यादिनोक्तः ॥

निरवयवत्वस्यांशत्वाबाधकतां प्रदर्श्य तादात्म्येन जीवब्रह्माभेदोपपादनम् ।

(१८) इदमत्र ज्ञेयम्,-ब्रह्मणो निरंशत्वं सांशत्वं वा न लोकसिद्धं, येन तदनुरोधेन किञ्चिद्वक्तुं शक्यम्, किन्तु वेदैकसमधिगम्यम् । एवं सति यथैव स निरूपयति, तथैव तदिति मन्तव्यम् । अत एव 'नैषा तर्केण मतिरापनेया,' 'अलौकिकास्तु ये भावा न ताँस्तर्केण योजये' दित्यादिका श्रुतिर्लौकिकयुक्त्यैतद्बाधनं निषेधति । अन्यथा सर्वत्र लौकिकयुक्त्यनुसारिण्येवार्थे श्रुतेस्तात्पर्यवत्त्वेन 'नैषा तर्केणे' त्यादिश्रुतिर्व्यर्था विरुद्धार्था च स्यात् । लोकेऽपि यत्र वस्तुस्वभाव एव कार्यहेतुर्न तत्र युक्तिसम्भावना । यथा अयः-कान्तसन्निधौ लोहपरिभ्रमणम् । न च तत्र मणिनिष्ठा देवताऽऽकर्षिकेति वाच्यम् । तस्या

अपि लोहस्यैवाकर्षणे हेत्वपेक्षायां देवतास्वभावस्यैव तथात्वेन वक्तव्यत्वादावश्यकत्वाल्लाघवाच्च मणिस्वभावस्यैव तत्त्वेन वक्तुमुचितत्वात् । तथात्रापि श्रुतिबलाद् वस्त्वेव तादृशमिति मन्तव्यम्, न युक्तिरपेक्षणीया । तथा च सैव ‘निष्कलं निष्क्रिय’मित्यादिना सांशत्वं निराकृत्य ‘यथाऽग्ने’रित्यादिना जीवस्य ब्रह्मांशत्वमप्याह । व्यासोऽप्यत एवेममेवार्थं दृढीकर्तुं हेत्वन्तराण्याह- ‘मन्त्रवर्णा’दिति ‘अपि च स्मर्यत’ इति च । मन्त्रवर्णश्च,- ‘पादोऽस्य विश्वा भूतानी’ति भूतानां जीवानां पादत्वेनांशत्वमेवाह । स्मृतिश्च- ‘ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन’ इति जीवस्य ब्रह्मांशत्वमे-वाह । अत एवाभेदश्रुतिरूपपद्यते । न हि विस्फुलिङ्गो नाग्निः । एवं जीवोऽपि ब्रह्मांशत्वाद् ब्रह्मैव ॥

(१९) तर्ह्यसार्वज्ञ्यानुपपत्तिः ? । न हि विस्फुलिङ्गो न दाहकः प्रकाशको वा । अल्पप्रकाशवदल्पज्ञत्वोपपत्तावपि भ्रमस्तु नोपपद्यते जातु । न च देहसम्बन्धकृतमनीशत्वादीति वाच्यम् । तस्यापि जीवभावोत्तरकालीनत्वात् । तस्मादीश्वराद्भिन्न एवानीशत्वादिधर्मविशिष्टो नित्यबद्ध एवेश्वरप्रसादजज्ञानतो मुक्तो भवतीति नांशो भवितुमर्हतीति । श्रुतिश्च प्रलयसमये भगवदुदरान्तःस्थानां जीवानां पुनः सर्गसमये ततो निर्गमनप्रकारमेवमा[1]ह विस्फुलिङ्गदृष्टान्तेन । ‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टे’त्यादिश्रुतिरपि जीवादिसर्वपदार्थविषयकदर्शनादिमत्त्वं सर्वदाऽन्यस्मिन्निषेधति, न तु परिच्छिन्नदर्शनादिकमपि । यथा, ‘पार्थ एव धनुर्द्धर’ इत्यत्र, न हि पार्थादन्यो न धनुर्द्धरः, किन्तु यथा स तथा नान्य इति, तथेहापीति चेद् ? । बाढमेवमङ्गीकुर्मो यदि वेदार्थतामरसतरणेर्भगवतो बादरायणस्य सूत्रैः सप्रमाणनिदर्शनैः ‘अंशो नानाव्यपदेशाद्’ इत्यादिभिस्त्वदुक्तं न विरुद्ध्येत । न चैवम् । किञ्च, विस्फुलिङ्गदृष्टान्तेन[2] यद्यात्मनामेवोत्पत्तिं वदेत् तदा त्वदुक्तप्रकार उपपद्येतापि । न चैवम्; किन्तु सर्वेषां प्राणानां, लोकानां, देवानां, भूतानामपि तथैव सृष्टिमुक्त्वा

भ्रमाद्यनुपपत्त्या । जीवब्रह्माभेदखण्डनम्, श्रुतिसूत्रादिबलेन तन्मण्डनं च ।

---

१. एवाह इति पाठः । २. न क्वचित् नास्ति ।

‘सर्व एवात्मानो व्युच्चरन्ती’ त्यवदत् । न च त्वं प्राणादीनां नित्यत्वं तथा सृष्टिं वा मनुषे, येन तत्प्रक्रमपठितानामात्मनां तथात्वमवादीः । न चात्मनां निर्गमनप्रकारमेवाह, प्राणादीनामेवोत्पत्तिमाहेत्यपि वक्तुं शक्यम् । वाक्यभेदप्रसङ्गाद्, विनिगमकाभावाच्च । यद्यपि ‘यथाग्ने’रिति श्रुत्यैव जीवस्यांशत्वं तदभावो वा न निश्चेतुं शक्यः । चिन्तामणिकल्पतरूकामधेन्वादिभ्य इवापि ब्रह्मणः सकाशात् प्राणाद्युत्पत्तेः सम्भवात् । तथापि सूत्रैस्तदुपदर्शितश्रुतिस्मृतिभ्यश्चांशत्वमेवावगम्यते । न चैवं सार्वज्ञ्यानुपपत्त्यादिदूषणग्रासः, सर्वज्ञत्वादिधर्माणां भगवदिच्छयैव तिरोभूतत्वात् । यतः सूत्रकारोऽपीमामेवाशङ्कामपाकर्तुमेवमेव जगाद- ‘पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ’विति । अस्य जीवस्यैश्वर्यादि तिरोहितम्, तत्र हेतुः- पराभिध्यानात्, परस्य भगवतोऽभितो ध्यानं स्वस्य जीवस्य (च) सर्वतो भोगेच्छा तस्माद्धेतोः । ऐश्वर्यादिसद्भावे वैचित्र्याभावाद् भोगो न भविष्यतीति जीवे तिरोभावं कृतवान् स्वधर्माणाम् । तत एव तिरोभावाद् बन्धो भगवद्धर्मविपरीतधर्मवत्त्वं चेत्यर्थः । ऐश्वर्यतिरोभावाद्दीनत्वं पराधीनत्वं च । वीर्यतिरोभावात् सर्वदुःखसहनम् । यशस्तिरोभावात् सर्वहीनत्वम् । श्रीतिरोभावाज्जन्मादिसर्वापद्विषयत्वम् । ज्ञानतिरोभावाद्देहाद्यहम्बुद्धिः, सर्वविपरीतज्ञानमपस्मारसहितस्येव । वैराग्यतिरोभावाद् विषयासक्तिः । आनन्दांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितो येन जीवभावः । अत एव ‘नेतरोऽनुपपत्तेः’ ‘भेदव्यपदेशाच्च’ इत्यादिना जीवस्यानन्दमयत्वं न्यषेधत् सूत्रकारः ॥

(२०) ननु कारणसाम्ये कथमेकेषां जडत्वमेकेषां चेतनत्वं, जीवे ज्ञानस्यापि तिरोहितत्वेन अल्पज्ञत्वमपि कथमिति चेद्, अत्राहुराचार्याः- सच्चिदानन्दरूपे ब्रह्मण्यस्त्यंशत्रयं स्वरूपभूतम् । ‘सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म’ इतिश्रुतेः । ‘यः सर्वज्ञ’ इति श्रुतेर्धर्मरूपमपि ज्ञानमस्तीति मन्तव्यम् । भगवानिति नामव्युत्पत्त्या च । तत्र स्वरूपात्मकेन सदंशेन जडोद्गमः पूर्वमुक्तः । पश्चाच्चिदंशात्तादृशादेव जीवानां

कारणैक्ये-न कार्यवैचित्र्यानुपपत्तिमाशङ्क्य भगवदिच्छयेतितत्समाधानम् ।

तद्रूपाणामेवोद्गमउक्तः । अतो जडेषु सन्मात्रकार्यत्वाच्चित्तिरोभावः । जीवे च चित्कार्यत्वेन चिद्रूपत्वात्सत्वेन चोपलभ्यमानत्वादानन्दांशतिरोभाव एव । एतयोः सच्चितोरपि तिरोभावे स्वरूपहानिरेव स्यात् । तिरोहितं तु धर्मरूपं भगशब्दवाच्यं ज्ञानम् । अतः सर्वमनवद्यम् । अत्र नियामिका भगवदिच्छैवेति ज्ञेयम् । एतयोर्भेदाभेदविचारमग्रे वक्ष्यामः ॥

परमात्मविषये उपस्थितहान्यकृताभ्यागमप्रयुक्तदूषणविचारः ।

(२१) ननु ब्रह्मस्वरूपाणामेव जीवानां सहजगुणाँस्तिरोहितान् विधाय मिथ्याज्ञानादिदोषयुक्तत्वकरणे तूपस्थितहानिरकृताभ्यागमश्च प्रसज्येतेति चेद्; न । एतयोर्जीवकृतावेव, जीव एव च दूषणत्वात् । तत्रापि लोकेऽप्यस्वतन्त्रजीव’कृतावेव । दृश्यते हि लोकेऽपि राज्ञां स्वतन्त्राणां स्वविहारार्थं प्राचीनविचित्रभवनप्राकारगोपुरादिभङ्गकरणेन तत्रैवाजिरोद्यानादिकरणम् । निजसेवकेष्वपि कदाचित् स्थितस्याप्यैश्वर्यादेर्हरणम्, पुनर्दानं च सेवया संतोषे । किं पुनः सकललोकनियामकस्य सकलजगत्कारणकारणस्य भगवतः स्वदासजीवस्यान्यथाकरणे शङ्का नाम ॥ किञ्चैवं सर्गस्थितिसंहारेष्वपि भगवत एव कर्तृत्वात् स्थितं संहृत्य पुनस्तथाकरणेऽपीमौ दोषौ प्रसज्जयेताम् । तथा सति जगतो नित्यत्वप्रसङ्गः, असम्भव एव वा स्यात् ।यतो भगवान् स्वयमेव ‘ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये । मत्त एवेति तान् विद्धि, न त्वहं तेषु ते मयि। त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् । मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्यय’ मिति मायामोहेन स्वाज्ञानमुक्त्वा स्वेच्छयैव च माया मोहयतीति निरूपणार्थं स्वाधीनत्वं मायायाः ‘दैवी ह्येषा गुणमयी मम माये’ति निरूपितवान् । अतोऽपि भगवदिच्छाधीनतैव बन्धस्यापि । एवं सति यस्मिञ्जीवे यादृशीच्छा तदनुरूपा एवाविद्यादिशक्तयः सत्वादिभेदेन तं व्याप्नुवन्तीति महदैश्वर्यं भगवतः । अत एव ‘महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः । भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्यय’मिति भगवतोक्तम् । ‘भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः’ ‘मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं चे’ त्यपि । अपरं च, स्वयौक्तिकेऽर्थे त्विदं दूषणमुद्भाव्यं स्याद्, येन तथैव कल्प्येत, न तु श्रुतिसिद्धे । राजाऽऽज्ञायाः पर्यनुयोगानर्हत्वात् । ‘एष ह्येव साध कर्म कारयति तं, यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति । एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं, यमधो निनीषती’ति श्रुतिरपीममेवार्थमाह यमवोचाम । ‘य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयती’ति च । अत एव ‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टे’-त्यादिरपि संगच्छते । अन्यस्य स्वतन्त्रकर्तृत्वाभावात् । अत एव, सूत्रकारोऽपि जीवस्य कर्तृत्वं निरूप्य, तत्वत एवेश्वराद्वेत्याशङ्क्य ‘परात्तु तच्छ्रुते’रिति सिद्धान्तमुक्तवान् । अतोऽकृताभ्यागमो जीवे न दोषाय, सर्वथा परतन्त्रत्वात् ॥

प्रवृत्तिनिवृत्त्योर्जीवादृष्टासापेक्षतां निराकृत्य भगवच्चिक्रीढिषानिबन्धनत्वसाधनम् ।

(२२) ये त्विमां शङ्कां परिहर्तुं पूर्वं जीवकृतधर्माधर्मसापेक्ष एवेश्वर; कारयति । अन्यथा ‘स्वर्गकामो यजेत’ ‘ब्राह्मणो न हन्तव्य’ इत्यादिविधिप्रतिषेधानर्थक्यं स्यात् । ईश्वरस्यैव प्रवर्तकस्य निवर्तकस्य च सत्त्वात् । अतो विधिनिषेधाभ्यामेव प्रवर्तमानं निवर्तमानं चेश्वरः प्रवर्तयति निवर्तयति च । कस्य चिद्विहिते प्रवृत्तिः, कस्य चिन्न, कस्य चिन्निषिद्धान्निवृत्तिः, कस्य चिन्नेत्यत्रापि पूर्वपूर्वतादृक्कर्मैव निमित्तम् । प्रवाहस्यानादित्वात् । अतो नाकृताभ्यागमो जीव इति वदन्ति । तेषामनीश्वरवादएवापद्यते । न च कर्मणो जडत्वेन फलसमर्पकत्वासम्भवात् तत्समर्पकत्वेनेश्वरसिद्धिः । अन्यथाऽनुपपत्त्या कल्प्यमानस्य तादृशस्यैव कर्मणः कल्पयितुं शक्यत्वात् ॥

ननु ‘कृतप्रयन्तापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्य’ इति तत्त्वसूत्रात् तथोच्यते इति चेद्, न । तदर्थानवबोधात् । तथा हि-पूर्वोक्तन्यायेन ‘परात्तु तच्छ्रुते’ रिति पूर्वसूत्रेणेश्वरादेव कर्तृत्वे निरूपिते प्रवर्तकत्वेन निवर्तकत्वेन चाभिमतविधिनिषेधे वैयर्थ्यमापतितम् । तत्र न हीश्वरः साक्षात् कञ्चन प्रवर्तयति निवर्तयति वा, अतस्तद्द्वारैव तथा करोतीति तु

समाधानं न संगच्छते । सर्वस्यैव सन्मार्गवर्तित्वापातात् । तथा च विधिनिषेधसत्वेऽप्यप्रवृत्त्यनिवृत्त्योः सत्वेन तदुपपत्त्यर्थं पूर्वकर्मकल्पनं त्वनुपपन्नम् । प्रवाहस्यानादित्वेन पूर्वपूर्वकर्मणैव प्रवृत्तिनिवृत्त्युपपत्तौ विधिनिषेधवैयर्थ्यापातात् । एवं च सति प्रामाणिकत्वाभावेनान्धपरम्परापत्तिर्यागादिकरणस्य धर्मत्वहानिश्च । फलोद्देशाभावेन च तज्जनकत्वनिर्वाहकापूर्वकल्पने प्रयोजनाभावेनैतस्य च कर्मणो नष्टत्वेनाग्रिमकर्मप्रवृत्तिनिमित्तमपि निरूपयितुमशक्यम् । एतत्समाधानाय प्रवर्तकत्वं विध्यादेव, [1]ततो जानतामप्यप्रवृत्तिनिवृत्ती तु विचित्रेश्वरेच्छयेति वाच्यम् । एवमपि सत्यावश्यकत्वाल्लाघवाच्चेश्वरेच्छैव तथास्तु, कृतं ताभ्याम् । एवं चान्धपरम्परापि न सम्भवति । ईश्वरेच्छाजन्यत्वात् । दृश्यतेऽपि हि विधिमजानतोऽपि बालस्य नैसर्गिकी धर्मप्रवृत्तिः ॥

एवमपि सति न निस्तारः । तथा हि-न हीश्वरः स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन कर्म कारयिष्यति, किन्तु स्वर्गादि साधयितुम् । तथा सति स्वस्यैव तद्दाने समर्थत्वाद् विहितनिषिद्धफलोपपत्तौ विहितनिषिद्धयोर्यागब्राह्मणहननयोर्वैयर्थ्यापत्तिः । न चाकृताभ्यागमदोषपरिहाराय तथा करोतीति वाच्यम् । स्वतो जीवस्य कर्तृत्वे हि तत्फलनिरूपणे स दोषो न स्यात् । न तु तादृशं फलं दातुं तादृक्कर्मकारणे । स्वतः सर्वथैवासमर्थत्वाज्जीवस्य कृतमप्यकृतप्रायमिति न तत्परिहार इतीश्वराधीनं जीवकर्तृकत्वं नोपपद्यत इति चेत्तत्राह- ‘कृतप्रयत्नापेक्षस्तु’ इत्यादि । एतदर्थस्तु- ‘एकोऽहं बहुस्या’मिति प्रपञ्चे रमणेच्छया हि भगवान् क्रीडार्थं कृतप्रयत्नः । तदा हि क्रीडैव मुख्या, अन्यत्सर्वमुपसर्जनीभूतम् । तथा च तदपेक्षो भगवान् विचित्ररसानुभवार्थम्, एवं यः करिष्यति तमेवं करिष्यामीति स्वयमेव मर्यादां चकार । ‘स्वकृतसेतुपरीप्सयेति’ ‘धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताऽभिरक्षिते’ त्यादिवाक्यश्रवणादेवमवसीयते । ततश्च स्वकृततद्रक्षणाय ज्ञापनाय च वेदं चकार । तथा च जीवोत्पादनसमय एवैनं जीवमस्मिन् देशेऽस्मिन्काले एतत्प्रयुक्तप्रवृत्तिनिवृत्तिमन्त

---

[1] तौ इति पाठः ।

‘विधायैतदेतत्फलं दास्यामीत्यामोक्षं प्रतिजीवं विचारितवानिति तदनुसारेणैव ते तथा भवन्तीत्येवंप्रकारेण कृतो यः क्रीडार्थं प्रयत्न उद्यमो, जीवादिवैचित्र्यादिकरणे तदपेक्षस्तदधीन एव कारयति भगवान् । कुत एतत् ? । यतो यागादेर्विहितस्य, प्रतिषिद्धस्य विप्रहननादेः स्वर्गनरकसाधकत्वेनावैयर्थ्यमेवमेव भवेत् । अन्यथेश्वरस्यैव कारयितृत्वे, फलदातृत्वे चोक्तन्यायेन तद्वैयर्थ्यं स्यात् । आदिपदाद् विनापि कर्म तत्फलदानमपि नात एव । अत एव श्रुतिरपि कर्मकारणे फलदानेच्छामेव हेतु त्वेनानुवदति ‘यमुन्निनीषत्यधो निनीषती’ति ॥

आचार्यास्तु,-यथा पुत्रं यतमानं बालं वा, पदार्थगुणदोषौ वर्णयन्नपि यत्प्रयत्नाभिनिवेशं पश्यति, तथैव कारयति । फलदानार्थं श्रुतौ कर्मापेक्षाकथनात् फलदाने कर्मापेक्षः, कर्मकारणे जीवकृतप्रयत्नापेक्षः, प्रयत्ने तत्कामापेक्षः, स्वर्गादिकामे च लोकप्रवाहापेक्षः, कारयतीति न ब्रह्मणो दोषगन्धोऽपि । न चैवमनीश्वरत्वम्, मर्यादामार्गस्य तथैव निर्माणात् । यत्र त्वन्यथा, तत्र पुष्टिमार्गाङ्गीकार इत्याहुः । अयमपि पक्षः स्वकृतमर्यादाया एव हेतुत्वेन कथनान्मर्यादाकरणे च क्रीडेच्छामृते हेत्वन्तरस्यासम्भवादस्मदुक्तान्नातिरिच्यते । तस्मादस्मदुक्त एव मार्गो, न त्वदुक्तः । किञ्च, क्रियापूर्वकालीनात्मधर्मस्यैव प्रयत्नशब्दार्थत्वेन वक्तुमुचितत्वान्न धर्माधर्मौ तद्वाच्यौ । किञ्च, त्वदुक्तप्रकारे ‘विधिनिषेधावैयर्थ्यादिभ्य’ इत्येव स्यान्न तु विहितेत्यादीति दिक् ॥

औपचारिकांशत्व-तन्निरासौ ।

(२३) ननु जीवानां नित्यभिन्नानामेव चेतनत्वादणुत्वेन चैकदेशस्थायित्वेन चांशत्वमौपचारिकमेवेति चेत् न । मुख्ये सम्भवति गौणस्यान्याय्यत्वात् । सूत्रकृतांशत्वप्रसक्तदूषणपरिहारानुपपत्तिश्च स्यात् । [1]जीवानां स्वतन्त्रभिन्नत्वे चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानुपपत्तिः । न च योगजधर्मप्रत्यासत्तिवत्तत्त्वज्ञानजनितालौकिकधर्मेणैव सर्वज्ञत्वोपपत्तिरिति वाच्यम् । ‘यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्या’ दित्यादिश्रौतदृष्टान्तानुपपत्तेः । ‘सदेव

---

[1] जीवानां नित्यत्वादंशत्वं नोपपद्यते । अंशत्वाभावे अद्वैतं नेति क्वचिदधिकः पाठः ।

सौम्येदमग्र आसी'दितिश्रुतिविरोधश्च ॥

(२४) ननु 'नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्य' इति तत्वसूत्रविरोधः ।

ब्युच्चरणमुत्पत्तिरित्याशङ्का, तत्परिहारायाग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्तोपवर्णनम् ।

एतदर्थस्तु, - आत्मा जीवो नोत्पद्यते । कुतः ? अश्रुतेः । देवदत्तो जात इति देहोत्पत्तिरेव श्रूयते, नात्मनः । किञ्च, नित्यत्वादपि नोत्पत्तिर्जीवस्य सम्भवति । कुतोऽस्य नित्यत्वमत्राह, ताभ्यः श्रुतिभ्य इतीति चेद्; अत्रेदं प्रतिभाति- 'यथाऽग्नेः क्षुद्रा' इत्यादिश्रुतीर्विचारयन् स्वयमेव जीवस्यांशत्वमुक्त्वा यत्पश्चादुत्पत्तिं निषेधति सूत्रकारस्तेन विस्फुलिङ्गन्यायेन जीवस्य व्युच्चरणं नोत्पत्तित्वेन सूत्रकारस्याभिमतम् । तदा परिच्छिन्नस्य शरीरस्याभावेन तस्मिन् जीवागमनस्याप्यभावेनोत्पत्तिस्वरूपाभावात् । तदुक्तम् - 'अनित्ये जननं, नित्ये परिच्छिन्ने समागमः। नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधा' इति । तथा चानित्यानां प्राणादीनां प्रादुर्भाव एवोत्पत्तिरिति तेषामेवोत्पत्तिरुक्ता । जीवानां ब्रह्मणः सकाशाद्विभागे तदंशत्वे च वाच्ये सति तद्बोधत्वं जानन्ती श्रुतिरंशत्वमंशिनः सकाशाद्विभागवत्त्वमणुत्वमंशिनोंऽशान्महत्त्वं पुनरंशस्यांशिनि प्रवेशयोग्यत्वं, प्रवेशे सत्यभेदप्रतीतिविषयत्वं, पुनर्निर्गमनयोग्यत्वं चाग्निविस्फुलिङ्गे प्रसिद्धमिति सर्वधर्मबोधसौकर्यार्थमग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्तेनोक्तवती । प्रकृतेऽप्येवं दृश्यते । जीवाद् ब्रह्मणो महत्त्वम् । तदुक्तम् - 'अधिकं तु भेदनिर्देशा'दिति । पुनः प्रवेशश्चोच्यते, - 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' ब्रह्मभावश्च भगवदुक्तसाधनकरणेन संतुष्टाद्भगवत आनन्दप्राकट्यात् स्वगुणस्वरूपैश्वर्यादिप्राकट्याच्चेति ज्ञेयम् । इदमेवोक्तम्- 'अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ती'ति सूत्रेण । अर्थस्तुअस्मिन्नानन्दमये ब्रह्मण्यस्य जीवस्य तद्रूपस्य योगं ब्रह्मभावापन्नस्य प्राप्तिं वदति फलत्वेनेति । इदमेव 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा, न शोचति, न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेष्वि' त्याद्युक्त्वा भक्तिलाभानन्तरं 'विशते तदनन्तर'मित्युक्तं विजयरथकुटुम्बेन श्रीदेवकीपुत्रेण ॥

प्रवेशानन्तरमभेदप्रतीतिं श्रुतिराह । तथाहि-सर्वेषां हि भगवत्येव लयः साक्षात् परंपराभेदेनातो मोक्षस्थानं भगवानेवेति निरूपणार्थं 'यथा सर्वासामपां समुद्र एकायन'मित्युपक्रम्य 'वागेकायन'मित्यन्त दृष्टान्तार्थं निरूप्य 'स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलयत' इत्यादिना च लयदृष्टान्तं निरूप्य 'विज्ञानघन एतेभ्योभूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति, न प्रेत्य संज्ञाऽस्ती'ति लयं निरूप्य, तन्निरूपणार्थं 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यती' त्युपक्रम्य- 'विज्ञातारमरे केन विजानीया' दित्यन्तेन लयावस्थायां लीनस्य स्वस्मिन् भगवतो भिन्नत्वेन प्रतीतिराहित्यं न्यरूपयत् । इममेवार्थं सूत्रकारोऽप्याह- 'गतिसामान्या' दिति । गतिर्मोक्षः, समानस्य भावः सामान्यं तस्मात् । मोक्षे जीवब्रह्मणोरभिन्नत्वात् । अभिन्नत्वेनैव निरूपणादित्यर्थः । तेनादिमध्यावसानेषु शुद्धब्रह्मण एवोपादानत्वात् सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वय इति तत्र फलितम् । स्वावतारसमये क्रीडार्थं साक्षाद् योग्यास्त एव भवन्तीति तानप्यवतारतीति पुनर्निर्गमनयोग्यत्वम् । इदमेव, 'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशा'दिति सूत्रेणोक्तम् । न च 'न स पुनरावर्तते, 'अनावृत्तिः शब्दाद्' इति श्रुतिन्यायविरोधः । एतस्य प्रमाणमार्गपर-त्वात् । इदं च पुष्टिमार्गाङ्गीकारे भगवान् करोति, नोचेन्मर्यादायां प्रवेशपर्यन्तत्वमेव । तस्यातिशयितानुग्रहविशेषमात्रसाध्यत्वेनातिदुर्लभत्वात् । तदुक्तं,- 'भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म, न भक्तियोग'मिति । किञ्च, संसारे पुनरनावृत्तिमाह श्रुतिः । न हि तेषां तत्संसारः 'मुक्ता अपि लीलाविग्रहं कृत्वाभजन्त' इति वाक्याच्च ॥

स च, चिरकालोप्तसमुदितप्राचीननिरतिशयकृपाफलसारनिरुपधिनिजचरणकमलानुरागविलासाभिलाषबीजासु, ततो निजपरिजननिरोधतः प्रियावलोकननिमित्तं कृतप्रतिक्षणविविधव्याजजनितगतागतकर्षितासु, ततो दिवा प्रियवनगमनजनितविरहतरणितापतप्यमानान्तः करणकेदारासु ततो निशामुरवे प्रियागमनसंपन्नेष्टावलोकनसेचनजनितहसितवलितवि-

वशतरलरूचिरविलोचनयुगलविहितविविधनिरवधिरसभावाङ्कुरासु, ततोऽतिविपुलकलिन्दजापुलिननभोवलयगतनिजमुरलिकाकलनिनदगर्जितानन्दितास्वेव कासुचिद् भूमिषु श्रीमन्नन्दराजकुमारो नवजलदो निजानन्दसुधां ववर्षेति तथैव सर्वत्र वर्षिष्यतीति न ज्ञातुं शक्यते । अतो मर्यादया तद्भजनमेव सर्वेषां कर्तव्यत्वेन स्थितम्, तेनैव सर्वमिति दिक ॥ एतच्च दशमस्कन्धविवरणे मृत्स्नाभक्षणवरदानार्थागमनादिस्थलेषु पितृचरणैरेव स्फुटं निरूपितमित्यलं विस्तरेण ॥

यद्वा जीवत्वादिवदंशत्वमप्येकः पृथग्धर्मो जीवे निरूप्यते श्रुत्या, अतो नानुपपत्तिः काचित् ॥

जीवप्रवेशविषये विचारः ।

(२५) ननु पूर्णे पुरुषोत्तमे जीवस्य प्रवेशोऽशक्यनिरूपणः । स हि बहिःष्ठस्यान्तर्गमनरूपः । तयोश्च परिच्छिन्ने एव पदार्थे संभवः । तथा च ब्रह्मणोऽपरिच्छिन्नत्वान्न संभव इति चेद्, हन्त! एवं विभागांशत्वादिकमप्यशक्यनिरूपणं जीवस्य । तत्तु श्रुतिन्यायाभ्यां निर्णीयत इति चेत्, तुल्यम् । वस्तुतस्तु यथा सर्वतः पाणयः पादा अन्ताश्चेति श्रुत्या ब्रह्मणि निरूप्यन्ते, तथा प्रवेशनिर्गमोक्त्याऽन्तस्त्वबहिष्ट्वे अपि तत्र स्त इति मन्तव्यम् । एवं सति यथेमे, तथा प्रवेशनिर्गमावपीति नोक्तानुपपत्तिः । किञ्च, उपाधिपक्षे प्रवेशः सुतरामसङ्गतः । तदोपाधेर्नाशाङ्गीकारात् कस्य प्रवेशः स्यात् ॥

ननु प्रवेशं निरूपयति श्रुतिरिति सत्यम्, परमेतद्वाक्यार्थबोध एव न संभवति, अयोग्यताज्ञानदिति चेद् । अत्रेदं विचार्यते-दोषो हि शब्दगतः श्रोतृगतो वा भवेत् । अत्र च शब्दस्यादुष्टत्वाच्छ्रोतृगत एव स वाच्यः । तथा चापगताविद्यानां ब्रह्मविदामेवानुभूतिविषयमुपदेशैकसमधिगम्यं ब्रह्म निरूपयन्ती श्रुतिरविद्यावलिप्ताल्पबुद्धीनां ग्रहणासामर्थ्येनायोग्यताज्ञानेन नान्यथयितुं शक्या । न ह्युपदेशैकगम्यं हीरकमन्त्रादेर्माहात्म्यं साधारणजनानुभवाविषय इत्युपासिततद्गुरूणामप्यविषयः । न वा पित्तदूनरसनेन्द्रियस्येदंप्रथमतया सितां भक्षयतः, सिता मिष्टेति वाक्ये

अयोग्यताज्ञानं वाक्यार्थमन्यथयितुमीष्टे । न वा तस्यैव दोषापगमे सति न योग्यताज्ञानसंभवस्तत्र । अत एव, 'आचार्यवान् पुरूषो वेद'ति श्रुतिः । अतो यथाश्रुतमेव मन्तव्यम् । अत एव सूत्रकारोऽपि जगति ब्रह्मण उपादानत्वे कृत्स्नप्रसक्त्यादिशङ्कापरिहाराय, 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वा' दित्येवाह ॥

जीवो नाणुरिति पूर्वपक्षिमतम् ।

(२६) ननु प्रवेशकथने जीवस्य व्यापकत्वव्याहतिरिति चेद्, हन्तैवं शशस्यापि निजशृङ्गभङ्गभिया तनूदरकन्दराप्रवेशः !! यतोऽणुरेव जीवः । कुत एतत् ? । श्रुतित एव । तथाहि,-'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः, 'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य तु । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते, 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेशे'त्यादिभ्यः ॥

स्यादेतत्, नाणुर्जीवो वक्तुं युक्तः । श्रुतिस्मृतिविरोधात् । तथाहि- 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु', 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः', नित्यः सर्वगतः स्थाणु' रित्यादिषु व्यापकत्वश्रवणात् 'तत्वमसी' त्यादिभिर्ब्रह्माभेदनिरूणाच्च, न हि तत्त्वतोऽणोर्व्यापकाभेदः संभवति ॥

किञ्च, जीवस्याणुत्वे सर्वशरीरगतचैतन्यानुपलम्भप्रसङ्गः । न च यथैकदेशस्थचन्दनबिन्दुशैत्योपलम्भः सकलशरीरव्यापकतया भवत्येवमेकदेशस्थजीवचैतन्योपलम्भोऽपीति वाच्यम् । दृष्टान्ते एकदेशस्थायित्वस्य प्रत्यक्षतो निश्चितत्वेन दार्ष्टान्तिके च संदिग्धत्वेनोभयोर्वैषम्यात् । न च, सर्वशरीरव्यापि चैतन्यं स्वधर्म्यधिकदेशवृत्तिः, विसर्पिगुणत्वात्, शरीरैकदेशस्थचन्दनजन्यसर्वशरीरव्यापिशैत्यवदित्यनुमानेनाणुत्वं साधयितुं शक्यम् । हेत्वसिद्धेः । साध्याविशिष्टत्वाच्च । एकदेशवृत्तित्वे सिद्धे जीवस्य चैतन्यस्य विसर्पिगुणत्वसिद्धिरेतत्सिद्ध्या च तत्सिद्धिरित्यन्योन्याश्रयत्वाच्च । चन्दनसूक्ष्मावयवानां सर्वदेहप्रसर्पणेनापि शैत्योपलम्भस्य संभवे दृष्टान्तासिद्धेश्च । एतेनैव चम्पकगन्धोऽपि प्रत्युक्तः । न हि गुणिनं विना गुणे क्रियासंभवः । अतिप्रसङ्गात् । चम्पकदेशाधिकदेशे गन्धग्रहस्तु

तदवयवानामपि वायूपनीतानां तत्र सत्वेन । न चैवं तन्नाशापत्तिः । भोग्यादृष्टेनैव तदवयवपूरणसंभवात् । अन्यथानुपपत्तेर्बलिष्ठत्वात् । दृष्टासंभवे सत्यदृष्टकल्पनाया न्याय्यत्वात् । न च मणिप्रभावत्तदुपपत्तिः । तस्यास्तज्जनितविरलसजातीयद्रव्यान्तरत्वात् । एतेनैव प्रदीपसूर्यादयः प्रत्युक्ताः । श्रुतावणुत्वनिरूपणं तु दुर्ज्ञेयत्वाभिप्रायम् । तस्मान्नाणुर्जीवः ॥

(२७) अत्र वदन्ति

पूर्वपक्षप्रतिक्षेपपुरःसरं जीवाणुत्वव्युत्पादनम् ।

तत्वसूत्रानुसारेण वेदार्थस्य निरूपणे ।
जीवोऽणुरेव संसिद्ध्यत्यन्यथा त्वन्यथैव हि ॥

भवेदेतदेवं, यदि 'स वा एष महा' नित्यादिभिर्जीवो निरूप्येत । तदेव तु न संभवति, ब्रह्मप्रकरणे पठितत्वात् । यतो बादरायणोऽप्याह, 'नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारादि'ति । न चैवं सकलशरीरगतचैतन्योपलम्भानुपपत्तिः । चम्पकगन्धवदेवोपपत्तेः । न च गुणिनं विना गुणासंभवान्नैवमिति वाच्यम् । सम्बन्धिनं विनापि सम्बन्धस्य समवायस्याङ्गीकारो यथाऽक्षपादीयानां तथात्रापि तदुपपत्तेः । ननु रूपरसादीनामन्यत्रोपलम्भः स्यादिति चेत्, स्यादेवोपलम्भो, यदि स्वाश्रयमपहायान्यत्र तिष्ठेयुः । अथ द्रव्यं विहाय गन्धस्यान्यत्र सत्वे गुणसत्वे द्रव्यसत्त्वस्य नियामकत्वाभावाद्रसादीनामप्यन्यत्र गमनं स्याद्, अतोऽस्यावश्यं नियामकत्वेनाङ्गीकाराद् गन्धोपलब्धिस्थले चम्पकावयवानामपि सत्वमङ्गीकर्तव्यमिति चेत्; ननु समवायस्यापि तथात्वाङ्गीकारे सम्बन्धसत्त्वे सम्बन्धिसत्वस्य नियामकत्वाभावात्संयोगादीनामप्यतिरेकापत्तौ तत्समाधानाय तस्य नियामकत्वेनाङ्गीकारात्तन्निर्वाहाय घटे नष्टेऽपि सूक्ष्मघटसत्त्वमङ्गीकुरू । ननु जन्यसम्बन्धसत्त्व एव संबन्धिसत्त्वस्य नियामकत्वमिति चेद्; अत्रापि गन्धातिरिक्त एव गुणे द्रव्यसत्वस्य नियामकत्वमिति तुल्यम् ॥

ननु सम्बन्धिनामनित्यत्वात् सम्बन्धस्य च नित्यत्वात् तदन्यथानुपपत्त्या जन्यपदोपादानम्, अन्यत्रोपलम्भानुपपत्तौ सत्यामपि तदवयवसत्त्वेनैवेपपत्तौ गन्धातिरिक्त इति व्यर्थं विशेषणं गौरवादिति चेत्; न । प्रामाणिकत्वात् । दृश्यते हि विविधचर्मपुटवेष्टितस्यापि मृगमदस्य गन्धोपलम्भो वणिक्सार्थेषु । न हि तत्र तदवयवनिर्गमापूर्वतत्प्रवेशौ संभवतः । किञ्चैवं गन्धोपलम्भसमये प्रसारितमुरवस्य तद्रसौपलब्धिप्रसङ्गः । तेषामवयवानां योग्यत्वात् । अन्यथा गन्धोऽपि नोपलभ्येत, गन्धस्योपलम्भे नियामकाभावाच्च । नन्वदृष्टमेव तथेति चेद्, अहो !! गौरवभीतिर्विवदूकस्य । यदवयवनिर्गमनं, पुनस्तदवयवपूरणं, तद्धेतोरदृष्टस्य च कल्पनं, रसाद्यनुभवप्रतिबन्धकादृष्टान्तरस्य च कल्पनं वदतोऽप्यसंकोचस्तुण्डस्य, गन्धातिरिक्तेतिमात्रकथने संकोचः । किञ्च, उग्रगन्धस्य कस्यचित्कुसुमस्य लशुनादेर्वा स्पर्शमात्रेऽपि ततो मुहुर्मृत्स्नया क्षालनेऽपि करस्य न तद्गन्धापगमोऽनुभूयते । स्पर्शमात्रलग्नतदवयवानां सकृत्प्रोञ्छनेऽप्यसहिष्णूनां सकृत्क्षालनेऽपि न स्थितिसंभव;, कुतस्तरां मुहुस्तथा करणे । अतो द्रव्याधिकदेशवत्त्वं गन्धस्य मन्तव्यम् । विनश्यदवस्थगुणानामनाश्रितत्वेनाङ्गीकारो यथा तव, तथा द्रव्याधिकदेशवृत्तित्वेनानुभवेऽपि कुरूष्व। अत एव सूत्रकारोऽपि सिद्धं दृष्टान्तमाहेमामेवाशङ्कांपरिहर्तुमणुत्वसाधने, 'व्यतिरेको गन्धव' दिति । श्रुतिरपि, 'यथा वृक्षस्य संपुष्पितस्य दूराद् गन्धो वात्येवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गन्धो वाती'ति । अत्र तदवयवासत्त्वनिरूपणार्थमेव दूरपदम् । दार्ष्टान्तिके तु कीत्रैव गन्धत्वं तदसाधारणधर्मत्वादिसाधर्म्येण ॥

किञ्च 'हृदि ह्येष आत्मा' 'स वा एष आत्मा हृदि योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरूषः' 'गुहा प्रविष्टा' वित्यादिश्रुतिभिर्हृदयदेशे जीवसंस्थितिरूक्ता । सा त्वणुत्व एवोपपद्यते । तदनन्तरं च स्वचैतन्येन गुणेन सकलशरीरव्यापित्वं दर्शयति । 'आलोमभ्य आनखाग्रेभ्य' इति । एतेन सर्वमनवद्यम् ॥

(२८) यत्तु चैतन्यस्य सर्वशरीरव्यापित्वे जीवो नाणुः स्यात् । चैन्यमात्रस्वरूपत्वादेव तस्य । औष्ण्यप्रकाशात्मकस्याग्नेरिवेत्यग्निदृष्टान्तेन चैतन्यात्मकत्वं जीवस्य साधयन्तोऽणुत्वं बाधयन्तो व्यापकत्वं वदन्ति

व्यापकत्वमा-
शङ्क्य तत्परि-
हारे विसर्पि-
गुणतासाधन-
मुखोऽणुत्वसा-
धकप्रमाणोप-
न्यासः

केचित् । न तद्विद्वदादरणीयम् । 'प्रज्ञया शरीरं समारूह्ये'ति करणत्वेन प्रज्ञायाः श्रुतौ निरूपणात् तस्य च भेद एव युक्तत्वात् । 'तदेषां प्रणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाये'ति च श्रुतौ विज्ञानस्य कर्मत्वेन निरूपणाच्च विज्ञानं गुण एव । अत एव सूत्रकारेणाप्युक्तं- 'पृथगुपदेशा'दिति । अपि च औष्ण्यमात्रस्यैव वह्निस्वरूपत्वं न वक्तुं शक्यम् । मणि-मन्त्रादिनौष्ण्यानुपलम्भेऽपि वह्न्युपलम्भात् । औष्ण्यशैत्यादेः स्पर्शधर्मवत्त्वेन वह्नेर्द्रव्यत्वहानिश्च । नापि प्रकाशात्मकत्वम् । तप्तवारिस्थतदनुपलम्भप्रसङ्गात् । किञ्च, 'स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति, सहैवैतैः सर्वैरूत्क्रामति, ये के चास्माल्लोकात् प्रयान्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्तीति तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मण' इति श्रुत्युक्त्या जीवस्य देहादुत्क्रान्तिः परलोकगतिश्च पुनरागतिश्चाणुत्व एव घटते, न तु व्यापकत्वे । 'स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तते, एवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तत' इति 'स्वयं विहृत्ये'त्यादिश्रुत्युक्तपरिवर्तनविहारवप्यणुत्वमृतेनोपपद्येते ॥

ननु तत्वमसीत्याद्यभेदबोधकश्रुत्या जीवो ब्रह्मत्वेन निरूप्यते, अणुत्वे तु तदनुपपत्तिरिति चेत्; न । औपचारिकत्वात् । अमात्ये राजपदप्रयोगवत् । न हि जीवे कश्चन स्वाभाविको गुणोऽस्ति । प्रज्ञाद्रष्टृत्वादयश्च भगवद्गुणा एव । तथा च तद्गुणैरेवास्योत्तमत्वाद् अंशत्वाच्च तद्व्यपदेशः । जडवैलक्षण्यं च तत एव । ननु कथमेवा[1]वगम्यते, औपचारिकमेव तदिति चेद्, यत एव सूत्रकारोऽपि न्यरूपयत्- 'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेश' इति । तथा चाणुपरिमाणस्यैव जीवस्य पूर्वोक्तन्यायेन ब्रह्मणः सकाशान्निर्गतस्य ब्रह्मणा स्वसेवार्थमेव निजैश्वर्यस्य निर्विषयत्वपरिहाराय च तथा प्रकटीकृतस्यात एव सहजहरिदासस्य तदंशत्वेन ब्रह्मरूपस्य च निजनिसर्गप्रभुश्रीगोकुलनाथचरणकमलदास्यमेव स्वधर्मः । तेन चातिसंतुष्टः स्वयं प्रकटीभूय

---

१. मेवमेवा इति पाठः ।

निजगुणाँस्तस्मै दत्वा स्वस्मिन् प्रवेश यति स्वरूपानन्दानुभवार्थम् । अथवाऽत्यनुग्रहे निकटे स्थापयति ततोऽधिकरसदास्यकरणार्थमिति निगर्वः ॥

उत्क्रान्त्यादि-
सूत्रीयशाङ्करम-
तनिरासः ।

(२९) केचित्तु जीवाणुत्वाप्तभगवत्प्रवेशतत्साधनभगवद्भजनाद्यसहिष्णवोऽणुत्वसाधकोत्क्रान्त्यादिसूत्रदशकं पूर्वपक्षत्वेनोक्त्वा 'तद्गुणसारत्वा'दिति सूत्रं सिद्धान्तीयत्वेन वदन्तस्तदर्थं चोपाधिगुणरूपाणुत्वादिप्रयुक्तो जीवेऽणुत्वादिव्यपदेश इति निरूपयन्तो जीवस्य व्यापकत्वं साधयन्ति ।

तत्रेदमुच्यतेभवेदेतदेवं, यद्यौपाधिकजीवत्वं स्यात् । तदेव तु न संभवति, श्रुतिस्मृतिन्याययुक्तिविरोधादिति पूर्वमेव निरस्तत्वात् । किञ्च, बुद्ध्युत्क्रान्त्यादिभिरेव जीवस्योत्क्रान्त्यादिव्यपदेशोऽनुपपन्नः । न ह्युपाधेः पूर्वमेवोपहितस्योत्क्रान्त्यादिः संभवति । श्रुतिश्च, 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामती' त्यादिना जीवोत्क्रान्त्या सर्वोत्क्रान्तिं वदति । तथा च विरोधः। न चोपाधिगुणानां सारत्वं युज्यते । अनर्थरूपत्वात् । किन्तु भगवद्गुणानामेव । किं बहुना, प्रवापादिषु विहारादिचेतनधर्मबोधक'स्वयंविहृत्ये' - त्यादिश्रुतिन्यायसहस्रबाधितत्वात् केवलं भगवदाज्ञसोमापरिवृढप्रवर्तितमार्गानुसारित्वात् तत्पक्षस्य लिखनेनालम् । 'आभास एव चे'ति सूत्रं तु यथाऽनाचारिब्राह्मणे ब्राह्मणाभासप्रयोगोऽखिलब्राह्मणधर्माणामभावात्, तथाऽऽनन्दांशस्य तिरोधानाद् ब्रह्मधर्माणां सर्वेषामभावादंशत्वेन तद्रूपत्वाच्च तदाभासो जीव इतिपरं, न त्वलीक इति पूर्वमेवावोचाम ॥

विरूद्धसर्व-
धर्माश्रयत्वे
शङ्कापरिहारौ

(३०) स्यादेतत् । शुद्धस्यैव कर्तृत्वेऽपि निमित्तत्वमात्रमस्तु कुलालन्यायेन, न तु समवायित्वमपि । तथा सति ब्रह्मणो विकृतत्वापातो मृत्पिण्डवत् । सावयवत्वापातश्च । कार्यस्यानर्थरूपत्वेन तद्रूपत्वस्य वक्तुमयुक्तत्वं चेति चेत्; मैवम् । यदि स्वबुद्धिकल्पिंत ब्रह्मणः कर्तृत्वं स्याद्, न स्यात् समवायित्वम् । किन्तु श्रुतिसिद्धम् । सा च स्वतःसिद्धप्रमाणभावा । प्रमाणस्य ह्ययं स्वभावो यद्

यथास्थितं वस्तु प्रमापयति, न तु स्वनि[1]रूपकप्रकारं निर्मिमीते । तथा च श्रुतिरपि यथास्थितं ब्रह्म प्रतिपादयतीति, न पर्यनुयोगार्हा । विकृतत्वादिधर्माश्च लोके समवायिषु दृश्यन्ते । तथा चोभयरक्षायै ब्रह्माविकृतमेव समवायि । लोके तादृशमेव समवायित्व-मिति व्यवस्था मन्तव्या । अत एव सूत्रकारो ब्रह्मणः समवायित्वं न युक्तिगम्यम्, किन्तु श्रुत्येकगम्यमित्याह 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वा' दिति । ब्रह्म समवाय्यविकृतं चेत्यपि गुडजिह्विका । वस्तुतस्तु विरूद्धसर्वधर्माश्रयमपि । तथाहि,-'आत्मा वारे श्रोतव्यो मन्तव्यः' 'यतो वाचो निवर्तन्ते' 'तदेजति तन्नैजति' 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' 'सर्वतः पाणिपादान्तम्' 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' 'अस्थूलमनण्वि'त्यादिश्रुतिर्हि परस्परविरूद्धानेकधर्मवत्त्वं ब्रह्मणिप्रतिपादयति । श्रौतत्वान्नैकतरबाधो वक्तुं शक्यः । तस्मात्तादृशमेव तदिति मन्तव्यम् ॥

विरूद्धसर्वधर्माश्रयता निरासमभिप्रेत्य निर्विशेषताप्रदर्शनं ब्रह्मणः ।

(३१) स्यादेतत् । अत्र नैवं निर्णयः संभवति । नह्येकं वस्तु स्वत एव सविशेषं निर्विशेषं चेत्यवधारयितुं शक्यम्, विरोधात् । ननु सर्वगतत्वेन पृथिव्याद्युपाधिसम्बन्धोऽस्तीति तन्निबन्धनमस्थूलत्वादिकम् । तथाहि अस्थूलेऽस्थूलोनणावनणुरूच्चावचकर्तर्युच्चावचकर्तोच्चावचकामे चोच्चावचकामः पृथिव्यां सर्वगन्धो जलादावगन्ध इत्युभयरूपत्वमुपपत्स्यत इति न विरोध इति चेत्; मैवम् । न ह्यौपाधिकत्वे वस्तुरवभावता संभवति। न हि जपाकुसुमारूणिमानं गृह्णन् स्फटिकोऽरूणो भवति । न वा पटोऽरूणश्चित्रो वा भवन् द्विरूपो भवति । तत्रावयवावच्छेदकल्पनया तथा वचनेऽपि ब्रह्मणि न तथा वक्तुं शक्यम् । निरवयवत्वात् । तस्मादाविद्यकत्वादुपाधीनामस्तसमस्तविशेषं तदिति प्रतिपत्तव्यम् । न च सविशेषस्यापि श्रौतत्वान्निर्विशषस्यैव बाधो वक्तुं शक्यः । परिच्छेदापातात् । सविशेष[2]स्य परिच्छिन्नत्वात् । तेषां प्रत्येकं भिन्नत्वेन ब्रह्मानेकत्वप्रसक्त्यै 'कमेवाद्वितीय'

---

१. निरूपितेति पाठः । २. स्यैवेति पाठः ।

मितिश्रुतिविरोधश्च । 'समो मशकेन समो नागेन'त्यादिषु चैकस्यैवानेकोपाधिसम्बन्धकृतपरिमाणं श्रूयते । तच्च स्वतो निर्विशेषत्वे एवोपपद्यते । अन्यथोपाधीनामव्यापकत्वेनान्योन्याश्रयाश्रयिभावाभावाच्च सर्वपरिमाणवत्त्वं भज्येतैकस्य ब्रह्मणः। किञ्च, करचरणादिविशेषाणां लौकिकत्वात् स्वरूपस्य चालौकिकत्वाद् ब्रह्मणि लौकिकनिषेधो युक्तः । अलौकिकापेक्षया लौकिकस्य जघन्यत्वात् । न च तेषामप्यलौकिकत्वात् तद्वत्त्वमिति ब्रह्मणि वक्तुं शक्यम् । तदलौकिकत्वकल्पनेन ब्रह्मणि सर्वभवनसमर्थविरूद्धसर्वाधारत्वादिरूपालौकिकशक्तिकल्पनेन च गौरवात् । अस्थूलादिश्रुतिविरोधेन तत्कल्पनमप्यशक्यम् । 'सर्वत' इत्यादितद्बलेन शक्यत्वेऽप्येतद्दौर्बल्यमप्युक्तम् ॥ अन्यच्च, न हि सविशेषनिरूपिका श्रुतिर्ब्रह्मस्वरूपं निरूपयितुं प्रवृत्ता । येन तन्निरूपितमत्यलौकिकत्वादिकं न कल्प्यं, किन्तु क्लृप्तमेवेति न गौरवादिदूषणग्रास इत्युच्यते । किन्तु तस्य दुर्ज्ञेयत्वे यथाकथंचित्तत्प्रवणत्वे चित्तस्य शुद्धिर्भविष्यति । ततः स्वयमेव प्रत्यग्ब्रह्मस्वरूपंज्ञास्यतीत्यधिकारसिद्ध्यर्थमुपासनां वक्तुं भावनासुगमत्वाय च लौकिकप्रसिद्धविशेषवत्तदनुवदति । ततोऽधिकारे सिद्धे कीदृक् तदनुभूयत इत्याकाङ्क्षायां श्रुति 'रस्थूलमनण्वि'त्यादिना तत्स्वरूपं निरूपयति । अत एव 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वाद्' इति सूत्रकारोऽप्याह । न ह्येवं सति सविशेषरूपकश्रुतिवन्निर्विशेषरूपकाणां स्वरूपमात्रनिरूपणं विहायान्यत्प्रयोजनं घटते । तस्य वृत्त्यविषयत्वात्, 'तत् केन कं पश्ये' दित्यादिश्रुतेः । अत एव निषेधमुखेनैव निरूपयति, 'अथात आदेशो नेतिनेती'ति, 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदिता'दित्यादिना । एवं च सति निर्विषयज्ञानस्वरूपवन्निष्प्रतियोगिकाऽभावरूपत्वमेव भवेदिति तद्व्यावृत्त्यर्थं चित्स्वरूपत्वमाह- 'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नोरसघन एवैवं वारे अयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवे'ति ॥ अन्यच्च 'द्वे वा व ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं चे' त्युपक्रम्य रूपद्वयं प्रतिपाद्य पुनः पठ्यते- 'अथात आदेशो नेति नेतीति' । तत्रेतिशब्दस्य संनिहितावलम्बनत्वम् 'इति ह

स्मोपाध्याया ऊचु’ रित्यादिषु दृश्यते । प्रकृतेऽपि पूर्वनिरूपितरूपद्वयस्य सन्निहितत्वेन तन्निषेध एव ब्रह्मणि ‘नेति नेती’ त्यनेन प्रतिपाद्यते । एवं सति विशेषनिरूपिकाः श्रुतयो निषेध्यकोटिनिरूपिका इति सिद्धम् । निषेधश्चैतेषामविद्याकल्पितत्वे एव संगच्छतेत । न हि वस्तु सन्निषेधार्हं भवति । ‘तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते’ इति श्रुत्योपासनाविषयाणामब्रह्मत्वोक्तेश्च । तस्मान्निर्विशेषमेव ब्रह्मेति मन्तव्यम् । न चैतादृशस्याविषयत्वात् ‘कश्चिद्धीर’ इत्यदिश्रुत्या च विषयत्वनिरूपणान्नैवमिति सांप्रतम् । पूर्वोक्तन्यायेन सर्वश्रुत्यविरोधचिन्तने प्रापञ्चिकधर्माणामविद्याकल्पितत्वावधारणेनात्रापि तत्समानयोगक्षेमत्वस्योचितत्वात् । तदा द्रष्टृदृश्यभावोक्तेर्निर्विशेषतदवगतौ च ‘तत् केन कं पश्ये’ दित्यादिना तन्निषेधादप्येवमवगम्यते । अविद्याकार्यस्य तद्दर्शनस्य सत्वात् तदा न सर्वात्मनाऽविद्यानाशोऽपि, येनाविद्या तदा नष्टेति तद्दृश्यत्वस्य नाविद्यकत्वमिति कथनं स्यात् । किञ्च, सविशेषस्य सूर्यदीपादिप्रकाश्यत्वकथनेन व्यवहार्यत्वेन चाक्षुषत्वेन क्रियादिमत्त्वेन च कथं ब्रह्मत्वमवधारयितुं शक्यम् । यतो ‘न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाती’ति ‘न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वे’ति ‘यत्तददृश्यमग्राह्य’मिति ‘निष्कलं निष्क्रियं शान्त’ मित्यादिभिः श्रुतिभिस्तद्विरुद्धं तन्निरूप्यते । अत एव सूत्रकारोऽप्याह ‘प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय’ इति । अस्यार्थस्तु - ‘नेति नेती’ति श्रुतिः प्रकृतं यदेतावत् पूर्वोक्तं मूर्तामूर्तलक्षणं रूपद्वयं, तद्भावं निषेधति ब्रह्मणि । तर्हि तत्सद्भावे किं प्रमाणमत आह-ततो ब्रवीति च भूयः । ततो निषेधानन्तरं, ‘न ह्येतस्माद् ब्रह्मणः परमन्यदस्ती’ति धर्मिसद्भावं श्रुतिः स्वयमेव ब्रवीतीति च भूयः । ततो निषेधानन्तरं, ‘नह्येतस्माद् ब्रह्मणः परमन्यदस्ती’ धर्मिसद्भावं श्रुतिः स्वयमेव ब्रवीतीति च भूयः । एवं सति धर्मिणोऽन्यस्याविद्यकत्वं सिद्धमिति निर्विशेषमेव तदिति प्राप्ते ॥

तदुभयलिङ्गाधिकरणमाश्रित्य पूर्वपक्षिमतनिरासः क्रियते ।

(३२) वयं वदामः -विशेषाणामविद्याकल्पितत्वं वदन् वादी प्रष्टव्यः । का सा अविद्या ? जीवगता ब्रह्मगता वा, यत्कल्पिता विशेषाः । न तावदाद्यः । तस्या ब्रह्मगतधर्मकल्पने सामर्थ्याभावात् । तथाहि-कल्पना हि शुद्धब्रह्मणि वाच्या । तादृशस्य मनोवचसोरप्य विषयत्वेनाधिष्ठानज्ञानाभावाज्जीवस्य तस्याः सम्बन्धस्तु दूरदूरतः । अपि च ‘पराञ्चि खानी’ त्यनेनाविद्यासम्बन्धीन्द्रियाणामविषय इत्युक्त्वा, तद्रहितेन्द्रियविषयत्वं, ‘कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छ’न्नित्यनेन निरूप्यते । ‘ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान’ इति श्रुतौ ज्ञानवत एव तद्दर्शनमुच्यते । न हि तदा सास्तीति वक्तुं शक्यम् । ज्ञाननाश्यत्वेनाभ्युपगमात् । ‘यद्विपश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिता’ इत्यादिस्मृतिविरोधश्च ॥

ननु तदा द्रष्टृदृश्यभावस्य सत्वान्निर्विशेषतदवगतौ, ‘तत्केन कं पश्ये’ दित्यादिना तन्निषेधान्न सर्वात्मना अविद्यानाश इति तत्कल्पनैव तत्रापीति चेत्, तर्हि ब्रह्मणो दृश्यत्वमप्याविद्यकं तव मनीषितम् । तथा सत्यविद्यया ब्रह्मणि विशेषकल्पनायां दृश्यत्वं, दृश्यत्वे च सत्यधिष्ठानज्ञाने सति तत्कल्पनमित्यन्योन्याश्रयः । ‘निष्कल’मिति ‘प्रत्यगात्मान’मितिपदेन चाविद्यारहितस्यैव दर्शनविषयत्वेनोक्तेस्तद्विरोधश्च । न च तत्र विषयस्त्वाविद्यक एव, भेदनिरूपणात्, निष्कलादिपदं तु वास्तवरूपाभिप्रायमिति वाच्यम् । प्रकृते कर्मतानुपपत्तेः । ‘कश्चिद्धीर’ इत्यत्रेक्षणक्रियाकर्मवाचकस्य प्रत्यगात्मपदातिरिक्तस्याभावादस्य चात्रावाचकत्वादीक्षणक्रियोत्त्यनुपपत्तिश्च । किञ्चैवं, निर्विशेषब्रह्मदर्शनोच्छेदात् तन्निरूपकश्रुतीनां ‘ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति,’ ‘तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति,’ ‘तस्मिन् दृष्टे परावरे,’ ‘कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष’ दित्यादीनां, ‘वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः,’ ‘भक्त्या मामभिजानाती’त्यादीनां स्मृतीनां चोपप्लवः ॥ अपरञ्च, अवास्तवमिति कोऽर्थः ? । वस्तुनो नैसर्गिको धर्मो वास्तवस्तद्भिन्न आगन्तुको

धर्मस्त्ववास्तव इति यदि, तदा मृदः पृथुबुध्नोदराद्याकाराणामप्यविद्याकल्पितत्वमेव शुक्तिकारजतवन्न तु कुलालेन दण्डादिसहकारेण जनितत्वमित्यागतम् । तथा च प्रत्यक्षविरोधः । क्वचिद् विनापि कुलालादिकं तदुत्पत्त्यनुभवप्रसङ्गः । तेन जलाहरणमपि क्रियेत जाग्रतैव । जलाहर-णार्थिनो नियमतो घटे प्रवृत्त्यनुपपत्तिश्च । न ह्यज्ञानकल्पितमरूमरीचि-कापाथसः पानार्थं पिपासोर्नियमेन प्रवृत्तिः संभवति । न च दोषयशायां प्रतीयमानः स इति वाच्यम् । इदमंशस्यापि तथात्वापत्तेः । न च तत्प्रयुक्तत्वे सतीति वाच्यम् । तिमिरोपहतनयनस्य नेत्रदर्पणाधानेन सूक्ष्मेष्वपि वर्णेषु स्थूलत्वभ्रमो वर्णप्रमा चैकेनैव जन्यत इति वर्णांशेऽपि भ्रमत्वापत्तेः । न च तस्मिन्नंशे तस्य गुणत्वमेव । अविद्यायामपि ब्रह्मांशे गुणत्वमेवाङ्गीकुरू । सर्वश्रुत्येकवाक्यतार्थमिदमपि त्वद्रीत्योच्यते ॥

वस्तुतस्तु ब्रह्मधर्माः सर्व एवानागन्तुका एव, यतो नित्याः । श्रुत्या तथैव निरूपणात् । तथाहि- 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे'ति तत्सम्बन्धि यत्किञ्चित् कार्यं जन्यं नास्ति, किन्त्वजन्यमेव । किञ्च, तस्येति षष्ठ्या भेदो निरूप्यते । तथा च जीववत्स्वरूपातिरिक्तं ज्ञानक्रियादिषु करणमिन्द्रियादिकमपि तस्य ना-स्ति । आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादित्वात् । अथवा नित्यत्वात्तद्धेतुभुतं करणं च नास्ति । अत एव 'न तत्सम' इत्यादि । जीवानामतादृशत्वात् । अत एव, 'सर्वस्येशान' इति श्रुतिः । अत एव तद्दासा एव जीवा इति फलितम् । परा मनोवचसामपीदमित्थतया ज्ञातुमशक्या विविधा अनेकरूपाः शक्तयः । शक्तिस्वरूपविचारे ब्रह्मस्वरूपान्नातिरिच्यते इति ज्ञापनायैकवचनम् । तेनाचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वमुक्तं भवति । सापि शक्तिः स्वाभाविकी, नत्वागन्तुकी । तथैव ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिश्चस्वाभाविक्येव, न तु देहेन्द्रियव्यतिरेकेण ज्ञानक्रिये भवत इत्यर्थः । एवं सति नित्यं वस्तु सदविद्यया कल्पितमिति वक्तुं न शक्यम् । विरोधात् । तस्य किञ्चित् कार्यं कर्तव्यं नास्ति,

---

करणमिन्द्रियादिकमपि नास्ति । अत एव 'न तत्सम' इत्यादि । यतः कर्तव्यं विनापि विविधाः शक्तयः, करणं विनापि ज्ञानादिमत्त्वं च श्रूयते । अतः सर्वा अपि शक्तयः, स्वाभाविक्य इति व्याख्यानमपि नातिदुष्टम् । यद्यपि नित्यत्वेन सृष्टेः पूर्वमनन्तरं च तासां वर्तमानत्वान्न हि तदा किञ्चित् कर्तव्यमस्ति, तथापि सामन्यनिषेधपरत्वेन दुष्टमेव । ईक्षत्यधिकरणविरोधात् । तथाहि- 'सदेव सौम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीय' मित्युपक्रम्य, 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति' 'तत्तेजोऽसृजते'ति । तथाऽन्यत्र 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत्, स ऐक्षत लोकानुत्सृज इतीमाँल्लोकान् सृजत' इत्यादिश्रुतेः सृष्टेः प्राग् ब्रह्मणोऽशरीरत्वं तेजः-प्रभृतिलोककर्तृत्वं च मिथ्यावादिनाप्यङ्गीकार्यम् । अतः कर्तव्यांशसामान्यनिषेधस्तु नोपपद्यते । न हि तदा कश्चिज्जीवोऽस्ति । येन स्वाविद्यया तत्कर्तृत्वलक्षणविशेषः कल्प्येत । अस्तीति चेत्, सदेवेति श्रुतिविरोधः । एवं सति यथा स्वाभाविक्यो ज्ञानादिशक्तयः श्रुतिबलेनाङ्गीकृताः अस्येति षष्ट्या भेदेन निर्देशाद्धर्मरूपास्तथा 'सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुख' मित्यादिश्रुतिस्मृतिबलेन स्वरूपभूतानन्दमात्रकरपादादीनामपि संभवान्न करणानामपि सामान्यनिषेध उपपद्यते । तस्मादस्मदुक्त एवार्थः ॥

(३३) किञ्च, अविद्याकल्पनपक्षे तत्प्रसादेन तत्प्राकट्यतद्दर्शनाद्यनुपपत्तिः । तदर्थं तपस्यादितत्साधनप्रवृत्त्यनुपपत्तिश्च । न हि तपस्यादिसाधनानां दोषोद्भव एव फलम् । यने तेषु क्रियमाणेष्वेतादृशो भ्रमोऽविद्यया जन्यत इत्युच्येत । तथा सति चित्तकषायशोधकत्वं साधनानां सर्वत्र श्रूयमाणं व्याहन्येत । दोषाधिक्यजनकत्वेन निन्दितत्वं च स्यात् ।

ब्रह्मणः सविशेषत्वं जीवाविद्याकल्पितमित्यस्य प्रकारान्तरेण खण्डनम् ।

किञ्च 'पराञ्चि खानी'ति श्रुत्याऽविद्यावदिन्द्रियाविषयत्वं, तद्रहिततद्विषयत्वं च प्रतिपाद्यते । श्रीमद्देवकीगर्भरत्नेनाऽपि- 'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया । शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथे' तीतरसाधनासाध्यतोक्तिपूर्वकं, 'भक्तया त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुने' ति

भक्त्यैकसाध्यत्वं दर्शनादीनां निरणायि । तथा चैवंविधश्रुतिस्मृतिविप्लवं कुर्वन् पारलौकिकसन्मार्गमात्रोच्छेदनाय प्रवृत्त आसुर एवेति सद्भिरूपेक्ष्यः । कल्पान्तकाले शरीरेन्द्रियाभावेन जीवानां भगवति प्रवेशाच्च कल्पनासामर्थ्याऽभावे सत्यपि नारायणशयनकथनाच्च । इत एव प्रलयानुपपत्तिरपि ज्ञेया ॥

किञ्च 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व'मिति श्रुत्याद्युक्तप्राथमिकब्रह्मसृष्ट्यनुपपत्तिः । तदानीमीश्वरातिरिक्तस्याभावेन तत्कल्पकाभावात् । ईश्वरस्य च न कल्पकत्वं वक्तुं शक्यम् । ईश्वरत्वव्याहतेः । 'यो विदधाती' ति श्रुत्युक्तमीश्वरकर्तृत्वं चापेयात् । किञ्च, सूत्रकारः सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयं प्रतिज्ञाय तन्निरूपणार्थं प्रवृत्तः सन् निःसन्दिग्धतत्पराणां निश्चितत्वादेव निरूपणमकृत्वा सन्दिग्धतत्पराणामेव 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरूषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रु'रिति, 'अस्य लोकस्य का गतिराकाश इति होवाचे' त्यादि, 'कतमा सा देवता प्राणइति होवाचे' त्यादि, 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यत' इत्यादीनाम्, 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' 'अत एव प्राणः' 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इत्यादिभिरधिकरणैर्महता प्रबन्धेन यन्निरूपयत्यतो यत्प्रकारकं श्रुतिर्निरूपयति तादृशमेव तद्ब्रह्मैवेति सूत्रकारानुशय इति ज्ञायते । अन्यथा 'य एषोऽन्तरादित्य' इत्यादिश्रुतिनिरूपितदस्वरूपाणां तादृग्जीवादिस्वरूपत्वे ब्रह्मस्वरूपत्वे वा तव मतेऽविद्याकल्पितत्वस्याविशिष्टत्वाद्ब्रह्मपरत्वमेवैतेषामिति न निर्णयं कुर्यात् ॥

(३४) ननु ब्रह्मपरत्वेनैवोपासनानि तत्तत्फलसाधकानि । ईश्वरपुरषाकाशप्राणादिरूपेष्वब्रह्मत्वेनोपासने कृते तत्तत्फलं न भविष्यतीति तेषु ब्रह्मत्वबोधनार्थं सूत्रकारेण निर्णयः कृत इति चेत्, मैवम्; वस्तुतस्तेषामब्रह्मत्वे तन्निरूपिकाणां श्रुतीनामब्रह्मपरत्वापत्त्या तन्नियमव्याहतेः, प्रतारकत्वापत्तेश्च । किञ्चाविद्याकल्पितत्वाविशेषात्प्रसिद्धार्थनिवानूद्य नैतदिति निषेधमेव कुर्यात् । समन्वयप्रतिज्ञामेव च न कुर्यात् ।

ब्रह्मसूत्रैः सविशेषश्रुतीनामुपासनार्थं ब्रह्मपरता साध्यत इत्यस्य खण्डनम् ।

तेषामब्रह्मत्वेन तन्निरूपिकाणां तासामतन्निरूपकत्वात् । तथा च,'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती'तिश्रुतिविरोधः । एतेन सविशेषनिरूपिका श्रुतिर्न ब्रह्मस्वरूपं निरूपयितुं प्रवृत्तेत्यादि निरस्तम् । किञ्च, 'कृते शुक्लश्चतुर्बाहु'रित्यादिनाइलावृतादिदेशविशेषेषु, 'तुरीयां तामसीं मूर्ति'मित्यादिना च नियतदेशे नियतकाले नियतानेकरूपकथनमनुपपन्नं स्यात् । एकस्या एवाविद्याया नियतसामयिकनियतवस्तुकल्पने समयान्तरे चान्यादृशकल्पनेहतोरशक्यनिरूपणत्वात् । न च कालादेव हेतुत्वं, तस्याप्येतत्तुल्यत्वात् । न च तादृक्स्वभावैव सेति वाच्यम् । अद्वैतश्रुत्यनुरोधेनासद्रूपत्वेनैव सा त्वदभिमतेति तत्स्वभावस्यापि तादृशत्वेन कस्य कारणत्वम् । ननु कार्यमपि तथैवेति यक्षबलिन्याय इति चेत्, कार्यमास्तां वा तथा, कारणेन तु सतैव भाव्यं मणिमन्त्रादिन्यायेनेति पूर्वमेवावोचाम । किञ्च, ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय ब्रह्मत्वेन निरूपितसविशेषाणां कल्पितत्वं वदन् व्यासस्य प्रतिज्ञाहानिमपश्यन्नुन्मत्तोऽसि ॥

(३५) ननु ब्रह्मण एकरसत्वेन सविशेषाणां चानेकरसत्वेन ब्रह्मत्वानुपपत्तिरिति चेत्; मैवम् ।धर्मिग्राहकप्रमाणसिद्धत्वात् । तथाहि-ब्रह्म वेदैकसमधिगम्यम् । तत्र च 'सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरस' इति निरूप्यते । 'सर्वतःपाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति । सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ चे' त्यादिना भगवतैव स्वस्वरूपं प्रतिपादितम् । अत्रान्तपदेन करचरणाद्यवच्छेद उच्यते । अत एव पौगण्डलीलासामयिकं स्वरूपं यावत्परिमाणकं तावत्परिमाणकं तदेव स्वरूपं पूतनामुक्तिदानदशायामपि वर्तत इति संगच्छते । सर्वेषामपि रूपाणां नित्यत्वात् । अग्रे च क्रमेण प्रादुर्भावः परम् । यतो बाल्येऽल्पदेशावच्छेदः करादीनां, पौगण्डादिषु चाधिकदेशावच्छेदो भक्तैरनुभूयते । तत्र च शुद्धब्रह्मत्वं ब्रह्मणैव विचारितम्-'तोकेन जीवहरणं यदुलूकिकायास्त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्तः ।

विरुद्धधर्माश्रयतासाधनेनैकरसत्वानुपपत्तिसमाधिः ।

यद्रिङ्गताऽन्तरगतेन दिविस्पृशोर्वा उन्मूलनं त्वितरथाऽर्जुनयोर्न भाव्य'मित्यादिना द्वितीयस्क'न्धेऽपि । दशमस्कन्धेऽपि दामोदरलीलाप्रस्तावे-'न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् । पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्चयः । तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम् । गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथे'त्युक्त्वा रज्जुन्यूनतानिरूपणेनापि पूर्णत्वं तस्यैव प्रतिपादितम् । 'त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः । उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं साऽमन्यतात्मज'मिति वाक्येन मृत्स्नाभक्षणानन्तरीययशोदाप्रार्थितनिजवदनव्यादाने प्रदर्शितसात्मव्रजसहितसकललोकावलोकनजनितवस्तुजिज्ञासायां यशोदायाः पक्षान्तरनिराकरणपूर्वकतत्त्वनिर्द्धारका'ऽथो अमुष्यैव ममार्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोग' इतिवाक्येन च । एतेनैव 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवीमन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति स आत्मान्तर्याम्यमृत' इति श्रुत्युक्तधर्मवत्त्वेनापि ब्रह्मत्वं सिद्धम् । यत एकोऽप्यसाधारणो धर्मो विद्यमानः शिष्टान् सन्दिग्धानपि ब्रह्मधर्मानेव गमयति । इममेव हि श्रुत्यभिप्रायमङ्गीकृत्य सर्वत्र ब्रह्मवाक्यनिर्णयमाह सूत्रकारः । एतत्सर्वं भागवतविवरणे तत्त्वसूत्रभाष्ये च विस्तृतं पितृचरणैरिति दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते ॥

किञ्च, सर्वाणि यानीन्द्रियाणि चक्षुर्वागादीनि तद्ग्राह्या गुणाश्चालौकिकास्तथैव शुद्धमेव ब्रह्मावभासते । ब्रह्मैव कर्मेन्दियज्ञानेन्द्रियादिरूपेण भासत इत्यर्थः । न तु लौकिकानीन्द्रियाणि तत्र सन्ति । तदाह'सर्वेन्द्रियविवर्जित' मिति । 'असक्त' मित्यादि स्पष्टम् । अत एव 'वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषा' दित्यधिकरणे 'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' इति श्रुत्युक्तप्रादेशपरिमाणवत्त्वमभितो विगतमानत्वलक्षणं व्यापकत्वं वाजसनेयिशाखोक्तं 'स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषस्तं यो हैनमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेदे'त्यनेन पुरुषत्वं, तस्यैव तद्विधत्वं, तस्मिन् प्रतिष्ठितत्वं च परस्परविरूद्धं ब्रह्मण्येव संभवति, तस्यैव विरूद्धसर्वधर्माश्रयत्वाद्, नाग्न्यादिष्विति निरूपयन् जैमिन्यादिमतोपन्यासकरणेन पक्षान्तरेष्वरूचिमुद्भाव्य सिद्धान्तमवदत्-'आमनन्ति चैनमस्मि'न्निति । अस्यार्थस्तु-एनं परमेश्वरं व्यापकमेवास्मिन् मूर्द्धचिबुकान्तराले प्रादेशमात्रं जाबालाः समामनन्ति 'य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा योऽविमुक्ते च प्रतिष्ठित इति, सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित' इत्यादिना । तथा चानन्तपदाद्देशकालापरिच्छिन्नस्यैव संकुचितस्थाने श्रुतिः स्थितिं कथयतीति प्रादेशमात्रस्याप्यभिविमानत्वं संगच्छते । एतेन विरूद्धधर्माश्रयत्वं ब्रह्मणः श्रुत्यभिमतं वेदितव्यम् । अन्यथाऽनन्त इति न वदेत् । प्रयोजनाभावात् ॥

परामिमतोपासनास्वरूपदूषणमविरोधव्युत्पादनं च

(३६) ननु मया पूर्वमेवाऽवादि सविशेषनिरूपणमुपासनार्थमिति । नन्वनुपहतकर्णेन मयाप्यश्रावि । तर्हि किमनुपपन्नम् ? त्वदभिमतोपासनार्थत्वमेव । कथम् ? । इत्थम्-उपासनायां तु तत्र तत्प्रकारकभावमात्रं, न तु तद्वस्तु तादृशमिति हि तवाभिमतम् । उपास्यं चात्मत्वेनैव, न त्वनात्मत्वेन । 'आत्मेत्येवोपासीत' 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति 'न स वेद यथा पशुरेवं हि स देवानां पशु'रिति श्रुतेः । एवं च सति 'योऽन्यथासन्तमानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणे'ति श्रुत्याऽयथाकल्पनस्य निन्दितत्त्वात्तादृशमेव तद्रूपमिति मन्तव्यम् । एवं सत्यनन्तरूपत्वमेव ब्रह्मणः श्रुत्यभिमतम् । तथा चानेन रूपेणैतादृशोपासकस्यैतादृशं फलं दास्यामीतीश्वरेच्छयैव तथैव भवतीति ज्ञापयन्ती श्रुतिरूपासनाभेदेन फलभेदमप्याह ॥

किञ्च, त्वदुक्तरीत्योपासनाविषयस्यातत्प्रकारकत्वेनाब्रह्मत्वमागतम् । तथा च तन्निरूपिकाणां श्रुतीनामब्रह्मपरत्वे प्राप्ते 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशा' दिति तत्वसूत्रविरोधः । असद्भावनया चासदेव फलं स्यात् । तथा च 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशा' दिति तत्वसूत्रविरोधश्च । 'असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चे'दिति श्रुतेरूपासनाविषयाणामसत्वं जानानस्य तवान्धन्तमःप्रवेशेनासत्वमेव

---

१. अपिः केवलं तोषिणीसंमतः ।

फलमिति प्रतिजानीमः । तथा चोक्तं त्वादृशानेकासुरचमूपतीनां श्रुतिस्मृत्याचारपराणामपि निजबन्धुसुहृद्रूपाणामपि वधाय सकलप्रमाणनिषिद्धत्वेनाधर्मबुद्ध्या तद्वधविमुखं विजयं शिक्षयता तद्वधेन सकलसज्जनान् परिपालयता श्रीदेवकीपुत्रेण । ‘अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् । परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वर’मित्यादिनाऽऽसुराणां स्वाभजनमुक्त्वा ‘महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः । भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्यय’मिति । तत्रैवाऽऽसुरभावनिरूपणे च ‘असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वर’ मित्यादिना निरूप्य ‘आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि । मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गति’ मित्यन्तेन । अत्र ‘मानुषीं तनुमाश्रित’ मिति तज्ज्ञानप्रकारकथनं, न तु स्वरूपस्य, पूर्वोक्तयुक्तिभिरानन्दरूपत्वस्यैव निर्णीतत्वात् । यथा चैतत्तथाऽऽनन्दमयाधिकरणविचारे निरूपितं भाष्ये पितृचरणैः । अत एवाग्रे भगवानाह - ‘परं भावमजानन्त’ इति । परो भाव आनन्दमात्रत्वलक्षणः । एतेन विशेषाणां लौकिकत्वाद्ब्रह्मणश्चालौकिकत्वात्तन्निषेधस्तत्र युक्तः, तेषामप्यलौकिकत्वकल्पने, ब्रह्मणि च विरुद्धसर्वाधारत्वाद्यलौकिकशक्तिकल्पने गौरवमिति निरस्तम् । सर्वस्यैव प्रमाणसिद्धत्वेनाकल्पितत्वात् । स्वयुक्त्या कल्पने हि त्वदुक्तं दूषणम् । अन्यथा ब्रह्माङ्गीकारेऽपि गौरवमिति तदनङ्गीकारोप्यापद्येत । तथा च शून्यवाद आपद्येतेति गङ्गातरङ्गसङ्गिकमलपरागधूसरानिलसुखभिया स्ववैराग्यख्यापनाय जनतासमक्षं पलायमानस्य मायावादिकुहकनिर्विण्णस्य शूकरगर्ते निपातः ॥

किञ्च, अस्थूलादिवाक्यविरोधेन हि विशेषाणां कल्पितत्वं ब्रूषे, तत्र विरोधः कयोरिति पृच्छामः । परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोरिति चेत् ब्रूषे, तत्रापि पृच्छामो यत्र कुत्रचित्तथात्वेऽपि सामान्यविरोध, उत यत्र तथात्वेन प्रतीतिस्तत्रैव तयोः प्रतीतौ विरोधो, नान्यत्रेति । तत्र नाद्यः, परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोरपि निष्क्रमणत्वप्रवेशनत्वयोरेकस्मिन् कर्मण्यनुभवात् । अथ तत्र प्रमाणप्रतीतिसिद्धत्वान्न विरोध इति ब्रूषे, तदा ब्रह्मण्यप्रामाण्यशङ्काकलङ्करहितवेदसिद्धत्वादुभयधर्माणां न विरोध इति तुल्यम् । तेन द्वितीयः पक्ष एव साधुरिति मन्तव्यम् । तथा च लोक एव तथात्वेन प्रतीतेर्लौकिकेष्वेवातथात्वे विरोधो, न त्वलौकिकेषु धर्मेषु । धर्मिग्राहकप्रमाणसिद्धत्वात् ॥

प्रतिपत्त्यर्थमारोप इति निरस्य ब्रह्मणोऽप्राकृतधर्मत्वप्रतिपादनम् ।

(३७) ननु स्यादेवं यदि परस्परविरुद्धानेकधर्मवत्वमात्रं बोधयेच्छ्रुतिर्न निषेधेत्, नत्वेवम् । तथा चाखिलश्रुत्युपपत्त्यर्थं ब्रह्म निर्द्धर्मकमेव । यतो धर्मान् स्वयमेवोक्त्वा स्वयमेव तत्र निषेधति । धर्मनिरूपणं तु यथा कथंचिद्धर्मिप्रतिपत्त्यर्थम् । अन्यथा तादृशस्य निरूपयितुमशक्यत्वात्तदज्ञानेन सर्वेषां मोक्षोच्छेद एव स्यात् । ततस्तत्सिद्धौ धर्मनिषेधमुखेन शुद्धं तन्निरूपयतीति मन्तव्यमिति चेद्, बाढमेवमेव मन्तव्यं स्याद्यदि स्वोक्तधर्मानेव श्रुतिर्निषेधेत् । नत्वेवम्, किन्तु ब्रह्मधर्मनिरूपणे कृते तेषु प्राकृतत्वादिशङ्का स्यात्, तन्निवृत्त्यर्थं प्रापञ्चिकधर्मानेव ब्रह्मणि निषेधति । अन्यथाऽसत्पदार्थनिरूपकत्वेन प्रतारकत्वेन च श्रुतेरप्रामाण्यं स्यात् । लोकप्रसिद्धदुःखितत्वादिधर्मनिषेधेनापि निर्द्धर्मकतन्निरूपणस्य शक्यत्वात् ॥

ननु श्रुत्युक्ता अपि लौकिका एवेति चेत्, रे मूढ । कुत्र वा लोके त्वया त्वत्पित्रा वा सर्वतःपाणिपादान्तत्वादय, एकस्मिन् धर्मिणि सर्वेशितृत्वादिकं, श्रुत्युक्तमानन्दमात्रकरादिमत्त्वं च दृष्टं श्रुतं वा ब्रह्मातिरिक्ते, येनैतेषु लौकिकधर्मानुवाद इति ब्रवीषि । अप्रसिद्धानपि बोधनार्थं स्वयमेवोक्त्वा निषेधतीति न वक्तुं शक्यम् । दत्तोत्तरत्वात् । तथा च तदुक्तब्रह्मण्यप्यनाश्वासप्रसङ्गने महानेवानयो भवेत् ॥

किञ्चैवं ‘जन्माद्यस्य यत’ इत्यादिलक्षणकं ब्रह्म निरूपयिष्यमाणो बादरायणः पूर्व‘मथातो ब्रह्मजिज्ञासे’ त्युक्त्वाऽस्थूलादिश्रुतिं विचारय‘न्नथ ब्रह्मजिज्ञासे’ति वदेत् । एवं सति सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मपरत्वं दत्ततिलाञ्जलि स्यात् । तथा च समन्वयाध्यायासङ्गतिः । सूत्रे सविशेषनिरूपिकाणां श्रुतीनां परस्पराविरोधचिन्तनमप्यप्रयोजनकं स्यात् । निषेध्यानामविरोधे विरोधे वा

विशेषाभावात् ॥

ननु सूत्रेष्वपि निर्विशेषस्यैव मुख्यतया निरूपणं दृश्यते । ‘अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्’ प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय’ इत्यादिश्य इति चेत्, मैवम्; तदर्थानवबोधात् । तथाहि-तत्र[1] जडजीवधर्मा ब्रह्मणि सन्ति न वेति विचारयँस्तन्निरूपकनिषेधकश्रुतीनामन्योन्यविरोधपरिहारं विचारयन्नुभयोरपि श्रुतिवाक्यत्वेनान्यतरबाधमप्यशक्यं जानन्नौपाधिकं ब्रह्म सविशेषश्रुतिविषयो, निरूपधिस्वरूपं तन्निर्विशेषश्रुतेरिति मतं ‘न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र ही’ति सूत्रेणौपाधिकत्वे तत्स्वभावत्वं ब्रह्मणो न संभवतीति तच्छ्रुतीनामब्रह्मनिरूपकत्वापत्तिरिति निरस्य, पुनरूपहितानुपहितयोर्भेदाङ्गीकारेणोभयरूपत्वं ब्रह्मणि भविष्यतीति तन्मतोपपत्तिमाशङ्क्य, ‘न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्’ इति सूत्रेण, ‘अपि चैवमेक’ इत्यग्रिमेण चाभेदबोधकश्रुतिविरोधनिरूपणेन निरस्य, पुनराकाराणां प्रपञ्चमध्यपातित्वात्प्रपञ्चस्य जन्यत्वात्तेषामपि तथात्वात्तेषु ब्रह्माभेदबोधनमौपचारिकम् । अतः साकारवादिन्यो न ब्रह्मनिरूपिका इति प्राप्ते आह-‘अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वादि’ति । स्यादेतदेवम्, यद्याकाराणां प्रापञ्चिकत्वं भवेत्, न त्वेवम् । न हि प्रपञ्चे स्थितत्वेनैव प्रापञ्चिकत्वं वक्तुं शक्यम् । त्वदभिमतस्यापि तथात्वापत्तेः । अतो निराकारवादिनीष्विव साकारवादिनीष्वपि श्रुतिष्वरूपवदेव तत्प्रतिपाद्यते । रूप्यते निरूप्यते व्यवह्यित इति रूपं सर्वव्यवहारविषयत्वं, तद्युक्तं रूपवद्विश्वं, ब्रह्म तु तद्विलक्षणमित्यर्थः । यथा चैतत्तथा मृत्स्नाभक्षणादिप्रसङ्गनिरूपणेन निरूपितम् ॥

अथवा रूप्यते व्वह्यितेऽनेनेति करचरणाद्युच्यते । तथा च यथा लोके करादिकं भिन्नं, तद्वानभिमानी भिन्नस्तथा ब्रह्म न श्रुतौ करादिभिन्नं तदभिमानित्वेन निरूप्यते, किन्तु करादेरपि ब्रह्मत्वाद्भेदाभावाद्रूपरूपमेव निरूप्यते, न तु रूपवदित्यर्थः । ननु कुत एतदवगम्यते करादीनामपि ब्रह्मत्वमेव, न तद्भिन्नत्वमित्यत आह तद्विनिगमकम्- ‘तत्प्रधानत्वा’दिति ।

सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मैव प्राधान्येन प्रतिपाद्यं यतः । अयमर्थः करादीनामब्रह्मत्वे तन्निरूपकाणां वेदान्तानामब्रह्मपरतया ब्रह्मपरत्वनियमव्याहतिः । अतः करादिनिरूपकाः साक्षाद्ब्रह्मप्रतिपादका एवेति । ‘सर्वत्रप्रसिद्धोपदेशात्’ ‘आमनन्ति चैनमस्मि’न्नित्याद्यधिकरणरूपोपपत्तिर्हिशब्देनोच्यते । ‘स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरो बाह्यः कृत्स्नो रसघन, एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवे’ति ‘सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे’ति ‘आनन्दमात्रकरपादमुखोदरा दि’रिति ‘आनन्दमयोऽभ्यासादि’त्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायैकवाक्यतया सच्चिदानन्दरूपत्वं करादीनामवधारणीयम् । अत एवाग्रे सूत्रकारोऽप्याह-‘आह च तन्मात्र’ मिति । एता एव श्रुतयोऽत्रानुसन्धेयाः । त्वदभिमतव्याख्याने त्वरूपमित्येतावतैव चारितार्थ्यं स्यात् । रूपवत्वस्योभयवाद्यसंमतत्वेनाविवादास्पदत्वात्तन्निषेधानुपपत्तिः । रूपरूपस्य सिद्धान्त्यभिमतत्वात् । एवं सति तथा कथनादस्मदुक्त एवार्थः सूत्रकाराभिमत इति ज्ञायते ॥

अपि च ‘दर्शनाच्चे’त्यन्तेन श्रुतिस्मृतिप्रत्यक्षैः सर्वविरुद्धधर्माश्रयत्वेन विरोधं परिहृत्य युक्त्यापि प्रतिषेधति-‘प्रकृते’ति । अस्थूलादिवाक्यैरेतावत्वं स्थूलत्वाणुत्वह्रस्वत्वादिकं श्रुतिर्ब्रह्मणि यत्प्रतिषेधति, तत्प्रकृते लोके प्रकृतं वा यल्लौकिकमेतावत्त्वं तदेव प्रतिषेधति, न तु स्वोक्तान् धर्मान् सर्वेशितृत्वादीनित्यर्थः । एवमेव ‘नेति नेती’ त्यत्रेतिशब्दः प्रकारवाची । तथा च पूर्वं मूर्तामूर्तं ब्रह्मणो विभूतिरूपं ‘य एवं वेदे’ त्यन्तेन निरूप्य यस्यैतद्रूपद्वयं पूर्वमेव षष्ठ्यन्तेन पदेन निरूपितभेदस्य तस्मिन्निरूप्यमाणेष्वपि सर्वतःपाणिपादान्तत्वादिष्वेवं लौकिकत्वेन वेदनं माभूदिति भिन्नप्रक्रमेणैतत्प्रकारकं वेदनं ब्रह्मणो निषेधति ‘अथात’ इत्यादिना । अयमर्थः-ब्रह्मण्यपि मूर्तामूर्तरूपे ‘सर्वतःपाणी’त्यादिश्रुत्युक्ते वेदितव्ये, परं त्वनेन प्रकारेण न वेदितव्ये ब्रह्मण एते रूपे इति, किन्तु ब्रह्मैवेति वेदितव्ये इत्यर्थः । अत्र विनिगमकमाह सूत्रकारः- ‘ततो ब्रवीति च भूय’ इति । यस्मिन्नेव वाक्ये प्रकरणे वा निषेधति तस्मिन्नेव निषेधानन्तरं पुनस्तं धर्ममाह श्रुतिः ।

---

[1] ‘तत्र हि’ इति पाठः ।

यथा ‘पराञ्चि खानी’ त्युक्त्वा ‘प्रत्यगात्मानमैक्ष’ दिति, ‘यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह’ त्युक्त्वा ‘आनन्दं ब्रह्मणो विद्वानि’ ति, अस्थूलाद्युक्त्वा ‘एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि । द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठत’ इत्यादि । त्वद्व्याख्याने तु प्रकृतपदं व्यर्थं स्यात् । एतावत्पदेनैव सान्निध्यतो रूपद्वयप्रतीतेः संभवात् । न चैतावत्पदस्य सामान्यवाचकत्वाद्विशेषात्मकत्वं तस्येति वाच्यम् । तुल्यत्वात् । अथ वा अत्र हि ‘नेति नेती’ तिवाक्यं विचार्यते, निषेधः कस्येति । तत्र सूत्रे प्रकृतशब्देन ‘द्वे वा व ब्रह्मण’ इत्यादिनोक्तं मूर्तामूर्तलक्षणं रूपद्वयं परामृश्यत इति तवाभिमतम् । तथा च प्रकृतत्वं प्रतिषेधतीत्येतावतैव चारितार्थ्ये सत्येतावत्पदं व्यर्थम् । तेनास्मदुक्त एवार्थो व्यासाभिमत इति मन्तव्यम् । तथा च सविशेषनिर्विशेषनिरूपिकयोः श्रुत्योर्विरोधाभावात्प्रापञ्चिकधर्मरहितं सहजानन्तधर्मयुक्तं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥

(३८) यत्तु दृश्यत्वेन प्रकाश्यत्वेन चा ‘दृश्यमग्राह्यम्’ ‘न तत्र सूर्यो भाती’ त्यादिश्रुतिविरोधान्न सविशेषकथनं युक्तमिति । तदसत् । दृश्यत्वस्यापि श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वात् । तथा हि- ‘कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्’ ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः’ ‘भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप,’ ‘शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः । त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुज’ मित्यादि ।

ब्रह्मणः स्वेच्छया दर्शनादिव्यवहारविषयत्वम्, अन्यदा तदभाव इति तदुपपादकविरुद्धश्रुतिव्यवस्थापनम् ।

एवञ्च सत्युभयाविरोधायादृश्यत्वादिरूपिका श्रुतिरिन्द्रियादिसामर्थ्येन दृश्यत्वं निषेधति, दृश्यत्वरूपिका भगवदनुग्रहेणैव भगवतो दृश्यत्वं वदतीत्यवधारणीयम् । यतो भगवतैवोक्तम्- ‘मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगा’ दिति । अत्रात्मयोगपदात् प्रसन्नः सन् स्वसामर्थ्यं दत्वा प्रदर्शयतीति ज्ञायते । ब्रह्माणं प्रत्यपि भगवद्वाक्यम् - ‘मनीषितानुभावोऽयं मम लोकावलोकन’ मिति । अत एव सूत्रकारोऽप्याहादृश्यत्वपूर्वपक्षे-

‘अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्या’ मिति । अपीति पूर्वपक्षिगर्हायाम् । मूर्वः पूर्वपक्षीति । यतः सम्यगाराधने पश्यन्ति, कथमेवम्? प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ‘अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामी’ ति प्रत्यक्षं, ध्रुवादीनामनुमापकत्वं ताभ्यामित्यर्थः । श्रुतिस्मृतिभ्यामिति वा । एवं सति मां सर्वे पश्यन्त्विति साधारणेच्छया प्रादुर्भावेन सर्वेषां दर्शनसामर्थ्यमवतारदशायाम् । अन्यदा तु ‘नाहं वेदै’ रिति ‘भक्त्या त्वनन्यये’ ति वाक्याच्च भक्त्यैवेति निर्णयः । भक्तानां त्ववतारदशायामपि भक्त्यैव, ‘न साधारणेच्छया । तद्भक्त्यैव तदर्थमेव प्रादुर्भावात् । साधारणेच्छाऽपि यतस्तदर्थैव । लोकमध्य एव यतस्तेषां सुखजननम् । अन्यथा लोके स्वप्राकट्यं निष्प्रयोजनकं स्यात् । सर्वेषां भगवद्दर्शनेऽपि यन्मोहानपगमस्तत्र तदिच्छैव प्रतिबन्धिका । तस्य सत्यसङ्कल्पत्वात् । एवमेव भगवत्स्वरूपाज्ञानमपि । अलौकिकतेजोऽप्रदर्शनं लौकिकानुकरणं च लीलार्थमेव । अन्यथा लीलैव न संभवति । सर्वेषां च तदैव मोक्षः स्यात् । तथा सति सृष्टिमर्यादोच्छेदः स्यात् । एवमेव प्रकाश्यत्वमपि ज्ञेयम् । ‘यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामक’ मिति वाक्यात् स्वतेजसा स्वस्य प्रकाश्यत्वमपि नातिविरोधि । सर्वव्यवहारविषयत्वं भगवत्कृतमेव, न तु जीवेन स्वतः कर्तुं शक्यम् । अत एव सूत्रकारोऽप्याह- ‘प्रकाशवच्चावैयर्थ्या’ दिति । अर्थस्तु पूर्वेणाकारे प्रतिपादितेऽपि ‘यतो वाचः’ ‘तं त्वौपनिषद’ मित्यादिनिरूपितव्यवहारविषयत्वाविषयत्वविरोधो न परिहृतः, शास्त्रवैफल्यं चेत्यत आहेदम् । यथा सौरादिप्रकाशो व्यवहार्योऽव्यवहार्यश्च । न हि स्वतः संपादयितुं स्थापयितुं वा शक्यते । आगते तु सूर्ये मेघाद्यभावे च सांनिध्यमात्रेण व्यवहारः कर्तुं शक्यते । तथा च लौकिकवाङ्मनोभिर्न शक्यते व्यवहर्तुमीश्वरः सान्निध्ये तु शक्यत इति द्वयमाह श्रुतिः । कुत एतत्? अवैयर्थ्यात् । अन्यथैकस्याः श्रुतेर्वैयर्थ्यापत्तेरिति । दर्शनव्यवहारस्य श्रुतिसिद्धत्वमुक्तमेव । तथा च दर्शनव्यवहारन्यायेनापरस्यापि व्यवहारस्य निर्णयः । तथा चोक्तं श्रीभागवते- ‘पश्यन्ति ते म’ इत्युपक्रम्य ‘साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ती’ ति । ‘यमेवैष वृणुने तेन लभ्य’ इत्यादिश्रुत्या च ॥

ननु दर्शनं ज्ञानमेव, न तु चाक्षुषं श्रुत्या निरूप्यते, ब्रह्मणोऽरूपित्वादिति चेत्, न; ‘भक्त्या त्वनन्यये’ति वाक्ये ‘ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तपे’ति ज्ञानदर्शनप्रवेशानां भिन्नतयैव निरूपणात्। रसादिरूपश्च व्यवहारः प्रमाणसिद्ध इति तत्र प्रसिद्धकामतद्भावरिंसारमणादयोऽपि शुद्धब्रह्मधर्मा एवेति ज्ञेयम्। ‘सर्वशक्ति’रिति श्रुतौ ‘परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे’ति श्रुतौ सहजा नन्तशक्तिमत्त्वेन निरूपितत्वेन सर्वार्थोपपत्तेः । तेन कामसमय एवाकामोऽपि, निजचरणनखसुषमालेशजिताशेषसुरसुन्दरीणामखिलस्त्रीरत्नभूतानां व्रजवरवधूनामनवद्यहृद्यकनकाचलेषु विहरन्नप्यात्माराम एव । अत एवा‘त्मारामोऽपी’ति तत्रोक्तम् । प्रियाविप्रयोगेनावसादादिभावं भजमानोऽपि ‘तन्न वेद्मी’ त्यादिवचनैरजानन्नपि व्यापक एव, परमानन्दरूप एव, सर्वज्ञ एव ॥

विरूद्धधर्माधारत्वं श्रौतमिति न तत्र लोकरीत्या दोषसम्भवः ।

(३९) ननु प्रतियोग्यभावयोरेकावच्छेदेन स्थितिर्न वक्तुं शक्या, तथैव विरूद्धसर्वधर्माणामप्यतो नैवं वक्तुं युक्तमिति चेत्, न वयं वदामः, किन्त्वनुवदामः । अतो न वयमत्र पर्यनुयोगार्हाः । यदनुवादस्तां श्रुतिं चेत् पर्यनुयोक्तुमुद्यतोऽसि, महत्ते साहसं खद्योतस्येवोदयाचलशिखरैकदेशस्थितिमात्रेण सकलजगत्तमःकपाटविपाटनपटुं खाशक्यतया तरणिं पर्यनुयोक्तुमुद्यतस्य । अथ लोके तथाऽदर्शनात्तदनुसारेणैव च तदर्थस्य च वक्तुमुचितत्वाच्छ्रुतित्वेनोभयस्यापि तुल्यत्वात् सगुणनिर्गुणपरत्वं कल्प्यत इति चेत्, हन्त !! एवं लोकानुसारेण तदर्थनिर्णये निर्द्धर्मकपदार्थस्यापि लोकेऽदर्शनात् सत्तादीनामपि कालाद्याधारत्वसमवायादिधर्मवत्त्वात्त्वदभिमतं ब्रह्मापि न सिद्ध्येत्। श्रुतिबलेनेति तु तुल्यम्। एवं सति लोकाप्रतीतं निर्द्धर्मकं वस्तु चेदङ्गीकुरूषे, तदा लोकाप्रतीतामपि प्रतियोग्यभावयोप्येकावच्छेदेन स्थितिमङ्गीकुरू। एवं सति श्रुत्यर्थो न लोकरीत्या निर्णेतुं शक्यत इति सिद्धम् । अत एव श्रुतिरप्याह- ‘नैषा तर्केण मतिरापनेये’ति, ‘अलौकिकास्तु ये भावा ताँस्तर्केण योजये’ दिति स्मृतिश्चेति पूर्वमेवावोचाम । किञ्च भगवति

श्रीयशोदास्तनन्धये सर्वे विरूद्धा धर्मा दृश्यन्ते मृत्स्नादिप्रङ्गेषु। न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, व्याघातात् । मायादिपक्षाणां तत्रैव निरस्तत्वात् । ‘अथो अमुष्यैवे’ त्यनेन तद्धर्मत्वेनैव निरूपणात् । अत एव सूत्रकारोप्याह- ‘दर्शनाच्चे’ ति ॥

विश्वरूपादिदर्शनं मायिकमित्यस्य खण्डनम् ।

(४०) अपि च मायया प्रदर्शयतीति वदन् वादी प्रष्टव्यः । किं मायाशब्देन भगवत्सामर्थ्यं ब्रवीष्युत तद्भिन्नाऽसद्रूपाऽसत्कार्यकर्त्रीति । आद्ये त्वोमिति ब्रूमः । न च स्वसामर्थ्येनैवासत् प्रदर्शितवानिति वाच्यम् । ‘यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवीमन्तर’ इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मधर्मत्वेनैव निरूपणात् । तादृशं चेद् ब्रह्म न स्यात्तदैवं वक्तुमवसरः स्यात् । न त्वेवम्, उक्तयुक्तेः । असत्प्रदर्शनं चासुरेष्वेव । यतो मोहनं तेषामेव भगवता क्रियते । अत्र च तादृशानामभावान्न तथा प्रदर्शनमिति सारम् । न द्वितीयः, विकल्पासहत्वात् । तथाहि - सा किं स्वतन्त्रैव कर्त्री, उत ब्रह्माधीना । नाद्यः, जडत्वाच्चेतनत्वेन त्वयाऽनङ्गीकारात् । द्वितीयपक्षे तु करणत्वं स्याद्वाशीवत् । तथा च सहजानन्तशक्तिमत ईश्वरस्य स्वस्वरूपप्रदर्शने का वाऽशक्तिर्यतस्तामूरीकुर्यात् । ‘स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे’ति श्रुतेः । किञ्च उक्तयुक्तिश्रुतिभ्यः सद्रूपं स्वरूपमसद्रूपया तया दर्शयतीति वक्तुमशक्यम्। एतेनैव सगुणत्वमपि प्रत्याख्यातम्। तद्धि प्राकृतसत्वादिगुणाङ्गीकाररूपम् । तच्च स्वतःशक्तस्यानुपपन्नमित्युक्तम् । एतेनैव च ब्रह्मगताऽविद्या ब्रह्मगतविशेषकल्पिकेत्यपि पूर्वविकल्पगतद्वितीयपक्षो निरस्तः । ब्रह्मणि जीवातिरिक्ते त्वया तथाऽनङ्गीकाराच्च । अङ्गीकारे वा तस्या उपाधिभावे प्रयोजिकेश्वरेच्छैव वाच्या । तथा च सर्वभवनसमर्थस्येश्वरस्य त्वदभिमतरीत्या तथा करणे हेत्वभावः । इच्छादीनामपि त्वन्मते तदुपाधिभावोत्तरकालीनत्वादसंभवश्च । आविद्यकत्वे स्वाभाविकत्वहान्या श्रुतिविरोधश्चेति दिक् ॥

ब्रह्मणो रसरूपतया विरूद्धधर्माधारतया च कामादिलीलाया नानुकरणता ।

(४१) ननु कामादिलीलाया अनुकरणमात्ररूपत्वेन प्रियाविप्रयोगतज्जनितक्लेशादयः पूर्णे ज्ञानैकघने परमानन्दस्वरूपे न वक्तुमुचिता इति चेत्, सत्यम् ! नोचिता एव स्युर्यदि

विप्रयुक्तत्वादिना पूर्णत्वादिकं भज्येत, न त्वेवम् । तत्तूक्तं प्रादेशमात्रस्यैवाभिविमानत्वादिनिरूपणेन । अनुकरणमात्रत्वं लीलाया असङ्गतम् । तथा हिभगवत्स्वरूपं हि श्रुत्येकसमधिगम्यम् । तत्र च 'सर्वकामः सर्वाकामः सर्वरस' इत्यनेन सर्वकामरूपत्वं, तद्वत्त्वं च, सर्वरसरूपत्वं, तद्वत्वेन सर्वरसभोक्तृत्वं च प्रतिपाद्यते । तैत्तिरीयकेऽपि 'रसो वै सः' 'रसँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवती'ति पठ्यते। रसेषु च शृङ्गाररसस्य मुख्यत्वात्तस्य च रत्याख्यस्थायिभावस्वरूपत्वात्तद्रूपत्वं तद्वत्त्वं चावश्यं वाच्यम् । तत्र व्रजवरसुन्दरी (भावालम्बनवि) भावत्वेन तद्भावानुसारेणैव च सर्वकरणेनैवैतद्रसरूपत्वम्। एतच्च 'बर्हापीडे'ति 'अक्षण्वता'मिति च 'चूतप्रवाले'ति श्लोकविवरणे प्रपञ्चितं पितृचरणैरित्यत्र दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते । भगवानपि तासु तादृशभाववानिति तद्वत्त्वं, भगवतस्तद्रूपत्वं च, भगवति भावानामपि स्वरपातिरिक्तानामभावात्। अन्यथा श्रुत्युक्तं रसभोक्तृत्वं रसरूपत्वं च भज्येत । एतस्य रसस्यैतादृशत्वादेव तथात्वं मन्तव्यम् । तथा च यावती तस्य रसस्य मर्यादा, तावती सर्वाऽपि भगवत्यस्तीति मन्तव्यम् । अन्यथा रसत्वव्याहतिरित्युक्तम् । न ह्यनुकरणे स्वस्मिन् स रस आपद्यते, तासां वा रसोत्पत्तिः । अन्योन्यमनाविर्भावे तद्रसत्वं तत्र नास्तीति यतस्तद्रसशास्त्रमर्यादा । अत एव गजदृष्टान्तः सर्वत्र 'आत्तगजेन्द्रलीलः' 'यथा मदच्युद्विरदः करेणुभिः', 'श्रान्तो गजीभिरिभराडिवा भिन्नसेतु'रित्यादिः । अतः शृङ्गाररसरूपत्वेन प्रियाविप्रयोगे तत्कार्यतत्संगमतत्कार्याः सर्व एव संभवन्तीति न ब्रह्मत्वक्षतिः । वस्तुन एव तथात्वात् । प्रत्युत ब्रह्मत्वसाधका एव, विरूद्धसर्वधर्माधारत्वात् ॥

वस्तुतस्तु ब्रह्मगतधर्मेषु विरोध एव नास्ति, श्रुतिभक्तानुभवसिद्धत्वादित्युक्तम् । तदुक्तं श्रीभागवतेऽपि 'न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिगणितगुणगण इश्वरेऽनवगाह्यमाहात्म्येऽर्वाचीनविकल्पवितर्कविचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकलिलान्तः करणदुरवग्रहवादिनां विवादानवसर' इति सर्वमनवद्यम् ॥

अथ कृत्वा चिन्तयोच्यते, यदि ग्रहिलतयाऽऽत्मारामत्वादय एव ब्रह्मणि, नान्ये धर्मा इति मनुषे, तदाऽपि वदामः -अस्तु त्वदुक्तम्, परन्तु सा ब्रह्मधर्ममर्यादा । अत्र च भक्तेष्वतिशयितानुग्रहेण तद्भक्त्यतिशयेन च स्वस्वरूपमर्यादामप्यतिक्रम्य तदधीनत्वं प्राप्तः सन् यथैव तदभीष्टं भवति तथैव लीलां कुर्वन्नुक्तसर्वभावान् स्वयमेव भजत इति भगवतः पुष्टिरूपमिदमुच्यते । तदुक्तं भगवता दुर्वाससं प्रति- 'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विजे'त्युपक्रम्य 'वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथे' त्यन्तेन । अत्र सत्पदद्वयेन स्वस्य तेषु तथारूपत्वंतेषां च प्रपत्तिर्न माययेति ज्ञाप्यते । तथा सति तु सत्त्वं न स्यात् । न चानीशत्वप्रसङ्गः । एतस्यैव महदैश्वर्यरूपत्वात् । न ह्यन्यः स्वरूपमर्यादां त्यक्तुं समर्थः । अत एव 'भिन्नसेतु'रिति विशेषणम् । अत एवाचिन्त्यमहिमत्वं श्रुतिरप्याह- 'यतो वाच' इत्यादिना । अतो यथा यथा शङ्कसे, तथा तथाऽधिकं ब्रह्मत्वमेवायातीति चिरञ्जीव ॥

ईश्वरस्य शरीरं न स्वाभाविकमिति न्यायनयनिराकरणम् ।

(४२) यत्तु जीवादृष्टसम्पादितशरीरं भूतावेशन्यायेनेश्वर आविश्य कार्यं कृत्वाऽऽवेशं त्यजति, न त्वीश्वरे स्वाभाविकं शरीरादिकमस्ति, ज्ञानेच्छाप्रयत्नातिरिक्तविशेषधर्माभावादिति । तत्तूपेक्ष्यम्, ईश्वरस्याकर्तृत्वापादकत्वात् । तथा हि तन्मते हि सावयवत्वेनानुमितकार्यत्वक्षित्यादिपक्षककर्तृपूर्वकत्वसाध्यककार्यत्वलिङ्गकानुमानेन जगत्कर्तृत्वेनैवेश्वरसिद्धिः । कर्ता चोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमानेव लोके दृष्ट इति द्व्यणुकादिनगसागरान्तस्य च पक्षीकरणेन तत्कर्तृत्वने सिद्ध्यँस्तदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानादिमान् नित्यः सर्वज्ञ एव भवतीति तादृक् तत्सिद्धिः । तथा च यथा लोके ज्ञानादिमत एव कर्तृत्वं दृष्टमितीश्वरेऽपि ज्ञानादिसिद्धिरेवं शरीरिण एव लोके कर्तृत्वं दृष्टमितीश्वरेऽपि शरीरित्वसिद्धिर्निष्प्रत्यूहा । कर्तृत्वस्य शरीरित्वव्याप्यत्वात् ॥

नन्वेवं कार्यत्वेनानित्यत्वानुमाने घटादिषु रूपसाहचर्यं लिङ्गस्य दृष्टमिति तद्विशिष्टस्यैव तस्य व्याप्यत्वे रूपाभाववति वायौ तदसिद्धिस्तत्सिद्धौ

वा रूपस्यापि सिद्धिः स्यात् । न त्वेवम्, प्रत्यक्षबाधात् ॥

ननुत साहचर्यमात्रमप्रयोजकं, व्याप्तिरेव प्रयोजिका, सा च कार्यत्वानित्यत्वयोरेवेति वायावपि तत्सिद्धौ रूपासिद्धिश्चेति चेत् तर्हि प्रकृतेऽपि कर्तृत्वप्रयोजकं ज्ञानेच्छाप्रयत्नवत्त्वमेवेति शरीरित्वस्य तत्साहचर्यवत्त्वमतो नेश्वरे तत्सिद्धिः । अन्यथा दृष्टान्तीयाशेषधर्मापत्तिः पक्षे स्यात् । तथा च घटदृष्टान्तेन जलेऽनित्यत्वसाधने पृथिवीत्वादिकमपि सिद्ध्येत् ॥ किञ्च चेष्टां विना प्रयत्नमात्रेण कुलालादेर्घटादिकरणे सामर्थ्याभावाच्चेष्टाश्रयस्य शरीरस्य सहकारित्वमस्तु नाम, ईश्वरस्तु प्रयत्नमात्रेणैव सर्वकरणसमर्थ इति न तदपेक्षा । किञ्च शरीरस्य परिच्छिन्नत्वनियमेन युगपत्सकलदेशगतकार्यानुत्पत्तिप्रसंग इति चेत्, नैतत्साधीयः । ज्ञानादिमत्त्वस्येव शरीरित्वस्याप्यन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात् । तथाहि-यत्र कुलालादिषु कर्तृत्वं, तत्र शरीरित्वम् । यत्र च मुक्तात्मस्वशरीरित्वं, न तत्र कर्तृत्वम् । अत ईश्वरस्यापि कर्तृत्वाच्छरीरित्वमवश्यमवश्यमङ्गीकर्तव्यम् । लोके तथा दर्शनात् । अन्यथेच्छादिकमपि न सिध्येत्, अविशेषात् । अत चेष्टां विनाऽपि प्रयत्नमात्रेण कार्यकरणे समर्थत्वादीश्वरस्य न तदाश्रयतत्सिद्धिरिति ब्रूषे, तदेच्छाप्रयत्नौ विनापि ज्ञानमात्रेणैव तथाकरणसमर्थत्वादीश्वरस्य नेच्छादिमत्वमपीत्यपि सुवचम् । न च शरीरस्य परिच्छिन्नत्वेनोक्तदोषापत्तिरिति वाच्यम् । अन्यथाऽनुपपत्तिबलात् सिद्ध्यच्छरीरं यावताऽनुपपत्तिपरिहारस्तावद्रूपमेव सेत्स्यति । शरीरपरिच्छेदा-नित्यत्वनियमस्त्वनुपपन्नः । पक्षधर्मताबलादपरिच्छिन्ननित्यस्यैव सिद्धेः । वस्तुतस्तु परिच्छेदानित्यत्वाद्यनुपपत्त्युद्भावनस्य शरीरसिद्ध्यसिद्धिव्याहतत्वेनासंभव एव । अन्यथा ज्ञानस्याप्यनित्यत्वनियमेनेश्वरज्ञानस्याप्यनित्यत्वप्रसङ्गः ॥

यत्त्वीश्वरस्य कर्तृत्वेन शरीरित्वसाधन इश्वरासिद्धावाश्रयासिद्धिस्तत्सिद्धौ च धर्मिग्राहकप्रमाणेनाशरीरस्यैव सिद्धत्वेन तद्बाध इति । तत्त्वविचारितरमणीयम् । तथाहि-अत्र धर्मिग्राहकं प्रमाणं किमिति भवान् पृच्छते, कार्यलिङ्गकमनुमानमिति चेद्ब्रवीति भवान्, तदा तेन कर्ता परं सिद्ध्यति, नान्यत् ॥

ननु सत्यमेतत् परन्तु कर्ता स्वयं कर्तृत्वेन सिध्यन् स्वकर्तृत्वनिर्वाहकमादायैव सेत्स्यतीति वदामि (मः) । अहो!! किं तन्निर्वाहकम्? ज्ञानेच्छाप्रयत्ना एव । कुत एतत्? यतो लोके कार्यकर्तृत्वं तद्वतामेव दृष्टं, न तद्रहितानाम् । तर्हि शरीरस्यापि तत्समानयोगक्षेमत्वात् ज्ञानेच्छाप्रयत्नशरीरवानेव सेत्स्यति । अन्यथा तु ज्ञानादिकमपि न सेत्स्यति, लोके दर्शनस्य समानत्वादिति बुध्यस्व ॥

ननु शरीरस्य महत्त्वेनोद्भूतरूपवत्त्वेन च चाक्षुषत्वं कथं न स्यात् । लौकिकप्रत्यक्षाविषयत्वादिति ब्रूमः । श्रूयते हि देवानामपीन्द्रादीनामप्रत्यक्षत्वं विग्रहवतां, किं पुनरखिलदेवदेवस्याप्रत्यक्षत्वे शङ्का नाम । किञ्च शङ्कानां तत्सिध्युत्तरकालीनत्वात्तत्सिद्ध्यनवसरपराहतत्वेनैव नोदयसंभव इति संक्षेपः ॥

एतेन कार्यस्य शरीरादिमत्कर्तृपूर्वकत्वनियमः प्रत्यग्रजायमानाङ्कुरादावेव शरीरिणः कर्तुरनुपलम्भान्निरस्त इति निरस्तम् । उक्तयुक्तिभिस्तत्रापि शरीरिकर्तृकत्वस्यैव सिद्धेः । अतो ज्ञानदुर्बलव्यामोहनमात्रपरमेतन्मतं, न तु सच्छास्त्रीयमिति विद्वद्भिरुपेक्ष्यम् । एतदपि त्वन्मतानुसारेणैवोक्तम् । अस्माकं तु प्रतिसत्कर्णजिह्वाग्रजागरूकोक्तश्रुतिस्मृतिपुराणवाक्यतत्वसूत्रभेरीघोषोद्घुष्टतया सर्वतःपाणिपादान्तत्वेनाचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वेनैव भगवान् सिद्ध इति नानुमानमशकशुङ्कारापेक्षापीत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या॥

(४३) स्यादेतत्, ब्रह्मधर्माः किं ब्रह्मणः सकाशाद्भिन्ना, अभिन्ना वा ?

ब्रह्मधर्मा ब्रह्मतो भिन्ना अभिन्नाश्चेति श्रुतिबलेन व्यवस्थापनम् ।

नाद्यः । तेषामपि नित्यत्वेनाङ्गीकारा'देकमेवाद्वितीयम्' 'असङ्गो ह्ययं पुरुष' इत्यादिश्रुतिविरोधात् । न द्वितीयः। धर्मत्वव्याहतेः । तथा चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपपत्त्यर्थं प्रपञ्चवद्ब्रह्मकार्या एव धर्मा इति मन्तव्यम् । तथा सति ब्रह्म सर्वकल्पनारहितमेव सेत्स्यतीति चेत्, अत्रोच्यतेयथा सूर्यस्य तेजोरूपस्य प्रकाशोऽपि तद्रूप एव तद्धर्मरूपः । तेजस्त्वेनैव मूलाविच्छेदेन प्रतीयमानत्वान्नातद्रूपः । तस्माद्भिन्नत्वे-

नापि तदीयत्वेनापि प्रतीयमानत्वात्तद्धर्मरूपोऽपि । तस्मात्प्रतीत्यनुरोधेन तादृशमेव तद्वस्तूत्पत्तिशिष्टमित्यङ्गीक्रियते । तथा ब्रह्मधर्मा अप्यभेदबोधकश्रुत्यनुरोधेन तद्रूपा एव । ‘पराऽस्य शक्ति’ रित्यादिषु षष्ठ्या भेदेनापि प्रतिपादनात्तद्भिन्ना अपि । तथा चोभयविधश्रुतिबलेनैवैतादृशमेवैतद्वस्त्विति मन्तव्यम् । लौकिकानुवादपूर्वकनिषेधपक्षस्य पूर्वमेवापास्तत्वात् । न च सूर्यजन्यमेव तेजोऽन्तरं प्रकाश इति वाच्यम् । ‘यदादित्यगतं तेज’ इति वाक्याद्भगवत्तेजस्त्वेनाजन्यत्वात् । भेदकल्पनायां प्रमाणाभावाद्गौरवाच्च । प्रलये सूर्यनाशेऽपि तेजसो भगवद्दत्तत्वेन पुनर्भगवत्येव स्थितिः । तेजःसहितस्य तस्यैव वा भगवति लयः । सूत्रकारोऽपि धर्मस्वरूपनिरूपणे आहैवमेव ‘प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा’ दिति । वाशब्दः पूर्वपक्षनिरासे । प्रकाशस्तदाश्रयश्च सूर्यादिस्तयोर्यथाऽभेदस्तद्वद्धर्मब्रह्मणोरपीत्यर्थः । प्रकाशस्य स्वाश्रयतेजोभिन्नत्वशङ्काव्युदासाय हेतुः । तथा सति स्वाश्रयाभिन्नतेजस्त्वादित्यर्थो भवति ॥

अथवा तेजोऽतिरिक्ते वस्तुनि नैवं दृश्यत इत्यत आह हेतुं ब्रह्मण्येव तेजःशब्दवाच्यत्वादिति वा । ‘यदादित्यगत’ मिति वाक्ये तेजसः स्वधर्मत्वेन निरूपणाद्ब्रह्मापि तेजोरूपमिति भावः । तस्मात्तादृशधर्मविशिष्टमेव तद्वस्तु श्रुत्यैकमेवेति प्रतिपाद्यते । तथा चैवकारेण भगवद्धर्मातिरिक्तमेव वस्तु व्यवच्छिद्यते, न तु तेऽपि । तेषां स्वरूपान्तःपातित्वात्। न हि मध्यन्दिने न भोमण्डले सूर्य एवास्तीतिवाक्ये तत्प्रभासत्ताऽपि निषिध्यते । अत एव द्वितीयस्कन्धे ब्रह्मस्वरूपनिरूपणे राज्ञा पृष्टः श्रीशुकस्तन्निरूपयन्नित्याह- ‘न यत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिता’ इत्युपक्रम्य ‘युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैः स्व एव धामन् रममाणमीश्वरम्’ तथा च भगवद्धर्मा भगवत्येव नित्या एव, येषु च भगवान् स्वैश्वर्यादिधर्मान् ददाति तेषु यावत्कालं भगवदिच्छा तावदेव ते तिष्ठन्तीति फलितम् । दशमस्कन्धे चाक्रूरदृष्टस्वरूपनिरूपणे ‘श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया ।

विद्ययाऽविद्यया शक्तया मायया च निषेवित’ मितिवाक्यैकवाक्यतायां लोकसम्मताध्यायत्रयीया’ ऽणिमाद्यैर्महिमभि’ रित्युपक्रम्य ‘मूर्तिमद्भिरुपासिताः’ ‘सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तय’ इतिवाक्यैकवाक्यतायां च सर्वेषां धर्माणां सच्चिदानन्दरूपत्वं सिद्ध्यति । लीलाया अप्येवंरूपत्वादेव नित्यता मन्तव्या ॥

लीलविशिष्टभगवत्स्वरूपस्य नित्यताप्रतिपादनम् ।

(४४) ननु गिरिकाननयमुनापुलिनपशुपक्षिमनुजादिसम्बन्धिनी हि लीला। सा च तेषामनित्यत्वे कथं नित्या भवेत् ? ननु साध्वी ते वाणी, यत्तन्नित्यताशुश्रूषामपि तवाभिव्यनक्ति । तन्नित्यता च प्रमाणदेवावसीयत इति । तथाहि- ‘जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुवरपरिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम् । स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन व्रजपुरवनितानां वर्द्धयन्कामदेव’ मिति वाक्ये भिन्नकालीनानामपि द्वारकागोकुलमथुराधिकरणकलीलानां कर्तुर्भगवत उत्कर्षेण स्थितेः स्वकथनसमयेऽपि वर्तमानत्वं जयतीति वर्तमानप्रयोगेण निरूपयन्नेव श्रीशुकस्तत्र तत्र लीलानामपि तथात्वं बोधयितुमेककालीनत्ववाचकशतृप्रत्ययान्तपदे प्रयुक्तवान्-अस्यन्निति, वर्द्धयन्निति च । तथा च कथनसमयेऽतीतत्वेन प्रतीतानामपि लीलानां तदा वर्तमानत्वं प्रतीयते । तच्च नित्यतायामेव घटते, नान्यथा ॥ किञ्च कर्तुरेवेदानीं सत्त्वं चेदभिप्रेतं स्यान्न लीलानामपि, तदा ता न निरूपयेदेव । परिचायकत्वेन तन्निरूपणे वा तत्कर्ता जयतीत्येव वदेत् । एवं च सति गत्यन्तरसद्भावेऽपि यच्छत्रन्तस्यैव निरूपणम् तेन लीलानामेव वर्तमानत्वं मुख्यतयाऽभिप्रेतमित्यध्यवसीयते । न च विशेषणत्वेनामुख्यत्वमिति वाच्यम् । ‘दण्डी प्रैषानन्वाहे’ त्यत्र यथा प्रेषानुवादस्य ‘लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ती’ त्यत्र च तत्प्रचारस्य च पूर्वसिद्धत्वेन न विधानं, किन्तु विशेषणस्यैव दण्डित्वस्य लोहितोष्णीषत्वस्य च, अपूर्वत्वात् । तथा भगवतो वर्तमानत्वे सन्देहाभावात्तत्तल्लीलाकरणस्यैव वर्तमानत्वस्यात्रापि निरूपणात् ॥

यद्यपि 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वे'त्यनुशासनाद्वर्तमानसामीप्यादेवात्राप्येवं प्रयोग इति वक्तुं शक्यम्, तथापि वक्ष्यमाणश्रुतिपुराणवाक्यैरसन्दिग्धं नित्यतया निरूपणादत्रापि तदेकवाक्यत्वार्थं वर्तमानत्वार्थ एव प्रयोग इति निश्चीयते । किञ्च तत्सामीप्येऽपि तथा प्रयोगस्य साधुत्वं तत्र ज्ञाप्यते । प्रयोगश्च सामीप्यगुणयोगाद्गौण एव, न तु मुख्यः । स च मुख्यार्थबाध एव कल्पयितुं युक्तः । तदबाधप्रकारश्चाग्रेवक्ष्यते ॥

(४५) अपि च दशमस्कन्ध एव नामकरणप्रस्तावे सर्वज्ञेन गर्गाचार्येण निरूपितम्- 'बहूनि सन्ति नामनि रूपाणि च सुतस्य ते । गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद, नो जना' इति । अत्र हि नाम्नां रूपाणां च बहूनामेव सन्तीति प्रयोगेण वर्तमानत्वं बोध्यते । तत्रापि गुणानामौदार्यादीनां कर्मणां कालियदमनादीनामनुरूपाणां तेषां तथात्वं बोध्यते । अनुरूपत्वं तु तत्समययोग्याकारक्रियादिमत्त्वम् ।

भगवन्नाम्नां नित्यत्वलोकविलक्षणत्वानौपचारिकत्वादिप्रतिपादनम् ।

यथा गोवर्द्धनोद्धरणकर्मण्युच्छ्रितत्वमुद्बाहुत्वं, तद्धारणक्रियावत्त्वं, सकलगोकुलजनाप्यायकत्वादिकं च । तथा चैतादृशानां नाम्नां वर्तमानत्वं तदैव स्यात्, यदि तत्प्रयोजकस्वरूपक्रियादीनां वर्तमानत्वं स्यात् । अन्यथा कदाचित्क्रियानिवृत्तौ तत्प्रयुक्तं तन्नामापि तदा न स्यात् । पाचकपाठकवत् ॥

ननु यथा लोके पाकानुकूलक्रियारहित्यदशायामपि पाचकमाकारयेदित्यादिप्रयोगो यदाकदाचित्तद्वत्त्वेन तदानीमपि तथोपचारतस्तथाऽत्रापि कदाचिद्गुणकर्मयोगात् प्रवृत्तस्य नाम्नो गुणकर्मराहित्यदशायामप्युपचारात् प्रयोगसंभवेन सन्तीत्यस्योपपत्तेर्न तन्नित्यत्वमायातीति चेत्, मैवम्; औपचारिके प्रयोगे नामत्वाभावात् । तस्य मुख्ययैव वृत्त्या बोधकत्वात् । लोके नरसिंहादिनामानि तु डित्थडपित्थादिनामवद्रूढ्यैव तद्वाचकानि, न तूपचारतः । केवलनरेऽप्यशूरेऽपि च तथा प्रयोगात् । अत एव लौकिकपूरुषे प्रयुक्तानि श्रीकृष्णेत्यादिनि नामानि न भगवन्नामानि । तेषां सदानन्दरूपत्वाद्यर्थवाचकत्वेन लौकिकपुरुषे च तदभावेन तदनर्थको लौकिक एव

तत्सरूपः शब्दविशेषः स इति मन्तव्यम् । भगवन्नामानि त्वखण्डशब्दब्रह्मरूपाणि । यथा भगवत्स्वरूपे शरीरत्वभानं ग्राहकदोषात् तथा नामस्वपि लौकिकशब्दत्वेन भानं तद्दोषादेवेत्यादि प्रपञ्चितं पितृचरणैः श्रीभागवतविवरणे । तेन स्वरूपवन्नाम्नामपि सर्वेषां नित्यता मन्तव्या ॥

ननु 'गुणकर्मानुरूपाणी'ति वचनाद्गुणकर्मकरणानन्तरभाविनां नाम्नां कथं ब्रह्मत्वं, तस्य त्रैकालिकाबाधविषयत्वादिति चेत्, न; स्वरपवत्कर्मणामपि प्रादुर्भावेन तदनुरूपनाम्नामपि प्रादुर्भाव एव परं, न तूत्पत्तिः । अन्यथा निजमरवविहतिकुपितदशशतभगकृताशनिसारासारावसन्ननिजव्रजजनावायवायकरकमलनरवराग्रनिहितशिरवरिवरगोवर्द्धनाचले श्रीगोकुलनाथे विहतारवर्वगर्वशक्रसुरभिप्रभृतिविचितमहाभिषेकसमयसमनुभूतश्रीगोविन्दामाग्रे भावि पूतनासुपयःपानानन्तरं स्वप्राणेभ्योऽप्यतिवल्लभे बीजन्यासं कुर्वत्यो व्रजवरवध्वः 'क्रीडन्तं पातु गोविन्द' इति, गुणगाने च 'गोविन्दवेणुमनुमत्तमयूरनृत्य' मिति कथं वदेयुः । तेन यत्कर्मविशिष्टस्य यस्य रूपस्य यन्नाम तत्कर्मविशिष्टं तद्रूपं नित्यमेव, लोके परं तेषां भक्तानां तत्तद्रसानुभवार्थं क्रमेणाविर्भावः कस्याप्यंशस्य, कस्यचिदाच्छादनमित्येवं मन्तव्यम् । तेन भगवान् गोवर्द्धनमुद्धरन् सर्वदा वर्तत इति गोवर्द्धनोद्धरणधीर इति क्रियानामभ्यां सहितो गोवर्द्धनोद्धरणरूपः सदा वर्तते इति । अत एवाद्यापि भक्तानां तथाऽनुभवः क्वचित् । तथा प्रतिकृतौ भजनम् । तथा स्मरणं च । अन्यथा त्वतथाभूतस्य तथाभावनेनापराधः स्यात्, न तु प्रसादहेतुर्भजनम् । 'योऽन्यथा सन्तमात्मान'मितिवचनात् । दृश्यतेत च तथा भजने प्रसादः । एवं सति रूपे नामावश्यकत्वेन तत्कर्मानुरूपनामापि नित्यमेवेति नोपचारशङ्कागन्धलेशोऽपि ॥

किञ्च नामवद्रूपस्यापि गुणकर्मानुरूपत्वेनोक्तत्वेन तत्र यथा नौपचारिकसत्त्वशङ्का, तथा नाम्न्यपीति बुध्यस्व । गुणकर्मणामपि नित्यत्वप्रतिपादनायैव 'गुणकर्मानुरूपाणी'त्यप्युक्तमिति ज्ञायते । अन्यथा 'कुरु द्विजातिसंस्कार'मिति प्रार्थितत्वेन नामकरणाख्यसंस्कारमात्रस्यैव कर्तव्यत्वे

सति नाम्नां रूपाणां च, तत्रापि गुणकर्मानुरूपाणां वर्तमानत्वं न निरूपयेत् । प्रयोजनाभावात् । एवं सत्यपि यत्तन्निरूपणं, तेनैवं ज्ञापयति–मदुक्तान्यपि नामधेयानि न मया कृतानि, किन्तु पूर्वसिद्धान्येव मयानूद्यन्ते । परं ते सुतस्य बहूनि नामानि रूपाणि सन्तीति समभिव्याहारवशान्नन्दसुतत्वमप्यनादीति ज्ञायते । तेन नन्दस्यापीदानीं मम पुत्रो जात इति ज्ञानमप्यनादीति ज्ञेयम् । गर्गस्यापि नामकरणलीलामध्यपातित्वेन तदागमनवचनादीनामपि नित्यत्वेनानादित्वमेव । पूर्वसिद्धाया एव लीलाया भगवदिच्छया क्रमेणाविर्भाव इति पूर्वमेवोक्तत्वात्सर्वं सुस्थम् । श्रुतिरपि गुणकर्मानुरूपरूपाणां प्रत्येकं नित्यत्वाभिप्रायेणैवाह‘तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके’ इत्यादि । अन्यथैकस्यैवैकस्मिन्नेव काले क्रियावत्त्वतद्राहित्ये विरुद्धे कथं बोधयेत् । तेन येन रूपेणैजति तस्य रूपस्य तस्यैजनस्य च नित्यत्वेन च नित्यत्वेन तत्तथा । यच्च रूपं स्थिरं, तस्य रूपस्य तस्य स्थैर्यस्य च नित्यत्वेन नैजत्यपि । न च सक्रियाक्रिययोः स्वरूपयोर्भेदः शङ्कनीयः । यत एतत्परिहारायैव पुनः पुनर्ब्रह्मवाचकतच्छब्दस्यावृत्तिमाह पूर्वतच्छब्दस्यैव सर्वत्र सम्बन्धार्हत्वेऽपि । तथा चानेकनित्यरूपकमनेकनित्यक्रियाकमनेकनित्यनामकं ब्रह्मेति फलितम् ॥

लीलासम्बन्धिनित्यत्वोपपादकप्रमाणदर्शनम् ।

(४६) किञ्च ऋग्वेदेऽपि पठ्यते–‘ता वां॒ वास्तु॑न्युश्मसि॒ गम॑ध्यै॒ यत्र॒ गावो॒ भूरि॑शृङ्गा अ॒यास॑ः। अत्रा॒ह तदु॑रुगा॒यस्य॒ वृष्ण॑ः पर॒मं प॒दमव॑भा॒ति भूरि॑’ इति । ता तानि वां युवयोः कृष्णरामयोर्गोपीमाधवयोर्वा वास्तूनि गमध्यै प्राप्तुं उश्म-सि कामयामहे । तानि कानीत्याकाङ्क्षायां गूढाभिसन्धिमुद्घाटयति–यत्र गोकुले भूरिशृङ्गा दीर्घशृङ्गा गावः । वसन्तीति शेषः । अथवा आरण्यग्राम्यपशूपलक्षणार्थम् । भूरिशृङ्गा बहुशृङ्गा रूरुप्रभृतयो मृगा गावश्चेत्यर्थः । अयासः शुभाः । अत्राह अत्र स्थाने भूमौ तल्लोकवेदप्रसिद्धमुरुगायस्योरुकीर्तेर्भगवतो वृष्णः, कामान् वर्षतीति वृषा तस्य गोपिकासु कामवर्षकस्य (तथाभूतस्य) तद्गोकुलं परमं पदं, पदं स्थानं वैकुण्ठं

तस्मादप्यधिकं परमं पदं प्रकृतिकालाद्यतीतत्वेनापि वैकुण्ठाद्यपेक्षयाऽतिप्रियत्वेनापि परमं तादृशं पदमवभाति प्रकाशते भूरि बहुतरम् । तथा च यदेतादृशं तयोः स्थानं तत्स्थानसम्बन्धीनि वास्तूनि प्रसादत्वेन प्राप्तुं कामयामहे, नान्यानीति वाक्यार्थः संपद्यते । भूरिशब्दस्य बाहुल्यार्थत्वेनानेकविधनिकुञ्जगह्वरप्रदेशयमुनापुलिनगोवर्द्धनसान्वादिषु निरन्तरं भगवतः स्थित्या तावद्रूपं प्रकाशत इति तात्पर्यार्थः । भूधातोरास्यर्थत्वे व्यापकमिति वा । तथा च परमत्वेन भगवत्स्थानत्वेन भूरित्वेन च नित्यत्वमेव गोकुलस्यायाति ॥ किञ्च तैत्तिरीयकेऽपि पठ्यते – ‘ते ते॒ धामा॑न्युश्मसि गम॒ध्यै॒ गावो॒ यत्र॒ भूरि॑शृङ्गा अ॒यास॑ः। अत्राह तदु॑रुगा॒यस्य॒ विष्णो॑ः पर॒मं प॒दमव॑भा॒ति भूरे’ रिति । ते तव ते तानि धामानि स्थानानि गमध्यै प्राप्तमुश्मसि कामयामह इति । शेषं पूर्ववत् । भूरेः बहुरूपस्य । ‘[१]रासोत्सवादिषु तथा प्रकटत्वात् । अत्र स्वयं नित्यो वेदः अवभातीति वदन् स्वभानविषयस्य गोकुलस्यापि नित्यत्वमे-वाह । अन्येषामवभानपक्षेऽपि वर्तमानप्रयोगेण विषयस्यापि वर्तमानत्वमेवायाति ॥

एतदनन्तरमेव च पठ्यते– ‘विष्णो॒ः कर्मा॑णि पश्यत॒ यतो॑ व्र॒तानि॑ पस्प॒शे। इन्द्र॑स्य॒ युज्य॒ः सखा॑’ ‘तद्विष्णो॑ः पर॒मं प॒दं सदा॑ पश्यन्ति सू॒रय॑ः। दि॒वीव॒ चक्षु॒रात॑त मिति मन्त्रद्वयम् । तथा च पूर्वास्मिन्मन्त्रे यत्र ‘भूरिशृङ्गा अयासस्तदुरुगायस्य परमं पद’ मित्युक्त्वा तदनन्तरं तत्र कृतानि कर्माण्यपि ‘विष्णोः कर्माणि पश्यते’ ति मंत्रेण निरूप्य पुनः पूर्वोक्तं (तत्र) लीलास्थानं ‘तद्विष्णोः परमं पद’ मिति पदेनानूद्य तस्य नित्यत्वनिरूपणायाह– ‘सदा पश्यन्ति सूरय’ इति । सूरयो विद्वांसः । तत्त्वं च शब्दब्रह्मपरब्रह्मस्वरूपवित्त्वम् । परब्रह्मज्ञानं च भक्त्यैवेति निर्णयः । ‘भक्त्या मामभिजानाती’ तिवाक्यात्, ‘भक्त्याऽमेकया ग्राह्य’ इतिवाक्याच्च । तेन सूरिपदेन भक्ता उच्यन्ते । ननु ‘अत्राह तदुरुगायस्ये’ ति ‘सूरयः सदा पश्यन्ती’ ति वाक्यैकवाक्यतायां भूमौ तत्परमं पदं भक्ता एव सदा पश्यन्तीत्यर्थः

---

[१] सादिषु इति प्राचीनपाठः ।

संपद्यते । तथा च काननकालिन्दीतत्पुलिनगिरिगह्वराद्यात्मकत्वेनोद्भूतरूपवनमहच्च तत्परमं पदं कथं भक्तैकदृश्यं, न साधारणजनचक्षुर्विषय इत्याशङ्क्य तन्निरासाय दृष्टान्तमाह- 'दिवीव चक्षुराततं'मिति । दिवि स्वर्गे यथा आ समन्तात्ततं व्याप्तं 'यन्न दुःखेने' तिवाक्यात्सुखैकसाधनम् । तद्रूपं पदार्थं तत्रस्थानामेव चक्षुः पश्यति, नान्येषां तथेत्यर्थः । तेन तल्लीलामध्यपातिनामेव तद्दृश्यमिति साधारणजनाविषयत्वेऽपि न दोष इति भावः ॥

अथवा पूर्वोक्ताशङ्कायामेवोच्यते पूर्वमित एव स्वर्गस्थपदार्थदर्शनाभावेऽपि योगधारणया दूरग्रहणाख्यसिद्धिसंपत्तौ योगिनश्चक्षुराततं सर्वतो व्याप्तं सर्वग्रहणसमर्थं सदित एव स्वर्गे पदार्थान् पश्यति यथा, तथैतस्यापि पूर्वमदृश्यत्वेऽपि तादृशभगवदनुग्रहेण तादृग्भक्तिलाभे सति तदधिकारः संपन्न इति तदर्थं तथा भगवान् प्रकटो भवतीति तदा दृश्यत्वं भवतीत्यर्थः। तेनाधुनिकानामपि पूर्वोक्ताधिकारसंपत्तौ तद्दर्शनं भवतीति सिद्धम् ॥

अथवा दृष्टान्तत्रयमत्र । तथाहि-पूर्वोक्तपरमपदस्य लोकरूपत्वेनेतरलोकन्यायेन दुःखस्यापि तत्र संभवाद्भगवल्लीलायाश्चानन्दरूपत्वातत्कथमेतस्यानन्दैकरूपत्वम्, अत उक्तम्-दिवीवेति । यथाऽन्यलोके दुःखसंभिन्नसुखरूपत्वेऽपि स्वर्गे दुःखासंभिन्नसुखरूपत्वं, तथा गोकुल आनन्दैकरूपत्वमित्यर्थः । नन्वित्यादिनोक्ताऽऽशङ्कायामाह-चक्षुरिवेति । यथा चक्षुरेव रूपं गृह्णाति, न श्रोत्रादिकम् । इन्द्रियत्वाविशेषेऽपि तस्यैव तत्र सामर्थ्यात । वस्तुन एव तथात्वात् । तथाऽत्रापीत्यर्थः । यथा दोषासहकृतमेव चक्षुर्वस्तुतत्त्वं गृह्णाति, भ्रमिकामलादिदोषसहकृतं तु महीभ्रमिशङ्खपीतिमादिकं, तथाऽविद्यादिदोषरहिताः सूरय एव गोकुलादिस्वरूपं पश्यन्ति, नान्य इत्यपि चक्षुर्दृष्टान्तस्याभिप्रेतमिति ज्ञेयम् । एतेन तत्रस्थवृक्षस्थलादीनां वृक्षनान्यथाभावदर्शनादिषूपपत्तिरुक्ता भवति ॥

यद्वा चक्षुरिति द्वितीयैकवचनान्तं पदम् । यथा चक्षुरिन्द्रियं स्वयमतीन्द्रियमेव गोलके स्थितं सत्सर्वं प्रत्याययति, गोलकेऽपि

चक्षुःशब्दवाच्यतां च विधत्ते, योगिप्रत्यक्षविषयश्च भवति, तथा गोकुलादिकमप्यलौकिकं स्वयमतीन्द्रियमेव साधारणजनदृश्ये स्वयोग्ये स्थाने स्थितं सत्तत्स्थानं प्रकाशयति, स्वव्यपदेशं च प्रापयति, तत्रैव च स्थितं भवति, पूर्वोक्तसूरित्वे दृश्यं च भवति । तथा चैतादृशं परमं पदं सूरयः सदा पश्यन्तीति सम्बन्धः ॥

ननु साधारणदृश्यस्याधिष्ठानत्वपक्षे तस्यैव करणदोषादन्यथाभानपक्षेऽपि तत्र स्थितानां लोकानां दुःखकामक्रोधादिकमनुपपन्नम् । तस्य परमानन्दरूपत्वाद्गुणातीतत्वाच्च । न च करणदोषेणैव द्रष्टुस्तत्स्थितलोकदुःखादिदर्शनमिति वाच्यम् । करणदोषस्यापि तत्र वक्तुमनुचितत्वात्, तत्रैवान्योन्यं तथा दर्शनादिति । अत उक्तम्- 'आततं चक्षुरिवे'ति । यथा देवदत्तचक्षुरिन्द्रियं विष्णुमित्रशरीर आसमन्ताद्व्याप्तमपि तैजसं सदप्यनुद्भूतरूपस्पर्शत्वेन नान्धतमसे प्रकाशयति तापयति वा, तथा भगवदिच्छयैवाप्रकटानुभावत्वेन तस्य पक्षद्वयेऽप्याधुनिकतज्जनदोषदर्शनमुपपद्यत इत्यर्थः । तादृशी भगवदिच्छा तु सर्वमुक्त्यभावायासुरजीवानां व्यामोहाय च । यथा योगिनामेव प्रत्यक्षं तत्तथा भक्तानामेवैतदपीति पूर्वमेवावोचाम ॥

भगवत्कर्मणां नित्यत्वदर्शनसाधनत्वयोरूपपादनम्, भूतार्थप्रयोगोपपत्तिश्च।

(४७) अथ 'विष्णोः कर्माणी'ति मन्त्रो व्याख्यायते । अत्र पूर्वस्मिन् मन्त्रे गोकुलस्यैव निरूपणात् तत्र कृतान्येव कर्माणि यशोदास्तनपान-पूतनापयःपानरिङ्गणादीनि कर्माणि कर्मपदेनोच्यन्त इत्यवगम्यते । अत एवाह - यतो व्रतानीति । यतः कर्मभ्यो हेतुभूतेभ्यो व्रतानि कात्यायन्यर्चनादीनि सान्निध्याद्विष्णुरेव पस्पशे स्पृष्टवान् । तत्फलत्वेन तत्कर्त्रीष्वाविर्भूय तासु सर्वां लीलां कृतवानित्यर्थः । स्पश बाधनस्पर्शनयोरिति धातोर्लिटि रूपमिदम् । अयं चोभयार्थकः प्रयोगः । तेन व्रतानि लोकमर्यादाव्रतानि पातिव्रत्यादीनि बबाध इत्यप्यर्थः । वेदम-र्यादात्याजकानां कर्मणां सदोषत्वशङ्कापरिहारायाव्ययप्रयोगः । तेन तेषामविकृतत्वमुक्तं भवति ।

स्वव्रतान्यप्यात्मारामत्वपूर्णकामत्वादीनि नियमरूपाणि बबाधे । अस्मिन्नर्थे नञ्प्रश्लेषे अव्रतानि स्पृष्टवानित्यप्यर्थो युज्यते । तानि कर्माणि गोपीभिः सह रमणरूपाणि पश्यतेत्युपदेशः । यद्यपि कर्मदर्शनस्य फलत्वेन न स्वकृतिसाध्यत्वं, तथापि मोक्षरसाधिकरसानां स्वतः पुरुषार्थरूपाणामतिहृद्यानां स्मरणतस्तत्पारवश्यमौत्सुक्यं च श्रुतेः प्रकटयत्येवं कथनम् । तेन तत्साधनोपदेशः पर्यवस्यति । एतेन कर्मणां नित्यत्वं ज्ञेयम् । अन्यथैतदुपदेशासम्भवात् । इन्द्रस्य युज्यो योग्योऽनुकूलः सखा । अयमर्थः - भगवतेन्द्रयागभङ्गे कृते बहुव[1]ल्गनवृष्ट्यादिभिरिन्द्रेण द्रोहे कृतेऽपि तद्धेतुभूतदोषरूपमदमेव दूरीकृतवान् सर्वसमर्थोऽपि, न त्विन्द्रं तदधिकारं वा । तथा च तद्दोषहरणेन तदनुकूलः । तदनन्तरमिन्द्राभिषेकगोविन्दनामधारणादिभिस्तत्समानधर्मैस्तस्य सखा । एतेनाप्रपन्नेऽपि प्रत्युतापकारकर्तर्य्यपि स्वयमुद्यम्य तद्दोषनिवर्तकस्तद्धर्माङ्गीकर्ता च नान्योऽस्तीति परमकृपालुत्वं दर्शितम् । तेन भजनौपयिकरूपमुक्तं भवति ॥

यद्वा यतः कर्मभ्य इन्द्रस्य व्रतानि यागादीनि पस्पशे बबाधे तानि पश्यतेत्यन्वयः । तानि कर्माणि केवलात्मसात्करणरूपाणि । एतच्च यथा दशमस्कन्धविवरणे प्रपञ्चितं पितृचरणैरिति नात्रोच्यते । तेन स्वतः साधनराहत्येऽपि विपरीततत्करणेऽपि तन्निवार्य स्वत एवात्मसात्करणलक्षणधर्मोऽसाधारणो ज्ञापितो भवति । तेनैतस्यैव भजनीयत्वमुक्तं भवति । अन्ये हि स्वभक्तसाधनसंपत्तौ फलं ददति, न त्वन्यथाऽपीतिभावः । युज्यो योग्यो गोपिकानां तडिद्रूपत्वेन, भगवतश्च नीलमेघश्यामत्वेन तासां योगार्हः, सखा समानशीलव्यसनवानित्यर्थः । युजेर्बाहुलकात्क्यप् । कित्वाद्गुणाभावः।

एतन्मन्त्रद्वयानन्तरमेव ऋग्वेदे पठ्यते - 'तद्विप्रा॑सो विप॒न्यवो॑ जागृ॒वांसः॒ समि॑न्धते । विष्णो॒र्यत्प॑र॒मं प॒द॑मिति । एतदर्थस्तविष्णोर्यत्पूर्वोक्तं परमं पदमस्ति, तत्पदं विप्रासो मेधाविनः, पुनः कीदृशाः, विपन्यवो विशेषेण स्तोतारः, पुनः कीदृशाः, जागृवांसः शब्दार्थयोः प्रमादराहित्येन

---

१. बहुबलादिति पाठः ।

जागरूकाः समिन्धते सम्यग्दीपयन्ति प्रकाशयन्ति । मेधावित्वेन यथोक्तभगवत्तल्लीलास्वरूपाद्यनुसन्धानसहिताः शब्दार्थयोः प्रमादराहित्येन वाच्यवाचकयोर्भगवद्रूपनाम्नोर्नित्यत्वेन कुतर्काद्यनुपहतमतयो निरन्तरकीर्तनरूपस्तोत्रादिसाधनैः प्रकटयन्तीत्यर्थः । तादृशसाधनसंपत्त्या[1] तद्दर्शनसामर्थ्ये सति पश्यन्तीति तथा । अत एव श्रीभागवतेऽप्युक्तम्- 'शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः, स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः । त एव पश्यन्त्यचिरेणे' त्यादि । तथा च स्थितस्यैव परमपदस्य समिन्धनमुक्तमिति नित्यत्वमेव काननपशुपक्षिमनुजादीनां तत्सम्बन्धिलीलानामपि ॥

नित्यलीलास्थानानामधिष्ठानध्वंसप्रयुक्तानित्यत्वस्य परिहारः

(४८) अपरं च छान्दोग्ये पठ्यते-'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं, तद्वा व विजिज्ञासितव्य' मित्येतस्याग्रे 'किं तत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वा व विजिज्ञासितव्य' मिति प्रश्ने 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' इत्यादिनाऽग्निवायुसूर्यचन्द्रविद्युन्नक्षत्राण्युक्त्वा 'यच्चास्येहास्ति, यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहित' मित्युक्त्वा ब्रह्मपुरे जीर्णे ध्वस्ते वा तदाश्रितं किमवशिष्यत इति प्रश्ने 'नास्य जरयैतज्जीर्यते न वधेनास्य हन्यते एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिताः, एष आत्माऽपहतपाप्मे' त्यादि । अत्र ब्रह्मपुरशब्देन ब्रह्मणो भगवतः पुरं लीलास्थानं श्रीगोकुलमथुराद्युच्यते । शरीरार्थकत्व 'एतत्सत्यं ब्रह्मपुर'मित्यग्रिमं वाक्यं विरुध्येत । अस्य नित्यत्वकथनार्थमेव तज्जरादिहेतुकतदाश्रितनाशं पूर्वपक्षत्वेनोक्त्वा वस्तुतस्तु तत्र जरावधादिसंभावनैव नास्ति, यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम्; तथापि 'तुष्यतु दुर्जन' इतिन्यायेन 'नास्य जरये' त्याद्युक्तं तर्कितं तदिति ज्ञेयम् । अत एव भक्तानां सर्वे कामास्तस्मिन् सम्यगाहिता इत्युक्तम् । एतच्चानन्दमयाधिकरणे 'सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणे' ति श्रुतिव्याख्याने प्रपञ्चितम् ॥

---

१. त्तौ इति पाठः ।

किञ्च 'दहर उत्तरेभ्यः' इत्यधिकरणेन व्यासैर्दहरशब्दवाच्यार्थो भगवानिति निर्णीतः । भगवत्स्थानस्यापि भगवद्धर्मवत्वेन तत्स्थिति-योग्यत्वमिति वक्तुं श्रीगोकुलस्थभक्तहृदयकमलस्यापि दहरत्वमुक्तम् । तत्र व्याप्य प्रकटीभूय सर्वव्यवहारहेतुत्वेन स्थित इत्याकाशत्वमुच्यते । साक्षात्पुरुषोत्तमलीलोपयोगिपदार्था आकाशादयो द्युप्रभृतयोऽपि भगवदात्मका एवेति तदन्तःस्थिता एव, न तु कालाद्यधीनास्तदाश्रया वा । 'ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यह' मितिभगवद्वाक्याच्चा यावान्वेति परिमाणसाम्यमुपलक्षणविधयोक्तमिति ज्ञेयम् । तेन लीलास्थपदार्थाः स्वरूपतस्त्वलौकिक्का एव तथापि लौकिक्कसरूपा एवेति ज्ञाप्यते । 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य' मितिन्यायात् । एवं सति निष्प्रत्यूहं लीलानित्यत्वं श्रुतिवृन्दैरमन्दगीतममन्दानन्दकन्दममन्दभाग्यराशिभिर्मनुजैर्हृदि भावनीयम् ॥

अपरञ्च बृहद्वामनपुराणे गीयन्त उत्तरस्थाने खिल्ये च भृग्वादीन्प्रति ब्रह्मणो वाक्यानि- 'षष्टिवर्षसहस्राणि मया तप्तं तपः पुरा । नन्दगोपव्रजस्त्रीणां पादरेणूपलब्धये ॥ तथापि न मया प्राप्तास्तासां वै पादरेणवः । श्रुत्वैतद्ब्रह्मणो वाक्यं भृगुः प्राहाथ सादरम् ॥ वैष्णवानां पाद रजो गृह्यते त्वद्विधैरपि । सन्ति ते बहवो लोके वैष्णवा नारदादयः ॥ तेषां विहाय गोपीनां पादरेणुस्त्वयापि यत् । गृह्यते संशयो मेऽत्र को हेतुस्तद्वद प्रभो ॥ ततो ब्रह्मा भृगुं प्राह चिन्तयित्वा पुरातनीम् । कथां सर्वश्रुतीनां यद्रहस्यं परमाद्भुतम् ॥ ब्रह्मोवाच - न स्त्रियो व्रजसुन्दर्यः पुत्र ताः श्रुतयः किल । नाऽहं शिवश्च शेषश्च श्रीश्च ताभिः समाः क्वचित् ॥ प्राकृते प्रलये प्राप्ते व्यक्तेऽव्यक्तं गते पुरा । शिष्टे ब्रह्मणि चिन्मात्रे कालमायाऽतिगेऽक्षरे ॥ ब्रह्मानन्दमयो लोको व्यापिवैकुण्ठसंज्ञकः । निर्गुणोऽनाद्यनन्तश्च वर्तते केवलेऽक्षरे ॥ अक्षरं ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तमम् । तल्लोकवासी तत्रस्थैः स्तुतो वेदैः परात्परः ॥ चिरं स्तुत्या ततस्तुष्टः परोक्षं प्राह तान् गिरा । तुष्टोऽस्मि ब्रूत भोः प्राज्ञा ! वरं यन्मनसीप्सितम् ॥ श्रुतय ऊचुः- 'नारायरणादिरूपाणि ज्ञातान्यस्माभिरच्युत । सगुणं ब्रह्म सर्वेदं वस्तुबुद्धिर्न तेषु नः ॥

ब्रह्मेति पठ्यतेऽस्माभिर्यद्रूपं निर्गणं परम् । वाङ्मनोगोचरातीतं ततो न ज्ञायते तु तत् ॥ आनन्दमात्रमिति यद्वदन्तीह पुराविदः । तद्रूपं दर्शयास्माकं यदि देयो वरो हि नः ॥ श्रुत्वैतद्दर्शयामास स्वं लोकं प्रकृतेः परम् । केवलानुभवानन्दमात्रमक्षरमध्यगम् ॥ यत्र वृन्दावनं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः । मनोरमनिकुञ्जाढ्यं सर्वर्तुसुखसंयुतम् ॥ यत्र गोवर्द्धनो नाम सुनिर्झरदरीयुतः । रत्नधातुमयः श्रीमान् सुपक्षिगणसंकुलः ॥ यत्र निर्मलपानीया कालिन्दी सरितां वरा । रत्नबद्धोभयतटी हंसपद्मादिसंकुला । नानारासरसोन्मत्तं यत्र गोपीकदम्बकम् । तत्कदम्बकमध्यस्थः किशोराकृतिरच्युतः ॥ दर्शयित्वेति च प्राह ब्रूत किं करवाणि वः । दृष्टो मदीयो लोकोऽयं यतो नास्ति परं वरम् ॥ श्रुतय ऊचुः - 'कन्दर्पकोटिलावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः । कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्यसंशयम् ॥ यता त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः । भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाऽजनि नस्तथा ॥ श्रीभगवानुवाच- 'दुर्लभो दुर्घटश्चैष' युष्माकं सुमनोरथः । मयाऽनुमोदितः सम्यक् सत्यो भवितुमर्हति ॥ आगामिनि विरञ्चौ तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यते । कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ ॥ पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले । वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान्वो रासमण्डले ॥ जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोऽधिकम् । मयि संप्राप्य सर्वेऽपि कृतकृत्या भविष्यथ ॥ ब्रह्मोवाच - 'श्रुत्वैतच्चिन्तयन्त्यस्ता रूपं भगवतश्चिरम् । उक्तकालं समासाद्य गोप्यो भूत्वा हरिं गता' इति । अत्र हि श्रुतिभिः सर्ववेदान्तप्रत्ययं गुणातीतं वाङ्मनोगोचरातीतमानन्दैकरूपं यत्तव रूपं तत्प्रदर्शयेति प्रार्थितो भगवान् गोकुलं, तत्स्थितं स्वस्वरूपं, लीलां तत्र क्रियमाणां च प्रदर्शितवानित्युच्यते । एतत्तदैव घटेत यदि सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वादिविशिष्टमेतद्भवेत् । एवं सति तन्नित्यता निष्प्रत्यूहा सिद्धा भवति । न च तत्स्थितस्वरूपमात्रस्यैव नित्यता, न लोकस्यापीति वाच्यम् । लोकप्रदर्शनवैयर्थ्यापातात् । अप्रार्थितत्वात् । तथा च स्वरूपदर्शनमात्रार्थं प्रार्थितो यद्वृन्दावनादिकमपि प्रदर्शितवान्, तेन वृन्दावनाद्युक्तसामग्रीविशिष्टमेव

---

१. व इति पाठः ।

सदा भगवद्रूपं, न केवलमिति ज्ञापयति । वस्तुन एव तथात्वान्न शङ्कालेशोऽप्यत्र । अत एव ब्रह्मधर्मस्वरूपविचारे 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा' दिति सूत्रितं बादरायणेन । एतच्च यथा तथा पुरस्तादेवोक्तम् ॥

अत एवेयं लीला ऋगन्तरेणापि ऋग्वेदे निरूप्यते । तथाहि- 'ज॒ज्ञा॒न ए॒व व्य॑बाध॒त स्पृध॒ः प्रा॒प॑श्यद्वी॒रो अ॒भिपौस्यं॒ रण॑म् । अव॑श्न॒दद्रि॒मव॑ स॒ः स्यद॑सृ॒जदस्त॑भ्नान्नाकं॑ स्वप॒स्यया॑ पृ॒थु॑मिति । जज्ञान एव गोकुले जातमात्र एव स्पृधः पूतनातृणावर्तादिवैरिणो व्यबाधत विविधप्रकारैर्विशेषेण हिंसितवान् । पश्चाद्वीरो विक्रान्तो मथुराद्वारकादिषु अभिपौंस्यमात्मपौरूषानुरूपं रणं दैत्यैः सह संग्रामं प्रापश्यत् अनुभूतवान् कृतवानित्यर्थः । भूमिष्ठदैत्यानां नाशकत्वमुक्त्वा देवेन्द्रमदभङ्गकारित्वमाह अद्रिं गोवर्द्धनगिरिमवृश्चदुत्पाटितवान् । सः स्यत् प्रस्त्रवदिन्द्रप्रेरितमेव जलमवासृजत् अधिक्षिप्तवान् निवारितवान् । एतया स्वपस्यया गोकुलस्थितिकरणकर्मेच्छया पृथुं विस्तीर्णं नाकमस्तभ्नात् प्रतिबद्धवान् । इन्द्रादिदेवानां मदस्तम्भं कृतवानित्यर्थः ॥

कालनित्यत्वभूतभविष्यदर्थ-
कप्रयोगक्रमिकाविर्भावतथानु-
भवाद्युपपत्तिप्रदर्शनपुरःसरो
लीलानित्यत्ववादोपसंहारः ।

(४९) किञ्च दशमस्कन्धे कात्ययन्यर्चनव्रतानन्तरं वरदानार्थमागतस्य भगवतो व्रजवरकुमारीषु वरदानवचनं गीयते - 'मयेमा रंस्यथ क्षपा' इति । अत्रेमाः क्षपा इतीदंशब्देन ताभ्यः सर्वाः क्षपाः पुरः स्थिताः कृत्वा प्रदर्शितवानिति ज्ञायते। अन्यथा ताः क्षपा इत्येव वदेत् । वदति च प्रातःसमये, तेनैतद्रात्रिसाजात्येन तासामेतस्यामेवेमा इति प्रयोगो जात्यभिप्रायेणेति न वक्तुं शक्यम् । बहुवचनानुपपत्तेश्च । न चेदंशब्दस्य भगवद्बुद्धिस्थतद्वाचकत्वेन सर्वोपपत्तिरिति वाच्यम् । कथनस्य परप्रतिपत्त्यर्थत्वेनैवं कथनेऽपि कुमारीणां तद्बोधासंभवेनैतत्कथनवैयर्थ्यापत्तेः । किञ्च भगवतः सत्यसङ्कल्पत्वेन तत्त्वस्य चाबाधितविषयत्वेनात्र तासां रात्रीणां सपद्यभावे पूर्वोक्तसत्यसङ्कल्पत्वानुपपत्तिः ॥

न'न्वेष्यामि ते गृहं सुभ्रू' 'आयास्य इति दौत्यकैः' 'ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्याम' इत्यादिषु स्थलेष्वग्रेभावि भगवदागमनं कथं तदैव वर्तत इति वक्तुं शक्यम्,

तथात्वे वा कथनवैयर्थ्यापत्तिरनुभवविरोधश्चेति, चेत्, मैवम्; सर्वस्या अपि लीलाया नित्यत्वेन पूर्वसिद्धाया एव क्रमेणाविर्भावः परमिति पूर्वमेवोक्तत्वात्, तस्यागमनस्य चाधुनाऽप्रकटितत्वादेतत्काले प्रकटितलीलामध्यपातिनां तदननुभवाद्भगवतश्च सर्वज्ञत्वेन तल्लीलाया अप्यनुभवविषयत्वात्सर्वोपपत्तेः ॥

नन्वधुना प्रकटितलीलामध्यपातिनामेवाग्रे प्रकटनीयलीलासम्बन्धित्वमवश्यं वाच्यम् । तथैवानुभवात्तेषाम्, मह्यं पूर्वमुक्तमासीदेष्यामीति तेनगत इति । अन्यथा त्वन्यत्र कथनमन्यत्र गमनमिति सत्यवाक्त्वानुपपत्तिश्च । उक्तेषु भगवदाशया स्थित्यनुपपत्तिश्चेति कथं नित्याया एव लीलायाः क्रमेणाविर्भावः परमिति संगच्छत इति चेत्; अत्रेदं प्रतिभाति- लीलानित्यत्वं न केवलं लौकिकयौक्तिकं, किन्तु 'जयति जननिवास' इत्याद्युक्तश्रुतिस्मृतिप्रमाणगम्यम् । तथा चाबाधितप्रामाण्यैरुक्तप्रमाणैः सिद्धं चेन्नानुपपत्तिः काचित् तत्र वस्तुनीत्यभ्युपेयम् । प्रमाणस्तथैव सिद्धत्वात् । किन्तु स्वबुद्धिपरिकल्पिता तत्रानुपपत्तिः । सा चैवं परिहरणीया - 'रसो वै स' इति श्रुत्या 'सर्वरस' इति श्रुत्या च भगवतः सर्वरसरूपत्वं निर्विवादम् । तथा च यत्र यदा वदत्येष्यामीति तेषां भक्तानां तत्कालीनभगवदागमनविषयकपरमार्तिलक्षणरसपोषाय भगवता तथोक्ते मद्गृहे सर्वथा समागमिष्यति प्रियस्तत्र चैवमेवं मन्मनोरथपूर्तिर्भविष्यतीति निश्चयेनामन्दानन्दरूपा रसभावविशेषाश्चातिविलक्षणास्तदा भक्तेषूत्पद्यन्ते, भगवतश्च तद्भावदर्शनजनितस्तत्समयानुरूपो भावविशेषः परमानन्दरूपोऽनुभवविषयो भवति । तथा च पूर्वोक्तश्रुत्या स्वरूपात्मकमेवेमं रसं सदैवानुभवतीति सिद्धम् । पूर्वोक्तभक्तगृहगमने च पूर्वमवधिं कृत्वा तत्समयमतिक्रम्यानतिक्रम्य वा समागते प्रियतमे ये रसात्मका भावविशेषास्ताँस्तथाभूतः सन्नुक्तन्यायेनात्मरूपानेवानुभवति । अत्र च पूर्वोक्तानामेतेषां च भेदो न शङ्कनीयः । यतः पूर्वं मह्यमेवमुक्तमासीदित्यनुसन्धान एव तथा रसोत्पत्तिर्नान्यथा । तथा च तस्य तस्य रसस्य

तादृक्त्वाद्रूपत्वाद्रसस्य च भगवद्रूपत्वाद् यत्र यो रसो यादृशो यावद्विधः स्वशास्त्रसिद्धस्तत्र तादृशस्तावद्विधः स रसो भगवानेवेति फलितम् । भगवांश्चैक एव । तथा च तत्रत्या सर्वा सामग्री तद्रसरूपैवेति सर्वमनवद्यम् । तथा च क्षपाणां तथा प्रदर्शनं तन्नित्यत्व एव घटते । अग्रिमरमणलीलाया अपि नित्यत्वे कथमेतद्व्रतफलत्वेन वरदानमुपपद्यत इति शङ्काऽप्येतेनैव निरस्ता वेदितव्या । भगवतः सर्वरसरूपत्वेनैव सर्वोपपत्तिरित्युक्तत्वात् । इयमेवोपपत्तिः, श्रीनन्दयशोदयोस्तादृशलीलाऽऽनन्दानुभवे को हेतुरिति 'नन्दः किमकरोद्ब्रह्मञ्छ्रेय एवं महोदयम् । यशोदा च महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरि'रित्यादिना राज्ञाप्रश्ने कृते 'द्रोणो वसूनां प्रवरो धरया सह भार्यया । करिष्यमाण आदेशं ब्रह्मणस्तमुवाच ह । जातयोर्नौ महादेवे भुवि विश्वेश्वरे हरौ । भक्तिः स्यात्परमा लोके ययाऽञ्जो दुर्गतिं तरेत् । अस्त्वित्युक्तः स एवेह व्रजे द्रोणो महायशाः । जज्ञे नन्द इति ख्यातो यशोदा सा धरा भवेत् । ततो भक्तिर्भगवति पुत्रीभूते जनार्दने । दम्पत्योर्नितरामासीद्गोपगोपीषु भारते'त्यादिना श्रीशुकेनोत्तरितेऽपि ज्ञेया । एवमेव श्रीदेवकीवसुदेवयोरन्येष्वप्येतादृशेष्वित्यलं विस्तरेण ॥ इति श्रुतिशतैरतिस्फुटतरैरपास्तभ्रमैर्विचारभरचातुरीसचिवसत्पुराणैरपि । स्फुरद्विहतिनित्यता सुनिरणायि गोपीपतेर्मयाऽतिनिजयत्नतः फलतु तेन सैवेह मे ॥

अनित्यत्वापत्तिपरिहारपूर्वकमाधुनिकभक्तानां लीलान्तः पातित्वसमर्थनम् ।

(५०) अथेदं विचार्यते- 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्याने' तिवाक्यादनेकजन्मसञ्चितसुकृतराशेरतिशयितभगवदनुग्रहभाजनस्य महत्तमचरणरजोऽभिषिक्तस्य कस्यचित्पुरुषविशेषस्य पूर्वोक्तन्यायेन नित्यलीलामध्यपातिभक्तभावसजातीयभावोत्पत्तौ तद्भावानुसारेणैव च तदभिलाषेण भजने क्रियमाणे तल्लीलामध्यपातित्वमस्य भवति न वेति । किमत्र युक्तम्? नेति । कुतः? यत एतस्यापि तादृशलीलारसानुभवकामनया भगवद्भजनस्य कृतत्वेनैतस्मिन्नपि तादृशीं लीलां हरिः करिष्यतीति भवता वाच्यम् । तथा चैतस्मिन् क्रियमाणाया लीलाया जन्यत्वेन न नित्यत्वं वक्तुं शक्यम् ।

तेनैतदर्थमेव क्वचित् प्रकटीभूयास्मै तादृक् सुखं दत्वा स्वस्मिन्नेव प्रवेशयति तमिति, न नित्यलीलायां तस्य प्रवेश इति चेत्, अत्र ब्रूमः - यथा गौतमीयानां मते सर्वज्ञत्वेनेश्वरस्य सर्वविषयकज्ञानस्यावश्यवाच्यत्वेन विषयाणां जन्यत्वेऽपि न तद्विषयकतज्ज्ञानस्य जन्यत्वम् । धर्मिग्राहकप्रमाणेन नित्यत्वेनैव सिद्धेः । तथा पूर्वोक्तप्रमाणैर्लीलाया अपि नित्यत्वेनैव सिद्धायास्तस्या एव तादृग्भक्तविषयत्वमात्रस्यैवात्र वाच्यत्वात्तद्विषयिकायास्तस्या अजन्यत्वात्तद्धेत्वसिद्धिः । न च तादृग्भक्तस्यैतद्विषयत्वे मानाभाव इति वाच्यम् । तस्य पूर्वमेवोक्तत्वात् । तथाहि - बृहद्वामनीयकथासन्दर्भे स्वस्तुतिसन्तुष्टभगवत्प्रदर्शितस्वरूपावलोकनसञ्जाततमनोरथे श्रुतिभिः 'कन्दर्पकोटिलावण्ये' त्यादिना निरूपिते 'दुर्लभो दुर्घटश्चैषे'त्यादिना भगवद्वरदानं निरूप्य पश्चाद्ब्रह्मवाक्यं निरूप्यते- 'उक्तकालं समासाद्य गोप्यो भूत्वा हरिं गता' इति । एतदग्रे च पठ्यते 'स्त्रियो वा पुरुषो वापि भर्तृभावेन केशवम् । हृदि कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नात्र संशय' इति । यद्यपि नगरादपि बहिः स्थितस्यात्यधमस्य कस्यचिन्महाजान्तः पुरप्रवेशकामनायामपि न तत्र प्रवेशः संभवति, प्रत्युत दण्डस्तदिच्छाज्ञानेऽपि; तथा तादृशस्यैव जीवस्य पूर्वोक्तकामनायामपि न तत्र प्रवेशः संभवति, प्रत्युत 'अयोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येव न संशय' इति वाक्यात्पात एव भवेत् । अत एव भगवता श्रुतिष्वपि 'दुर्घट' इत्युक्तम् । तथापि 'मयाऽनुमोदितः सम्यक् सत्यो भवितुमर्हती' त्युक्तया तथा भगवदङ्गीकारत एव भवतीति ज्ञायते । सर्वात्मभावेन चेत्तथा भजनं करोति, तदा भगवानप्यङ्गीकरोत्येव । अन्यथा 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति मर्यादा न स्यात् ॥ अथवा पूर्वोक्तभक्तसम्बन्धिन्या लीलाया वर्तमानाया एव यथा क्रमेणाविर्भावस्तथाऽऽधुनिकभक्तसम्बन्धिन्या अपि तस्या इति नानुपपत्तिः काचित् ॥

अत एव ऋग्वेदेऽपि पठ्यते- 'विच॑क्रमे पृथि॒वीमे॒ष ए॒तां क्षेत्रा॑य॒ विष्णु॒र्मनु॑षे द॒शस्यन् । ध्रु॒वासो॑ अस्य की॒र॒यो जनास उ॒रुक्षि॒तिं सु॒जनि॑मा चकारे॑ति । एष विष्णुः क्षेत्राय निवासार्थं मनुषे स्तुवते देवगणाय दशस्यन्

अत्र हि विष्णुमाहात्म्यमुच्यते । तत्र न हीदमेव महत्तस्य माहात्म्यं, किन्त्वितोऽधिकमप्यस्तीत्याशयेनाह-ध्रुवास इति । अस्य कीरयः स्तोतारो जनासो भक्ता ध्रुवासो नित्या एवेत्यर्तः । नित्यत्वं तु स्तोत्रेण संतुष्टेन भगवता पूर्वोक्तलीलामध्ये तेषां पातनेनेति ज्ञेयम् । अन्यथा जीवस्य स्वत एव नित्यत्वेन 'अस्य कीरयो ध्रुवास' इत्यनर्थकं भवेत् । नापि सर्वसंपत्त्या याञ्चाद्यर्थकगमनाभावरूपं कादाचित्कं ध्रुवत्वमत्र वाच्यम् । सङ्कोचे मानाभावात् । तादृशे ध्रुवपदाशक्तेश्च । तस्मादस्मदुक्त एव श्रुतेस्तात्पर्यं वेदितव्यम् । सुजनिमा शोभनानि जनिमानि नामानुकीर्तनस्मरणादीनि यस्यैतादृशो विष्णुरूरुक्षितिं विस्तीर्णनिवासां चकारेत्यर्थः ॥

युक्तिभिर्लीलानित्यत्वोपपादनम् ।

(५१) किञ्च अनित्यत्वं लीलासु वदन् वादी प्रष्टव्यः । ध्वंसप्रतियोगित्वं ह्यनित्यत्वम्, तदत्र कुतस्त्वयाऽवधारितमिति । जन्यभा[1]वत्वेनेति चेद्ब्रूयात्, तदा स वक्तव्यः, पूर्वसिद्धाया एव तस्याः क्रमेणाविर्भाव एवेति पूर्वमेवोक्तां स्वरूपासिद्धिं किं नानुसंधत्स इति । न पश्यामीति चेद् ब्रवीषि, तदा स्वाभिमतेश्वरेऽपि तथा ब्रूहि । धर्मिग्राहकप्रमाणेन स तथैव सिद्ध इति तु तुल्यम् ॥ ननु न तुल्यम् । अत्र धर्मिग्राहकमानेऽपि प्रातःकलीनलीलायाः सायङ्काले, बाल्यस्य च पौगण्डादिष्वनिरूपणात् । सत्यम् । तत्र ह्युत्तरकाले पूर्वलीलासत्त्वासत्वौदासीन्येन लीलानिरूपणं क्रियते, न तु पूर्वलीलायाः सत्वमसत्वं वाऽपि निरूप्यते । एवं च सति सन्देहे तन्निवारणपूर्वकं 'जयति जननिवासः' 'बहूनि सन्ति नामानि' बृहद्वामनीयकथा, 'ता वां वास्तूनि' 'ते ते धामानि' 'तद्विष्णोः परमं पदं' 'तद्विप्रासो' 'ध्रुवासो अस्ये' त्यादिश्रुतिस्मृतिभिरुक्तरीत्या लीलाया नित्यत्वेऽवधारिते सर्वसमाधानार्थं क्रमेणाविर्भाविताया एव लीलायाः क्रमेण तत्र निरूपणमात्रमिति तत्रापि निर्णयात् कथं न तुल्यत्वम् । न हि प्रतिपदं नित्यत्वं निरूपणीयम् । एकत्र तथा निर्णयस्यैवान्यत्राप्यवगन्तुं शक्यत्वात् । एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थोऽपरत्रापि

---

[1] भावावच्छिन्नत्वेति पाठः ।

तथोति न्यायात् । अनन्यलभ्यस्य शब्दार्थत्वात् ॥

ननु लीलायाः कर्मरूपत्वेन तस्य चाचिरावस्थायित्वनियमेन न नित्यत्वं वक्तुं शक्यमिति चेत्, हन्त !! एवं ज्ञानस्यापि त्रिक्षणावस्थायित्वनियमेनेश्वरज्ञानस्यापि न नित्यत्वं वक्तुं शक्यम् । धर्मिग्राहकप्रमाणाच्चेत् तुल्यम् ॥

सर्वदृश्यगोकुलमथुरादीनां लीलासम्बन्धित्वाभावेऽपि लीलासम्बन्धिपदार्थाभिव्यक्तिस्थानतया भक्तप्रीतिविषयतेति कथनम् ।

(५२) ननु लीलासम्बन्धिपदार्थाः सर्वैः सपद्यनुभूयमाना एव, तद्भिन्ना वा? आद्ये, तन्नित्यत्वं प्रत्यक्षबाधितम् । क्वचिच्च श्रूयमाणवैलक्षण्योपलम्भाच्च न तथा वक्तुं शक्यम् । द्वितीये त्वेतेषामपीतरपदार्थसाधारण्येन तल्लीलारसनिमग्नानामेतेष्वेवासाधारणप्रेमानुपपत्तिः । तादृग्भक्तानामेतद्दर्शनादिना तद्रसानुभवेनाह्लादविशेषस्यानुभूयमानत्वेन च न तथा वक्तुं शक्यमित्युभयतःपाशा रज्जुः । न च भिन्नत्वेऽप्यभिन्नत्वभ्रमात्प्रेमाद्युपपत्तिः । दृश्यते हि स्वप्नप्रतीतप्रमदादर्शनादिना पारमार्थिक (नर) स्खलनादिरिति वाच्यम् । एवं तादृशाह्लादोपपत्तावपि तत्र तत्र वेणुकिङ्किण्यादिश्रवणतत्सौरभविशेषानुभवप्रदीपाद्यनुभवानां पारमार्थिकानामनुपपत्तेः । न ह्यभिमानमात्रेणोक्तानमनुभवः संभवति । अन्यथा जागरितस्यापि प्रमदास्पर्शाद्यनुभवप्रसंगः । तादृशेषु भ्रमानुपपत्तिश्चेत्यादिशङ्कानिरासस्तु 'दिवीव चक्षुराततं' मितिश्रुतिव्याख्यानेनैव कृत इति दिक् ॥

प्रभासीय लीला विषयतारूपा मायिकीति प्रमाणबलेन निरूप्यते ।

(५३) ननु प्रभासीयकथायाः कथं सङ्गतिरिति चेत्, उच्यते भगवान् हि सर्वलीलायुतः प्रकटः सदा । तथा च यथा धर्मरक्षा, सद्रक्षा, देवकार्यकरणं, भूभारहरणादिकं भगवल्लीला; तथैवासुरव्यामोहनमपि लीलैव । मोहनं च माययैवेति निश्चयः । एवं च सत्यासुरमोहनार्थं या लीला सा मायिकीति मन्तव्या । तस्यां च लौकिकत्वेनासत्यत्वेन ज्ञानेन भगवत्यति लौकिकत्वज्ञानमसुराणामेव, न दैवानाम् । यतस्तदर्थमेव तत्करणम् ।

अत एव भगवताऽप्युक्तम् - 'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्। मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः। राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः । महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्यय' मिति। 'मामव्यय' मिति पदाभ्यां यः प्रकटो दृश्यते तमेवाविकृतं जानन्तो भजन्त इति गम्यते॥

अपि च भगवद्गीतास्वेव 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद् यतयो वीतरागाः । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्य' इत्युपक्रम्याक्षरस्वप्राप्त्युपायौ निरूप्य, स्वप्राप्तौ च विशेषमुक्त्वा पुनर्भगवतोच्यते-'अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे । रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके। भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते। रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे । परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तो व्यक्तात्सनातनः। यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यती' त्यादि। एतदन्ते च 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यये' -त्युक्त्वा परस्य लक्षणमुच्यते 'यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं तत' मिति। अत्र च यत्सर्वेषु भूतेषु नश्यत्स्वपि स्वयं न नश्यति तस्यैव लक्षणं 'यस्यान्तःस्थानि येन सर्वमिदं तत'मितिपदेनोक्तम् । एतल्लक्षणवत्त्वं च मृत्साभक्षणजृम्भणादिलीलानिरूपणप्रस्तावे पक्षान्तरनिरासपूर्वकं भगवतो दृश्यस्वरूपस्यैव नैसर्गिकधर्मत्वेन दशमस्कन्ध एव निरूपितम् ॥ अपि च, अत्रैव दामोदरलीलाप्रस्तावे तस्मिन्नेवोदरे दाम्नामनवच्छेदकत्वं निरूप्यते, तेन तस्योदरस्यैव ब्रह्मत्वं निरूपितं भवति। उदरस्याब्रह्मत्वे तु दामभिरनच्छेद्यत्वे देशकालापरिच्छिन्नत्वं ब्रह्मधर्मं हेतुत्वेन 'न चान्तर्न बहिर्यस्ये' त्यादि न निरूपयेत्। व्यधिकरणत्वापत्तेः। तथा च धर्मिग्राहकमानैर्विग्रहस्यैव ब्रह्मत्वं निश्चितमिति तद्विरूद्धधर्माणामसतामेव प्रदर्शनमसुरव्यामोहायेति निश्चीयते। अन्यथाऽनुपपत्तेर्बलिष्ठत्वात् ॥ उक्तं च ब्रह्माण्डपुराणे-'अमोहाय गुणा विष्णोराकारश्चिच्छरीरता। निर्दोषत्वं तारतम्यं मुक्तानामपि चोच्यते। एतद्विरूद्धं यत्सर्वं तन्मोहायेति निश्चय' इति ॥

उक्तं च ब्रह्मपुराणे-'अज्ञत्वं पारवश्यं च विधिभेदादिकं तथा । तथा प्राकृतदेहत्वं देहत्यागादिकं तथा । असुराणां विमोहाय दोषा विष्णोर्न हि क्वचि'दिति । तथा च पद्मपुराणे पाषण्डप्रवर्तनार्थं वृषभध्वजमाज्ञापयता भगवतोक्तम् - 'त्वामाराध्य तथा शम्भो ग्रहीष्यामि वरं सदे'ति । न ह्यत्राराधकत्वं भगवति संभवति । तस्य जीवधर्मत्वात् । तस्य यथा स्वस्मिन्नसत एव प्रदर्शनं लोकव्यामोहाय, तथा तस्या अपीति मन्तव्यम् ॥

युक्तिबलेन प्रभासीयलीलायां मायिकत्वप्रदर्शनम् ।

(५४) अपि च यथेन्द्रजालविद्यायां नटस्य स्वर्गगमनं, तत्र युद्धं, तेन तन्मरणं, मृतस्यात्र पातस्तत्स्त्रियाश्च सहगमनादिकं पूर्वमनुभूतमपि पश्चात्कालीनतदागमनेन प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धेन मायिकमिति निश्चीयते; तथा 'जयति जननिवास' इत्याद्युक्तस्मृतिश्रुतिभिः पूर्वपूर्वलीलाया नित्यत्वं सिद्धमित्यनन्यगत्यैवास्या लीलायाः प्रदर्शनमात्रपरत्वमित्यध्यवसेयम् । न चैतदनुरोधेन पूर्वलीलानामेव तथात्वं वक्तुंशक्यम्। तासामुक्तप्रमाणैर्नित्यत्वेनैव सिद्धत्वात्। न चोक्तदृष्टान्तन्यायेन पूर्वं तथा सिद्धमपि पश्चाद्बाध्य(ता) मिति वाच्यम्। तत्र लौकिकत्वेन प्रमाणस्य, दोषस्यापि संभवेऽपि प्रकृते दोषासंभवात् । अत्र पूर्वोक्तन्यायेन लीलानामन्योन्यं बाध्यबाधकभावाभावेन तथा वक्तुमनवसरश्चेत्यलं विस्तरेण ॥

प्रभासीयप्रसङ्गस्थसन्दिग्धवाक्यानां तात्पर्यार्थप्रदर्शनम् ।

(५५) एतेन 'यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः । नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमय'मितिभगवद्वाक्यं लीलामध्यपात्यन्तरङ्गभक्तं प्रत्युक्तमिति न वास्तवत्वं कस्याप्यर्थस्य वक्तुं शक्यमिति निरस्तं वेदितव्यम् । उक्तरीत्याऽऽसुरव्यामोहाय प्रदर्श्यमानानामर्थानामेव 'यदिद' मित्यादिना कथनात्। अन्यथा 'नश्वर'मिति नोक्तंस्यात्। 'गृह्यमाण' मित्येतावतैव सर्वप्राप्तेः। एवं सति द्विजशापेन नश्वरमिति गृह्यमाणं तथेत्यर्थः पर्यवस्यति। अत एव 'यदिदं मनसा वाचा गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः। अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमंजसे'ति भगवतो हंसस्य वचनं गीयते ॥

प्रभासीयलीलासम्बन्धियादवकुलं नित्यलीलामध्यपातियादवकुलतो भिन्नमित्युपपादनम् ।

(५६) अत्र विद्वद्भिरेवं ज्ञेयम् - आदौ निगूढाशयेन शुकदेवेन ‘भूभारराजपृतना’ इत्युपक्रम्य ‘संजह्रे स्वकुलं विभु’रित्यन्तेन मोहिका लीला सामान्यत उक्ता । अत्रास्वकुलमिति निगूढः पदच्छेदो ज्ञेयः । वास्तव्यां नैसर्गिक्यां लीलायां भुवि प्रकटतया सत्यां कथमेवं संभवतीति शङ्कानिरासाय ‘सवमूर्त्यै ’ति द्वयेनाग्रे भुवि लीलाप्राकट्यप्रयोजनाभावं ज्ञापयितुं लीलाप्राकट्यप्रयोजननिष्पत्तिकथनपूर्वकं सर्वादृश्यत्वलक्षणं पदमगादित्युक्तम् । लौकिक्या भूमेरधिष्ठानत्वमात्र उपयोगादस्वाभाविकत्वमिति तद्विलक्षणं पदमिति ज्ञापनाय स्वमित्युक्तम् । अग्रे च ‘ब्रह्मण्यानां वदान्यानां नित्यं वृद्धोपसेविनाम् । विप्रशापः कथमभूद्वृष्णीनां कृष्णचेतसा’मिति राजप्रश्नवाक्यव्याजेन नित्यलीलामध्यपातियादवस्वरूपनिरूपणेन प्राप्तशापानां तद्भिन्नत्वं ज्ञापितं व्यासेन । ‘बिभ्रद्वपुः सकलसुन्दरसंनिवेशं कर्माचरन् भुवि सुमङ्गलमाप्तकामः । आस्थाय धाम रममाण उदारकीर्तिः संहर्तुमैच्छत कुलं स्थितकृत्यशेष’ इत्युत्तरे तु स्वरूपं लीलां च भुवि प्रकटीकुर्वन् प्रयोजननिष्पत्तिं ज्ञात्वा धाम सहजं नित्यं यल्लीलास्थानं तदेवास्थाय रममाण एव स्थितकृत्यशेषः स्थितोऽग्रिमासुरव्यामोहलक्षणः कृत्यशेषो यस्य तादृशः, ‘कुलं संहर्तुमैच्छते’त्येकेन श्रीशुकैरुक्तम् । तेनास्य कुलस्य मायिकत्वं सिद्ध्यति । कृत्यसिद्धिर्यतस्तथैव भवति । भुवीति पूर्वमुक्तमेवेति तद्भिन्नमेव धाम वाच्यम् । तदुक्तमस्माभिः । अग्रेऽपि कालात्मना निसृष्टा मुनय इत्युक्तं, न तु पूर्वलीलाकर्त्रेति ॥

श्रुत्युक्तवैपरीत्येन यन्मोहाय हरिः स्वयम् । प्रदर्शयति तन्मोहगमनाय न मद्वचः ॥

क्षिपाम्यजस्रमित्युक्तेर्यतस्तन्मोहनित्यता । अतोऽनङ्गीकृतिस्तेषां युक्ता तामसिनां नृणाम् ॥

तत्सङ्गादन्यथाभूतहृदयाः सात्विका अपि । मा भवन्त्वित्ययं यन्तस्तेन तुष्टोऽस्तु मे हरिः ॥

काञ्चनीकरणे शक्तो मणिर्धातुगणस्य यः । तस्याश्मनां तथाभावाकरणेऽपि न हि क्षतिः ॥

सर्गादिलीलामध्यपातितया प्रपञ्चोऽपि नित्य इति ।

(५७) नन्वस्तु प्रपञ्चातीतत्वेन लीलानां सत्यत्वं प्रमाणसिद्धत्वान्न तु प्रपञ्चस्यापि, प्रमाणैस्तथासिद्धत्वादिति चेत् न; तस्यापि सर्गादिलीलामध्यपातित्वेन श्रीभागवतादिषु निरूपणात् । जगदप्रतीतिप्रसङ्गादित्यादिनिरूपणेनैव प्रपञ्चसत्यत्वस्यापि निरूपितत्वात्, पुनर्लिखनेनालम् । तत्वसूत्रभाष्ये श्रीभागवतविवरणादिष्वप्ययमर्थो निरूपितः पितृचरणैरिति नाधिकमत्र निरूप्यते ॥

किञ्च महोपनिषदि पठ्यते- ‘एष ह्येव शून्य एष ह्येव तुच्छ एष ह्येवाभाव एष ह्येवाव्यक्तोऽदृश्योऽचिन्त्यो निर्गुणश्चे’ति । महाकौर्म्येऽपि ‘शमूनं कुरुते विष्णुरदृश्यः सन् परः स्वयम् । तस्माच्छून्यमिति प्रोक्तस्तोदनात्तुच्छमुच्यते । नैष भावयितुं योग्यः केनचित्पुरुषोत्तमः । अतोऽभावं वदन्त्येनं नाश्यत्वान्नाश इत्यपि । सर्वेषां तदधीनत्वात्तत्तच्छब्दाभिधेयता । अन्येषां व्यवहारार्थमिष्यते व्यहर्तृभि’रिति ॥

तेन ब्रह्मणो भावरूपत्वेन प्रपञ्चस्य भावाभावरूपत्वेन कथं ब्रह्मात्मकता वक्तुं शक्येत्यपि चोद्यं निरस्तम् ॥

येषामप्यसत्त्वेन जगदभिमतं तेषामपि जगन्मध्यपातिभगवन्मूर्तितद्भजनाद्यसहिष्णुतयैव । तेषां तथात्वं तु कलौ तथा भगवदिच्छयैवेत्युक्तम् ॥

तस्मादस्माभिरेवोक्तपद्धत्या श्रुतिसिद्धया । ज्ञात्वा ब्रह्मस्वरूपं तत्प्राप्त्यै तद्भजताखिलाः ॥

येषां लौकिकमेव मानमधिकं वेदादितोऽलौकिका,
त्तत्पादानुगतस्तदर्थ इति च प्रच्छन्नबौद्धास्तु ते ।
येषां तद्विपरीततैव विदुषां केषाञ्चिदन्तर्गता
तेषामेव मुदेऽस्तु मत्कृतिरियं गोपीशसंसेविनाम् ॥

वरीवर्त्ति श्रद्धा श्रुतिषु यदि वा व्यासवचने
तदा विद्वांसोऽस्मद्विरचितमिदं मण्डनवरम् ।
यथोक्तं कण्ठे वा शुकवदथवाऽर्थं च हृदये
मुदा कृत्वाऽऽयत्तं धुनुत रिपुपक्षाभिधतमः ॥
यदागतं हृदि श्रीमद्गोपीशरतिलक्षणम् ।
शोभां तनोति तदिदं मण्डनं श्रीहरेः प्रियम् ॥
अरवण्डवरपण्डितप्रसृतचण्डपारवण्डवा-
ग्विरवण्डनसुचण्डिमा धरणिमण्डलारवण्डलः ।
नमन्नृपतिमण्डलीमुकुटताण्डवैर्मण्डितः
स पादनरवमण्डलः पितुरिहाऽस्तु मे मण्डनम् ॥
पुनरपि नमामि गोपीपतिरतिमार्गप्रवर्तकाचार्यान् ।
श्रीवल्लभाभिधानान् पितृचरणान् वाङ्मनःकायैः ॥
एतेनास्मत्कुलपतिः श्रीगोपीजनवल्लभः ।
प्रीतोऽस्त्वस्मासु तेनैव पूर्णता किमिहापरैः ॥

इति श्रीमन्निजकटाक्षपाततरणिविघटितमायावादिप्रभृतिवादितमः-
पुञ्ज-विकासितश्रीगोकुलाधीशरतिसरसिजश्रीगोकुलनाथचरणैकतान-
गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथदीक्षितविरचितं विद्वन्मण्डनं सम्पूर्णम् ॥

श्रीमद्विट्ठल दीक्षित (श्रीगुसांइजी) विरचितो रामनमी निर्णयः

श्रीकृष्णाय नमः ॥ अगस्त्यसहितायां ॥ चैत्र शुध्दा तु नवमी पुनर्वसुयुता यदि ॥ सैव मध्यान्हयोगेन महापुण्यतमा भवेत् ॥ १ ॥ रामार्चनचन्द्रिकायाम् ॥ विध्दाचेद्दक्षसंयुक्ता व्रतं तत्र कथं भवेत् ॥ विध्दानिषेधश्रवणान्नवमी चेति वाक्यतः ॥ २ ॥ अत्र निर्णयमाह ॥ नवमी चाष्टमीविध्दा त्याज्या विष्णुपरायणैः ॥ उपोषणं नवम्यां वै दशम्यामेव पारणम् ॥ ३ ॥ ननु व्रतस्य पारणांगत्वबोधक प्रमाणेनैव व्रतविध्यन्यथानुपपत्त्या चैकादशीपूर्वदिनप्राप्तेर्दशम्यामेवेति वचनवैयर्थ्यंस्यादतो नियमविधिरयम् ॥ तेन नवमीसत्वेपि दशमीक्षये विध्दैव कार्येति सिध्दम् ॥ न च निषेधवागनुरोधेन नैवं वाच्यमिति वाच्यम् ॥ दशमीवृद्धिविषयत्वात्तस्या इति चेत् । मैवम् ॥ निषेधनियमवदुक्तनियमविधिरपि वैष्णवमात्रविषयकोऽथवा साधारणजनविषयकः ॥ उपक्रमानुरोधादाद्य एवाभिमतश्चेत्तदा 'उपोषणं नवम्याम्' इतिव्यर्थम् उत्पत्तिवाक्यत्वाभावात् ॥ विध्दानिषेधविधिमारभ्याधीतत्वात् ॥ सामान्यप्राप्तावेव विशेषविधिनिषेधयोः संभवात् ॥ तथा च विध्दानिषेधे सत्युत्तरदिनकर्तव्यत्वे प्राप्ते सति यत्पुनर्नवम्युपोषणविधानं तत्रापि निश्चयवाचकाव्ययकथनेन नियमकथनपूर्वकं तेन दशम्यवृध्दावपि नवमीवृध्दौ तस्यामेवोपोषणं कार्यं नवम्यवृध्दौ तु विध्दैवोपोष्येत्यवसीयते ॥ अन्यथा दशमीपारणनियमविधिनैव नवम्युपोषणस्यापि प्राप्तेः पुनस्तदुक्तिर्व्यर्था स्यात्॥ यद्यप्येवं पारणविधेर्वैयर्थ्यमायाति तथाप्युपोषण विधेर्मुख्यत्वात्पारणाविधिवाक्यस्यामुख्यत्वेनैकादशीपूर्वदिनपरत्वं कल्प्यते ॥ इति श्रीविट्ठलदीक्षितविरचितो रामनवमी निर्णयः ॥

श्रीविट्ठलनाथजी (श्रीगुसाँईजी) कृत जन्माष्टमी निर्णय :

श्रीः ॥ १ प्रणम्य पितृपादाब्जयुगलं विगलन्मधु ॥
जन्माष्टमी काऽष्टमीति संशयान्नाशयाम्यहम् ॥ १ ॥

तत्र जन्माष्टमीव्रतनित्यत्वं जन्माष्टमीजयन्त्योर्भेदश्च माधवाचार्यादिभिः प्रपञ्चित एवास्तीति नास्माभिः प्रपञ्च्यते ॥ किन्तूपोष्या कीदृशी तिथिरिति सन्देहोनिवार्यते साच विद्धा शुद्धा चेति द्विविधा ॥

तत्र कैश्चिद्वेधविचारे जन्माष्टम्या जयन्त्याश्च रात्रिप्रधानत्वाद्रात्रिवेधः प्रशस्त इत्युक्त्वा 'अष्टमी रोहिणी युक्ता निश्यर्द्धे दृश्यते यदि । मुख्यकाल इति ख्यातस्तत्र जातो हरिः स्वयम्, इति वसिष्ठसंहितावचनमुक्तम् 'रोहिण्यामर्धरात्रे तु यदा कृष्णाष्टमी भवेत् । तस्यामभ्यर्चनं शौरेर्हन्ति पापं त्रिजन्मजम्, इति विष्णुरहस्यवचनं प्रोक्तम् । ततः 'अर्द्धरात्रादधश्चोर्ध्वं कलयाऽपि यदा भवेत् । जयन्ती नाम साप्रोक्ता सर्वपापप्रणाशिनी, इत्यादिपुराणवचनं च । 'सिंहेऽर्के रोहिणीयुक्ता भवेत्कृष्णाष्टमी यदि । रात्र्यर्द्धे पूर्वपरगा जयन्ती कलयाऽपि च, इति वराहसंहिता वचनं च । एतदग्रे चान्यान्यप्येतादृशानि वचनान्युक्तानि ॥ तत्रादिपुराणे वराहसंहितायां योगीश्वरादिवचनेषु च स्फुटं जयन्ती पदमस्तीति तदेकवाक्यतार्थमन्येषामपीदृशानां वचनानां जयन्ती व्रतपरत्वमभ्युपेयम् ॥ यत्तु 'दिवा वा यदिवा रात्रौ नास्ति चेद्रोहिणी कला । रात्रियुक्तां प्रकुर्वीत विशेषणेन्दुसंयुताम्, इति वचनं तदपि जयन्तीपरमिति ज्ञेयम् । तत्रार्द्धरात्रे रोहिण्यष्टमीयोगस्य मुख्यत्वात् । 'प्रतिवर्ष विधानेन मद्भक्तो धर्मनन्दन । नरोवा यदिवा नारी यथोक्तफलमाप्नुयात्, इतिभविष्योत्तरीय जयन्ती कल्पीयवचनात् "प्राजापत्यर्क्षसंयुक्ता श्रावणस्याऽसिताष्टमी ॥ वर्षे वर्षेतु कर्त्तव्या तुष्ट्यर्थं चक्रपाणिनः" इति स्मृत्यन्तरे जयन्तीप्रकरणीय वचनाच्च प्रतिवर्षं कार्यम् । एवं सति यस्मिन्वर्षे मुख्यो जयन्ती योगो नास्ति तस्मिन्वर्षे जन्माष्टम्यामहोरात्रमध्ये मुहूर्तमपि यदा रोहिणी योगस्तदोपवासः कार्य इति जयन्तीपरत्वादेवेन्दुसंयुतत्वमुक्तम् । तत्र जयंतीव्रते चंद्रार्घदानस्यावश्यकत्वात् ॥ 'मुहूर्तमप्यहोरात्रे यस्मिन्युक्तं तु लभ्यते । अष्टम्यां रोहिणी ऋक्षं तां सुपुण्यामुपावसेत्, इति विष्णुरहस्यवचनस्याप्ययमेवविषयः । यदा तु जन्माष्टम्यामप्यहोरात्रमध्ये रोहिणीयोगो नास्ति तदा विशिष्टाभावे निशीथव्यापिन्यष्टम्येवोपोष्या । 'एकतरसद्भावेऽपिकार्या, । नतु जयन्तीव्रतविच्छेद्रः कार्य इत्याशयो दिवावेतिवचनस्य । अतएवेन्दुसंयुतत्वमुक्तम्, तत्र चन्द्रार्घदानस्यावश्यकत्वात् । अन्यथा सऋक्षाऽपि न कर्तव्येति वचनाज्जन्माष्टम्यामृक्षयोगस्याप्रयोजकत्वात्तदावश्यकत्वज्ञापकरोहिणाकिलासत्त्वाभावं निमित्तत्वेन न वदेत् ॥ यत्तु जयन्तीव्रते यो निर्णयः स एव जन्माष्टम्यामित्युक्तं तन्न विचारक्षमम् । 'पूर्वविद्धाष्टमी या तु उदये नवमीदिने । मुहूर्तमपि संयुक्ता संपूर्णा साऽष्टमी भवेत् । कलाकाष्ठामुहूर्ताऽपि यदा कृष्णाष्टमीतिथि : । नवम्यां सैव ग्राह्या स्यात्सप्तमीसंयुता नहि, इतिपद्मपुराणवचनम् । उदयपदेन जन्माष्टम्यां सूर्योदयकाले सत्वमेव वेधः । जयन्त्यामर्धरात्रवेध एव ग्राह्यः "नच पूर्वेद्युरेव निशीथव्याप्तौ विध्यवकाशः परेद्युरेव निशीथव्याप्तौ च निषेधावकाशो दिनद्वयेऽपि तद्व्याप्तावव्याप्तौ च विरोध इत्यनियत एव स इति वाच्यम् - अवकाशस्थले कर्मकालशास्त्रेणैव निर्वाहादुभयोरानर्थक्यप्रसङ्गात । नच सामान्यविशेषभावेनोभयसार्थकत्वमिति वाच्यम् । विशेषशास्त्रेण सामान्यस्यास्य सङ्कोचे चतुर्द्धाकरणवत्कर्मकालशास्त्रस्यान्यत्र प्रवृत्तिप्रतिरोधप्रसङ्गात् । यच्छब्दबोधितसामान्यताबाधप्रसङ्गाच्च ॥ असङ्कोचे विरोधस्यापरिहाराच्च । ननु विरोधस्थले कर्मोपक्रमकालशास्त्रं सङ्कल्पकाले सत्त्वमाधिकव्याप्तिं च यथासंभवमादाय निबन्धकारैर्विधिनिषेधव्यवस्थापनेन सोऽपि परिह्रियत इति चेत् न । पूजाप्राधान्यवादेअर्द्धरात्रस्थपूजायाः प्रातरूपक्रमाभावेन कर्मकालशास्त्रस्य च क्वचित्तुल्यत्वेन क्वचिदुदासीनत्वेन विरोधतादवस्थ्यादुपवासप्राधान्यवादेऽपि यदा प्रथमदिनेऽ धिक निशीथव्याप्तेर्द्वितीयदिने संकल्पकालाल्पनिशीथव्याप्तिस्तदानीं विरोध तादवस्थ्यात्पक्षद्वयेऽप्यव्यवस्थितविकल्पदोषप्रसक्तेः" स परिह्रियते 'यो यस्य विहितः कालकर्मणस्तदुपक्रमे ।

तिथिर्याऽभिमता सा तु कार्या नोपक्रमोज्झिता, अतएवस्कन्दपुराणे ‘उदयेचाष्टमी किञ्चिन्नवमी सकला यदि, इत्युक्तम् यत्तु(च्च) विष्णुधर्मोत्तरवचनम् “रोहिणीसहिताकृष्णा मासि भाद्र पदेऽष्टमी । सप्तम्यामर्धरात्राध : कलयाऽपि यदा भवेत् । तत्र जातो जगन्नाथः कौस्तुभो हरिरीश्वरः, इति तत्तु ‘अविध्दायां तु सक्षार्यां जातो देवकिनन्दनः, इति ब्रह्मवैवर्त्तवचनविरोधाद्रोहिण्यष्टमीयोगमात्रपरमिति जयन्ती व्रतपरमेव ॥ भगवदाविर्भावे जाते मुहूर्तमात्रानंतरं योगमायाया नवम्यामाविर्भावादेवं सति सप्तमीवेधासंभवात्पूर्ववचनेन पूर्वविद्धायामाविर्भावो न वक्तुं शक्यः । *नवम्यां योगमायाया जन्माष्टम्यां हरेरतः । नवमी सहितोपोष्या रोहिणीबुधसंयुता ॥ तस्मात् सूर्योदयकाले सप्तमी भवति तदुपरि वर्त्तमानाऽष्टमी या सा विध्दा । सूर्योदयमारभ्य प्रवर्त्तमाना या सा शुद्धा। तत्रापि विद्धाऽधिका शुद्धाऽधिका चेति द्वै विध्यम् । तत्रापि निशीथव्यापित्वाव्यापित्वाभ्यां प्रत्येकं द्वैविध्यम् ॥

तत्र शुद्धाधिकायां पूर्वदिन एवोपवासो बाधकाभावात् । विद्धाधिकायां तु परदिन एव सः । विद्धायामुपवासनिषेधश्रवणात । तथा हि ब्रह्मवैवर्त्ते “वर्जनीया प्रयत्नेन सप्तमीसंयुताष्टमी । सऋक्षापि न कर्त्तव्या सप्तमी संयुताष्टमी । अविद्धायां तु सर्क्षायां जातो देवकिनन्दनः,, इति । ननु “कार्या विद्धापि सप्तम्यां रोहिणीसहिताष्टमी । तत्रोपवासं कुर्वीत तिथिभान्ते च पारणम् ,, इति पद्मपुराणवचनान्नैवं निर्णय उचित इति चेत् मैवम् । “ जयन्त्यां पूर्वविद्धायामुपवास समाचरेत् । तिथ्यन्ते चोत्सवान्ते वा व्रती कुर्वीत पारणम् ,, इति गारूडवचनाज्जयन्तीव्रतविषयत्वादेतादृशानां वचनानाम् ‘सऋक्षापि न कर्त्तव्या, इति वचनाज्जन्माष्टमीव्रते रोहिणीयोगस्याप्रयोजकत्वात् । तेषु सर्वेषु वचनेषु रोहिणीयोगस्य श्रूयमाणत्त्वात् । जयन्त्याश्च श्रावणे वा नभस्ये वा रोहिणीसहिताष्टम्यात्मकत्वात् । तदुक्तम् वसिष्ठसहितायाम् ‘श्रावणे वा नभस्ये वा रोहिणी सहिताऽष्टमी । यदा कृष्णा नरैर्लब्धा सा जयन्तीति कीर्तिता, ।

---

* पाठ क्वचिन्नास्ति ।

विष्णुधर्मोत्तरेच ‘रोहिणी च यदा कृष्णे पक्षेऽष्टम्यां द्विजोत्तम । जयन्ती नाम सा प्रोक्ता सर्वपापहरा तिथिः, । ननु यदा दिनद्वयेऽपि निशीथयोगोऽष्टम्यास्तद्विषयकानि सप्तमीविध्दानिषेधवचनानीति चेत् मैवम् । “पूर्वविध्दाष्टमी या तु उदये नवमीदिने । मुहूर्त्तमपि संयुक्ता संपूर्णा साऽष्टमी भवेत् । कला काष्ठा मुहूर्त्तापि यदा कृष्णाष्टमी तिथिः। नवम्यां सैव ग्राह्या स्यात् सप्तमीसंयुता न हि ,, इति पद्मपुराणवचनविरोधात् । एतनैव ‘नक्तादिव्रतयोगेषु रात्रियोगो विशिष्यते, इति वचनं जन्माष्टम्यतिरिक्तव्रतपरमिति ज्ञेयम् उक्तवचनविरोधात् ॥ यत्तु “जन्माष्टमी जयन्ती च शिवरात्रिस्तथैव च । पूर्वविध्दैव कर्त्तव्या तिथिभान्ते च पारणम् ,, इति भृगुवचनम् । तस्यायमर्थः । ‘श्रावणे वा नभस्ये वा नभस्ये वा’ इति वाक्यान्मासद्वये ऽपि जयन्ती व्रतं संभवति – तत्र पूर्वविध्दायामेवाष्टम्यां रोहिणी यदा भवति न परदिने तदा “सप्तमीसंयुताष्टम्यां भूत्वा ऋक्षं द्विजोतम । प्राजापत्यं द्वितीये ऽन्हि मुहूर्त्तार्द्धं भवेद्यदि । तदाष्टयामिकं ज्ञेयं प्रोक्तं व्यासादिभिः पुरा,, इति स्कन्दपुराणवचनात् ‘पूर्वविध्दाष्टमी या तु उदये नवमीदिने । मुहूर्त्तमपि संयुक्ता संपूर्णा साऽष्टमी भवेत् ’ इति पद्मपुराणवचनाच्च परदिने ऽप्यातिदेशिको जयन्तीयोगो (ऽप्य) स्तीति जन्माष्टमीवज्जयन्त्यपि परदिन एव कार्येति भ्रमः स्यात्तन्निवृत्त्यर्थमाह । जन्माष्टमीत्यादि । चो ऽप्यर्थे । यथा श्रावणे पूर्वविध्दैव जयन्ती कार्य्यैवमेव जन्माष्टम्यां या जयन्ती सा (ऽपि) पूर्वाविद्धैव कार्येति । यदा रोहिणीति पाठस्तदा जन्माष्टम्यां या रोहिणी जयन्तीति यावत सा तथेत्यर्थः ।

जन्माष्टमीप्रकरणस्थत्वादेतयोर्वचनयोर्न जयन्ती परत्वं वक्तुं शक्यम् । जयन्त्यां रोहिणीयोगस्य प्राधान्यात्तस्या मुख्यतया निर्देशः कृतः । “ पूर्वविद्धाष्टमी या तु उदये नवमीदिने । मुहूर्तमपि संयुक्ता संपूर्णा साऽष्टमी भवेत्,, इति[१] वाक्यात्पूर्ववेधाभावे नवम्यामुदय * समयेऽष्टमी सद्भावेऽपि न सा ग्राह्या । किन्तु पूर्वैव । त्यागहेतोर्वेधस्याभावात् ॥

---

१. इत्यादि * येऽष्टमी

तदेवं सप्तमीवेधरहिता जन्माष्टमी निशीथयोगे तदयोगे च नक्षत्रयोगे तदयोगेऽपि सदा कार्या । एतावान् परं विशेषो वेधरहितायामेव चेन्नक्षत्रयोगो निशीथे बुधस्य सोमस्य वा वारश्च भवति तदा तत्प्रयुक्तः फलविशेषो भवति । तदुक्तम् स्कन्दपुराणे ‘‘उदये चाष्टमी किञ्चित् नवमी सकला यदि । भवेत्तु बुधसंयुक्ता प्राजापत्यर्क्षसंयुता । अपि वर्षशतेनापि लभ्यते वाऽथ वा न वा,, । पद्मपुराणेऽपि ‘‘ प्रेतयोनिगतानां तु प्रेतत्वं नाशितं नरैः । यैः कृता श्रावणेमासि अष्टमी रोहिणीयुता । किं पुनर्बुधवारेण सोमेनापि विशेषत : । किं पुनर्नवमीयुक्ता कुलकोट्यास्तु मुक्तिदा,, इति ॥ ‘‘पूर्वविद्धाष्टमी या तु उदये नवमीदिने,, इति वाक्यात्पूर्वविद्धायाः परदिने मुहूर्त्तमपि सत्व एव पूर्वविद्धायास्त्यागो न त्वसत्वेऽपीति । केचित्तु ‘‘जन्माष्टमीं पूर्वाविद्धां स (ऋक्षां) क्षीं च सकलामपि । विहाय नवमी शुद्धामुपोष्य व्रतमाचरेत्,, इति व्यासवचनात्पूर्वविद्धायाः क्षये (तु) शुध्दैव नवम्युपोष्या वचनबलात् । एकादश्यादशमीवेधे शुद्धद्वादशीवदिति वदन्ति । तत्र यद्येतद्वचनं समूलकं तदा तथैव । नोचेत्पूर्वोक्तरीतिरेवानुसर्त्तव्या ॥ इत्थं श्रीगोकुलाधीशप्रादुर्भावदिनव्रतम् । अस्माभिर्निरणाय्येतत् पदाम्भोज प्रसादतः ॥ इति श्रीविट्ठलदीक्षित विरचितो जन्माष्टमीनिर्णयः ।

=======

वंशावली-मधुसूदनभट्टकृता ।

१. गढायां पूर्वमवसन् विठ्ठलेश्वरदीक्षिताः । तेऽपि प्रयागमाजग्मुस्तत्रोपद्रवसंभवे ॥
यमुनातीरमाश्रित्य तत्र वासं प्रचक्रिरे । श्रीकृष्णसेवानिरताः सोमयागविधायिनः ॥
बहून्संवत्सरांस्तत्र न्यवसन्परया मुदा ॥ अथ तेषां व्रजे वासं कर्तुमिच्छाभवत् किल ।
गोवर्धनो गिरिर्यत्र श्रीमद्वृन्दावनं तथा । मथुरापि हरिर्यत्र नित्यं संनिहितो विभुः ।
तत आगत्य मथुरां कुटुम्बसहिता इह । कंचित् कालं मुदावात्सुर्यमुनाहरिसेविनः ॥

मधुरानगरे विलोक्य वासं यवनाद्रिप्रसरेण भूरिबाधम् ।
अथ विट्ठलदीक्षिता विविक्तं स्थलमात्मस्थितये व्यचारयंस्ते ॥ १ ॥
कदाचिद्भूमहेन्द्रेण परमात्मविनिर्णये । पृष्टास्तदीयसन्देहानपाकुर्वन् सदुक्तिभिः ॥ २ ॥
प्रसन्नेनाथ तेनोक्ताः किमपि प्रार्थ्यतामितः । तस्याग्रहमथालोक्य हृदि सम्यग्विचार्य च ॥ ३ ॥
आत्मनः सुखवासार्थ महावनसमीपतः । यमुनातीरमाश्रित्य स्थलं रम्यमयाचिषुः ॥ ४ ॥
अथ स्वाधिकृतैर्भूमेः पत्रं संलेख्य भूपतिः । स्वनाममुद्रासहितं दीक्षितेभ्यस्तदार्पयत् ॥ ५ ॥
ततो मौहूर्तिकादिष्टे मुहूर्ते विधिपूर्वकम् । ग्रामं गोकुलनामानं स्थले तत्र न्यवासयन् ॥ ६ ॥
अब्देऽष्टनेत्राङ्गीमहीप्रमाणे (१६२८) तपस्यमासस्य तमिस्त्रपक्षे ।
दिने ७ दिनेशस्य शुभे मुहूर्ते श्रीगोकुलग्रामनिवास आसीत् ॥ ७ ॥
वृत्तान्तमिममाकर्ण्य सजातीया द्विजोत्तमाः । कुटुम्बसहितास्तत्र वासार्थं समुपागमन् ॥ ८ ॥
ब्राह्मणः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च बहवस्ततः । स्वं स्वं कुटुम्बमादाय निवासोत्काः समाययुः ॥९॥
समागतेभ्यः सर्वेभ्यः निवासाय यथायथम् । स्थाननि दापयामासुर्विट्ठलेश्वरदीक्षिताः ॥ १० ॥

(वंशावली-मधुसूदनभट्टकृता)

स. १७१७

अथ श्रीविठ्ठलेश्वरस्य जन्मपत्रिका ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

वर्षे नेत्राश्वभूतद्विजपतिगणिते पौषकृष्णे नवम्यां,
हस्तर्क्षे तैतिलेऽहन्यधिकृतभृगुजे शोभने गोविलग्ने ।
रंध्रस्थेऽर्के सचाद्रे कविकुजशनिषु द्यू नगेष्वात्मजस्थे,
सोमे जीवे धनस्थे तमसि
सहजगे विठ्ठलः प्रादुरासीत् ॥ १ ॥
शुक्रारार्किषु सप्तमेषु धनगे जीवे च कर्के तम-
स्यर्के धन्विनि चांद्रिणा सह सह स्याशुक्लपक्षे वृषे ॥
अब्दे नेत्रमुनीषु चंद्र गणिते हस्ते नवम्यां भृगौ,
विश्वोध्दारकृते स्फुटोऽभवदिह श्रीविठ्ठलेशो हरिः ॥ २ ॥

संवत् १५७२ शके १४३७ पौषकृष्णे ९ शुक्रे हस्तनक्षत्रे शोभनयोगे तैतिलकरणे एवं पंचांगे - श्रीसूर्योदयात् गतघ. २१ पलानि २५ वृषलग्ने श्री ७ श्रीविठ्ठलनाथ (जी) प्राकट्यम् । स्थितिः - वर्षा ० ७० दिना ० २८ (पर्यंतम्) सं. १६४२ माघकृष्णे ७ दिने अंतर्धानम् ॥

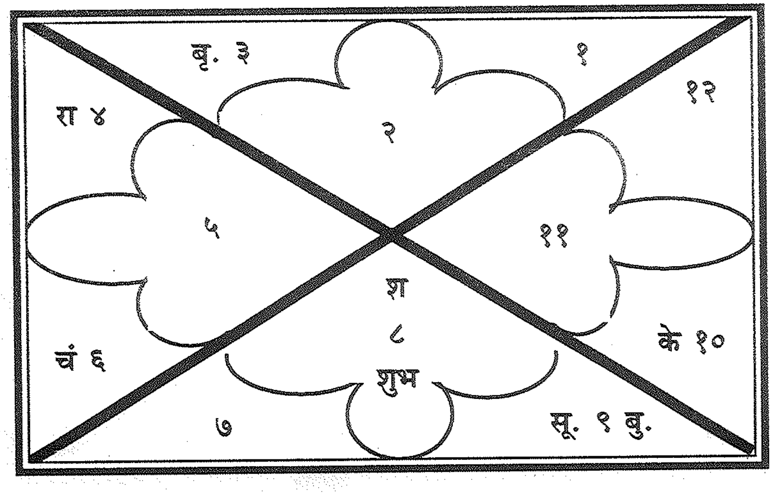

सौजन्य

१. श्री वल्लभपीठ पाठशाला (मुलुन्ड)
२. गो. वा. प. भ. मंगुभाई द्दत्ताणी परिवार (कांदीवली)
३. गो. वा. प. भ. जडावबेन करमचंद शेठ परिवार
४. गो. वा. प. भ. पार्वतीबेन विसनदास वालेचा परिवार (वेणुगीतवाले)

५. प. भ. सौ. रंजनबेन मनसुखलाल महेता परिवार
६. प. भ. गं. स्व. कृष्णाबेन करसनदास वेद परिवार
७. प. भ. गं. स्व. वीरमतीबेन द्वारकादास आशर (घाटकोपर)
८. प. भ. सौ. बुलकाबाई रेखचंद बागडी
९. श्री गुजरात महीला समाज (डोम्बीवली)
१०. प. भ. पारेख परिवार (मुलुन्ड)
११. प. भ. ठक्कर परिवार (मुंबई)
१२. प. भ. सौ. नयनाबेन मजेठीया (माटुंगा)

प्रकाशक सहयोगी

१. प. भ. गिरधरगोपाल नीमा परिवार
२. प. भ. मनसुखलाल पुरूषोत्तमदास गीरधरदास संघवी (माटुंगा)
३. प. भ. सौ. पन्नादेवी भागीरथदास बागड़ी (कलकत्ता)
४. श्री मुलुन्ड खडायता समाज, (मुलुन्ड)
५. प. भ. अमृतलाल डुंगरदास शाह (मालाड)
६. प. भ. अमृतलाल शीवलाल शाह (तारदेव)
७. प. भ. रमणभाई विठ्ठलदास शाह
८. प. भ. नरेन्द्रभाई लक्ष्मीदास पालेजा
९ प. भ. किरणभाई मुकुंदभाई शाह
१०. प. भ. श्यामभाई मदनलाल कोठारी
११. प. भ. विरेन्द्रभाई अमृतलाल शाह
१२. प. भ. सौ. मधुबेन रमणलाल शाह
१३. प. भ. सौ. इन्दीराबेन नवीनचंद्र शाह
१४. प. भ. सौ. पद्‌माबेन पंजाबी
१५. प. भ. नीमुबेन प्रध्युमनभाई देसाई (दील्हीवाले)
१६. प. भ. सौ. लताबेन रमेशभाई शेठ
१७. गो. वा. प. भ. नानुभाई कामदार परिवार
१८. प. भ. मणीलाल शीवलाल शाह (तारदेव)
१९. प. भ. गं. स्व. प्रभाबेन चिमनलाल शाह
२०. प. भ. सौ. हीराबेन मनुभाई कामदार
२१. प. भ. सौ. चंद्रीकाबेन हरिश्चंद्र सांकलचंदभाई शाह
२२. गो. वा. प. भ. काशीबेन झीणाभाई पारेख
२३. प. भ. गं. स्व. हीराबेन रतीलाल बटाटावाला
२४. प. भ. सौ. लाभुबेन नरोत्तमभाई सेलारका
२५. प. भ. सौ. इन्दीराबेन चंद्रकांत मोदी
२६. प. भ. गं. स्व. विलासबेन इजतलाल मोदी
२७. प. भ. सौ. सरलाबेन कांतीलाल शाह
२८. प. भ. सौ. भावनाबेन अडवाणी
२९. प. भ. सौ. मंजुलाबेन जीतेंद्र परीख
३०. प. भ. गं. स्व. वनीताबेन कांतीलाल मांडवीया
३१. प. भ. गं. स्व. जसुबेन पारेख
३२. प. भ. सौ. वीणाबेन, मालतीबेन, किशोरीबेन पारेख
३३. प. भ. जीतुभाई नटवरलाल शाह
३४. प. भ. रमेशभाई कांतीलाल शाह (घाटकोपर)
३५. प. भ. प्रभुदासभाई एम. शेठ (बम्बई)
३६. प. भ. ग. स्व. कांताबेन प्रेमजीभाई ठक्कर
३७. प. भ. जमनादास टोकरशी उदेशी

शुध्दिपत्रम्

पृष्ठांक	श्लोक	अशुध्द	शुध्द
८	२	करिष्यत्	करिष्यन्
८	६	भक्तियोग:प्रति	भक्तियोगप्रति
९	१५	सीधु:	सीधु
९	२१	चेष्टित:	वेष्टित:
१०	३२	भूमि भाग्यं	भूमिभाग्यं
११	२	फरहिता	फलरहिता
१२	५	वचा:	वच:
१४	२	सिंधुचया	सिंधुचयाय
१४	३	जाता	जाता:
१५	१	यदवधि	इयदवधि
२०	८	दाह्वानासरले	दाह्वनसरले
२१	६	मस्मास्वतो	मस्मान्स्वतो
२६	५	प्रेमवल्लभम्	प्रेमवल्लभ्यम्
२६	५	पद्माकम्	पद्मांकम्
२८	२१	शक्यां	शक्या
२८	३०	डतिसर्ग	निसर्ग
२८	३५	स्वांत	स्वांत:
३५	शीर्षक	व्रजचर्या	व्रतचर्या
३५	२	मधुपकल	मधुपकुल
३५	३	विलसिललिते	विलसललिते
३५	४	विरहविरहा	विहरविरहा
३५	५	पांगसर	पांगशर
३५	५	विलसति	विलसतु
३६	७	निटिलम्	निखिलम्
३६	८	प्रकटच	प्रकटचन्
३६	८	जयसित्दत	जयसिद्दत
३६	९	विध्दद्विरद	विद्युदुदयत्
३७	२	मिषत्	मिषात्
४२	अध. ४ पंक्ति	प्रचरप्रेम	प्रचुरप्रेम
४४	इतिश्री	स्वप्नप्रदर्शनं	स्वप्नदर्शनं
४७	१	रत्युत्कृष्टा	रत्युत्कृष्टै:
५१	११	अंगिकृतश्च	अंगिकृतिश्च
५१	११	नित्यं	नित्या
५६	१६	त्वद्वाचोऽली	तद्वाचो ली
६१	३	पुनर्यथा	पुनरथा
६१	६	न पूर्णस्य	सुपूर्णस्य
६३	१	वा दम्भा	वादम्भा
६३	५	मति	मति:
६४	९	कापि कापि	कापि क्वापि
६४	१३	राधावाधा	राधे बाधा
६५	१६	राधिकानाथ	राधिकानाथ:
६६	७	पायितो	पायिता
७४	१५	संयुता	संयुत
७४	१६	तादृशस्त्वं	तादृशांस्त्वं
७४	२०	उपक्षयैव	उपेक्षयैव
७४	२१	दौषाश्रयत्वं	दोषाश्रयत्वं
७५	५	अस्यात्प्रभु	अस्मत्प्रभु
७७	१९	गोपीगुंजा	गोपिगुंजा
७८	२५	वा नग	वानंग
८०	२२	पिपासिता	प्रियासिता
८०	२६	ज्ञानैकवित्ता:	ज्ञानैकनिष्ठा:
८८	२१ पंक्ति	भ्रमवत्से	भ्रमवत्से
९४	५ पंक्ति	पूंर्व	पूर्वं
९७	अध. २ पंक्ति	मोक्षायिष्यामि	मोक्षयिष्यामि
१०५	२	द्रुजवनेषु	द्रुजवनेषु
१२४	२०५	थिखरिखणी	शिखरिणी
१४६	२२१	औपच्छंदसिक	औपच्छंदसिक
१७९	अध. ५ पंक्ति	धमोणां	धर्माणां
१७९	अध. २ पंक्ति	सर्वेपाम्	सर्वेषां
१७९	अध. १ पंक्ति	धमोणां	धर्माणां
१८०	शीर्षक	श्रीसर्वोत्तमस्तोत्र	भक्तिहेतुनिर्णय:
१८१	शीर्षक	श्रीसर्वोत्तमस्तोत्र	भक्तिहेतुनिर्णय:
२०४	२०	भूरैश्वर्वं	भूरैश्वर्यं
२०५	३०	उत्सिक्र	उत्सिक्त
२०५	३४	तरयाप्यर्थो	तस्याप्यर्थो